महाराजा रणजीत सिंह

प्रो. सीताराम कोहली

रिटायर्ड प्रिंसपल
गवर्नमेंट कोलेज, रोहतक

दूसरा संस्करण
1956

हिंदुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रकाशकीय

सिख इतिहास के विशेषज्ञ विद्वान् श्री सीताराम कोहली को पंजाब यूनिवर्सिटी ने महाराजा रणजीतसिंह की सरकार के रेकार्डों को ठीक करने के लिए १९१५ ई० में नियुक्त किया था। चार वर्षों के परिश्रम से श्री कोहली ने इस सामग्री को क्रमबद्ध किया और प्रत्येक विभाग के संपूर्ण पत्रों की सूची, तिथि तथा क्रम के अनुसार, टिप्पणी सहित तैयार की, जिसे पंजाब सरकार ने 'खालसा दरबार रेकार्ड्स' नाम से दो जिल्दों में प्रकाशित किया। इन्हीं खोजों में श्री कोहली को रणजीत सिंह के संबंध में बहुत सी नवीन सामग्री मिली, जिनका उपयोग कर आपने उर्दू में 'महाराजा रणजीत सिंह' पुस्तक लिखी जो हिंदुस्तानी एकेडेमी से १९३३ ई० में प्रकाशित हुई। १९३८ ई० में इस पुस्तक का एकेडेमी ने हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया। प्रस्तुत ग्रंथ उसी का परिवर्तित और परिवर्द्धित संस्करण है। इस संस्करण को विद्वान् लेखक ने अब तक की खोजों का पूरा उपयोग कर अत्यंत उपादेय बना दिया है। आशा है हिंदी संसार इसका स्वागत करेगा।

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
फरवरी १९५६

धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

प्राक्कथन

किसी पुस्तक का प्राक्कथन बहुधा वह व्यक्ति लिखा करता है, जो उस पुस्तक में वर्णित विषय की लेखक से अधिक जानकारी रखता हो, परन्तु सिक्ख इतिहास के बारे में मैं प्रिंसिपल कोहली से अधिक विद्वान् होने का दावा नहीं कर सकता। इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने में मेरा प्रयोजन केवल यह है कि मेरे पुराने मित्र की आज्ञा का उल्लंघन न हो।

यह पुस्तक प्रिंसिपल सीताराम कोहली के आयु-पर्यन्त अनुसन्धान-कार्य का परिणाम है। यह कार्य बड़ी ही चातुरी, परिश्रम और प्रेम के साथ किया गया है। लेखक ने अनेकों दफ्तरों से छाँटकर महाराजा रणजीतसिंह के राज्यकाल के वृत्तान्त ढूँढ़े हैं। पुस्तक में केवल उस समय की राजनैतिक घटनाओं का वर्णन ही नहीं किया गया है, अपितु सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अवस्था पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों के मन पर महाराजा रणजीतसिंह की राज्य-सम्बन्धी सूझ, देश-प्रेम, राजनीति, वीरता तथा विशाल हृदयता का एक सुन्दर चित्र अंकित हो जाता है। विदेशी इतिहासकारों के लेखन में जो न्यूनताएँ रह गई थीं प्रस्तुत पुस्तक में उनका संशोधन भली-भाँति किया गया है। साथ ही यह भी सिद्ध किया गया है कि महाराजा अपने समय का एक महान् व्यक्ति था।

इच्छानुसार घटनाओं को दिखलाकर प्रत्येक लेखक उनसे अपनी रुचि और सूझ के अनुसार ही परिणाम निकाला करता है। प्रिंसिपल सीताराम जी पंजाबी होने के कारण अपने देश के स्वतंत्र राज्य को बड़े प्यार तथा आदर की दृष्टि से देखते हैं। उन्होंने यह बतलाया है कि महाराजा रणजीतसिंह प्रथम शासक था, जिसने इस देश में राज्य को ऐहिक नीवों पर स्थापित करने का यत्न किया और कर्मचारियों के चुनने में केवल योग्यता को मुख्य रक्खा। महाराजा की तीव्र दृष्टि के सम्मुख जो भी योग्य हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, हिन्दुस्तानी अथवा योरुपीय पुरुष आया, उसे उसने अपनी सरकार की सेवा में ले लिया, महाराजा का इसमें प्रमुख उद्देश्य यह था कि देश का प्रबंध सुन्दर और सुचारु रूप से हो। ऐसी विशाल हृदयता उस समय एक दुर्लभ वस्तु थी, जिस पर लेखक ने हर पहलू से विचार किया है।

सारांश यह कि लेखक ने यह खोजपूर्ण पुस्तक लिखकर ऐतिहासिक साहित्य में एक स्तुत्य वृद्धि की है। मुझे पूर्ण आशा है कि पाठक इस यत्न का आदर करते हुए लेखक को प्रोत्साहित करेंगे।

खालसा कालिज,
श्री अमृतसर
१२—४—५१

जोधसिंह

भूमिका

भारतवर्ष के इतिहास-प्रसिद्ध सम्मानित व्यक्तियों में रणजीतसिंह का विशेष स्थान है। जिस महत्वपूर्ण, कठिन किन्तु शुभ कार्य को पूरा करने का उन्होंने बीड़ा उठाया और जिसे अपने जीवन काल में ही पूर्ण भी करके दिखाया उसके लिए प्रत्येक पंजाबी के हृदय में भारत के इस सपूत के लिए विशेश आदर तथा सम्मान है। रणजीतसिंह के उत्थान के समय, अर्थात् अठारहवीं शताब्दी की अन्तिम चौथाई में हमारे देश में कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता नहीं थी, जिसका प्रभुत्व सभी मानते हों। दिल्ली-सम्राट् की प्रतिष्ठा वर्षों से समाप्त हो चुकी थी और देश विभिन्न स्वाधीन रजवाड़ों में बँट चुका था। विंध्याचल के निचले भाग में मराठे, निज़ाम हैदराबाद और सुल्तान हैदर अली, तीन बड़ी शक्तियाँ मानी जाती थीं। कर्नाटक देश में अंग्रेज़ अपने पाँव पसार रहे थे। विन्ध्याचल के ऊपरवाले भागों में भी लगभग यही स्थिति थी। अधिकांश भाग मराठा सरदारों के अधीन था। राजस्थान के रजवाड़े भी इन्हीं की कृपादृष्टि पाने के इच्छुक थे। बंगाल तथा बिहार में अंग्रेजों का प्रभुत्व था ही, अवध का नवाब भी इनका मुँह ताकता रहता था।

यमुना से लेकर सिन्धु नदी तक अर्थात् सिंध तथा पंजाब का सीमित क्षेत्र पच्चीस-तीस छोटी-छोटी रियासतों में बँट रहा था। इनमें से प्रत्येक स्वाधीन तथा स्वार्थनिष्ठ थी। इनके व्यक्तिगत साधन इतनी मात्रा में अथवा इस योग्य न थे कि वे अकेले ही किसी आक्रमणकारी का प्रतिकार कर सकते। देश के दुर्भाग्य से उनमें राष्ट्रीय संगठन का भाव न था कि वे किसी समय एकता के सूत्र में बँधकर कार्य कर पाते। सत्य तो यह है कि हमारी देशभक्ति का केन्द्र सदैव ही संकीर्ण रहा है। ग्रामवासियों की देशभक्ति अपने गाँव तक तथा नगरवालों की अपने नगर तक ही सीमित रही है। कई अवस्थाओं में तो यह केन्द्र इससे भी अधिक संकीर्ण हो चुका था और अपनी जाति तथा उपजाति तक ही सीमित था। ये बातें इस देश में एक विशाल राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना करने में बहुत बाधक सिद्ध हुई थीं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खालसा ने पंजाब में एकता के नियमों पर एक राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया और यह प्रारम्भ में कुछ सफल भी रहा, किन्तु शीघ्र ही स्वार्थी प्रवृत्तियाँ मुखर हो उठीं, और प्रत्येक मिस्लदार अपने-अपने स्वार्थ में लग गया।

रणजीतसिंह को शीघ्र ही इन बातों का अनुभव हुआ। विधाता ने उसे उच्चकोटि की बुद्धि दी थी और साथ ही उसके अन्दर साहस, वीरता तथा युद्ध-कौशल पर्याप्त मात्रा में था। उसने देखा कि अंग्रेज कलकत्ते से चलकर यमुना के तट तक आ पहुँचे हैं और दूसरी ओर से काबुल-नरेश शाहजमान ने पंजाब पर अपना आधिपत्य फिर से स्थापित करने के लिए हाथ-पाँव मारना शुरू कर दिया है। उसने सोचा कहीं ऐसा न हो कि अपनी जन्मभूमि को स्वतंत्र करवाने का शुभ कार्य जो कि खालसा ने आरम्भ कर रखा था, रुक जाए और हमारी आठ सौ वर्ष की पुरानी पराधीनता चिरस्थायी हो जाए। अतएव वह इस बात पर कटिबद्ध हो गया कि जिस प्रकार भी हो, इन दुर्बल छोटे-छोटे राज्यों को समाप्त करके पंजाब में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय सत्ता स्थापित कर दी जाए, जिससे कोई भी विदेशी आक्रमणकारी इस ओर आँख न उठा सके।

अठारह वर्ष की अल्पायु में ही इस होनहार पंजाबी सपूत ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया और उसे पूर्ण भी किया। यह असाध्य किन्तु कठिन कार्य उसने किस प्रकार पूरा किया, इसका पूरा वर्णन पाठकों को इस पुस्तक में मिलेगा।

महाराजा की जीवन सम्बन्धी-घटनाओं को एकत्र करने के लिए हमें अधिक प्रयास नहीं करना पड़ा। उसके शासन-काल के सभी कार्यालयों के पत्र प्रमाण अभी तक विद्यमान हैं। इनके अध्ययन से महाराजा की जीवन सम्बन्धी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना की पुष्टि हो सकती है। इस प्रसंग में यह उल्लेख कर देना संभवतः अनुपयुक्त न होगा कि महाराजा रणजीतसिंह के स्थापित किये हुए पंजाब राज्य की समाप्ति के सत्तर वर्ष बाद इन लेख प्रमाणों को पहली बार खोलकर पढ़ने का सम्मान पंजाब-सरकार ने सन् १६१५ में मुझे प्रदान किया था। पाँच वर्ष तक अनवरत परिश्रम कर के मैंने इसकी सटीक सूची तैयार की जिसे सरकार ने दो भागों में प्रकाशित करके लोगों के अध्ययन के लिए सुलभ बनाया। इन लेख-प्रमाणों द्वारा प्राप्त महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी बातों को मैंने इस पुस्तक में अंकित किया है, जिससे लोगों को महाराजा के जीवन की आश्चर्यजनक घटनाओं की जानकारी प्राप्त हो जाये।

महाराजा रणजीतसिंह के जीवन पर अंग्रेजी भाषा में पहले-पहल प्रिंसिप, कप्तान मरे, मक्ग्रेगर और कनिंघम ने सन् १८३४ से १८५१ ई० के बीच अपनी पुस्तकें प्रकाशित की थीं। तदुपरांत सर लैपल ग्रिफन और सैयद मुहम्मदलतीफ ने इन्हीं के आधार पर अपनी पुस्तकें लिखीं। मुहम्मद लतीफ ने महाराजा के समकालीन लेखकों की लिखी फ़ारसी पुस्तकों से भी सहायता ली, परंतु सैयद साहिब के विचार सामूहिक रूप से प्रिंसिप और मरे की पुस्तकों पर ही आधारित हैं। मरे, वेड, और प्रिंसिप की पुस्तकों का आधार अधिकतर उस सामग्री पर है, जो उन्हें मुंशी खुशवक्त राय तथा दूसरे पत्रकारों द्वारा प्राप्त हुआ करती थी। ये लोग अंग्रेजों की ओर से लाहौर दरबार में नियुक्त थे। ये पत्रकार फारसी भाषा का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखने के कारण वकालत की पदवी पर विद्यमान थे। उन्हें इतिहास विद्या की जानकारी न थी। उन्होंने ऐतिहासिक घटनाओं के साथ कई प्रकार की निराधार घटनाएँ भी मिला दीं, जिन्हें कप्तान वेड और मरे ने अपने लेखों में सम्मिलित कर दिया। जब ये सूचनाएँ प्रकाशित हुईं तो ये कथाएँ भी इतिहास का अंग बन गईं। बाद के इतिहासकार इन्हें अपनी-अपनी पुस्तकों में स्थान देते गये। किसी ने इनकी वास्तविकता की ओर ध्यान देने का प्रयत्न न किया। किंतु मैंने महाराजा के समय के फ़ारसी भाषा में लिखित इतिहासों से और लेख-पत्रों तथा अधिकारियों की चिट्ठी-पत्री से सहायता लेकर इस प्रकार की घटनाओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। इस पुस्तक में उन पर विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है।

इसके अतिरिक्त महाराजा के राज्य-प्रबंध के विषय में उनके समकालीन योरोपीय लेखकों ने कुछ अधिक नहीं लिखा। संभवतः इसका एक कारण तो यह था कि वे अपने राज्य-प्रबंध को भारतीय राज्य-प्रबंध की अपेक्षा अधिक पसंद करते थे। इसीलिए भारतीय राज्य-प्रबंध-प्रणाली को समझने और इसके आधारभूत नियमों को जानने का कष्ट उन्होंने नहीं किया। दूसरे ये लोग तो विशेषतः यह जानना चाहते थे कि रणजीतसिंह के लिए इस प्रकार देश जीतकर एक छत्र-छाया में लाना किस प्रकार अथवा किन कारणों से संभव हो पाया था। या उनका ध्येय इस प्रकार की बातों की जानकारी प्राप्त करना था कि महाराजा में कौन-कौन सी त्रुटियाँ हैं और इसके दरबारियों में कौन-कौन-सी दलबन्दियाँ हैं, जिनसे वे उसके जीवनकाल में या उसकी मृत्यु के पश्चात् लाभ उठा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मंत्रिमंडल में ऐसा कौन सा व्यक्ति है, जिसे वे समय पर सुगमता से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में प्रयोग कर सकते हैं। चुनांचे अंग्रेज़ रचयिताओं ने महाराजा के शासन-प्रबन्ध के विषय में कुछ विशेष लिखने का यत्न नहीं किया। मैंने महाराजा के समय के लेख-पत्रों की सहायता से इस त्रुटि को पूरा करने का यत्न किया है।

इस विषय पर महाराजा के अपने कार्यालय के लेख-पत्र पूर्ण रूप से प्रकाश डालते हैं।

इन्हें व्यवस्थित करते समय मैंने माल विभाग के आय तथा व्यय के पत्र, भेंट इत्यादि तथा अन्य कर-संबंधी पत्र-लेख, न्यायालयों तथा सेनाओं के पत्र-लेख, तथा तोशाखाना एवं जागीरों इत्यादि के पत्रलेखों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया और उन सब का सारांश इस पुस्तक में लिखा है। उदाहरणस्वरूप मैंने महाराजा के भूमिकर वसूल करने के ढङ्ग को विस्तृत रूप से बतलाया है, क्योंकि इसी ढङ्ग से भूमिदारों की समृद्धि अथवा असमृद्धि का संबंध होता है। साथ ही सरकारी और बड़े-बड़े प्राइवेट कारखानों का भी उल्लेख किया है, जिनमें सैकड़ों शिक्षित तथा अशिक्षित-श्रमजीवी काम करते थे और जो राज्य को उसकी आवश्यकता के अनुसार अस्त्र-शस्त्र, सोने-चाँदी के बर्तन, सेनाओं की वर्दियाँ तथा चमड़े की दूसरी वस्तुएँ, एवं खेमे और शिविर के काम आनेवाली अन्य सामग्री जुटाया करते थे। केवल सेना-विभाग में ही प्रति वर्ष आठ लाख रुपये का सामान खरीदा जाता था और यह सब पंजाब के कारखानों में ही तैयार होता था।

इस विषय पर पूरा एक अध्याय ही दिया गया है कि रणजीत सिंह ने अपनी पड़ोसी रियासतों के साथ कैसे संबंध स्थापित कर रखे थे, विशेषकर अंगरेजों तथा सिंध के अमीरों के साथ। इसके अतिरिक्त विदेशी राजनैतिक संबंधों के कारण जो सुधार और परिवर्तन महाराजा को अपनी सैनिक व्यवस्था में करने की आवश्यकता हुई उन्हें भी विस्तारपूर्वक एक पृथक् अध्याय में दिया गया है।

इसी प्रकार एक अध्याय में महाराजा के दरबार और इसके परस्पर संबंध तथा खिलअत एवं उपाधियां आदि प्रदान करने के नियमों का वर्णन किया गया है। अंतिम अध्याय महाराजा के आचरण पर लिखा गया है। इस अध्याय में जीवन के विभिन्न पहलुओं को दृष्टि में रखते हुए रणजीत सिंह के आचरण पर पूर्णरूपेण प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इस पुस्तक को लिखकर मैंने भारतीय इतिहास और विशेषकर पंजाब के इतिहास के क्षेत्र में अनुसंधान-कार्य करनेवाले विद्यार्थियों के कार्य को सरल बनाने का यत्न किया है। यदि पाठक इस पुस्तक को पढ़ कर कुछ लाभ उठा सकें तो यह मेरे लिए बहुत हर्ष तथा गर्व की बात होगी। महाराजा के जीवन पर इससे पूर्व २३ वर्ष पहले मैंने एक छोटी सी पुस्तक उर्दू भाषा में लिखी थी, जिसे हिंदुस्तानी एकेडेमी ने प्रकाशित किया था। तदुपरांत इसी पुस्तक का हिंदी भाषा में अनुवाद करवाकर एकेडेमी ने प्रकाशित किया था। २३ वर्ष के अध्ययन के बाद अब यह पुस्तक नये रूप में भेंट की जाती है।

हिंदी के इस संस्करण को तैयार करने में श्री हरिवंशलाल बी० ए० बी० टी० ने मेरी बड़ी सहायता की है। मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और आभारी हूँ।

—सीताराम कोहली

माडल टाउन, रोहतक
अप्रैल, १९५५

विषय-सूची

पहला अध्याय

सिख-धर्म का आरम्भ और गुरुओं का वर्णन

दूसरा अध्याय

पंजाब में खालसा राज्य का स्थापित होना

तीसरा अध्याय

सिख मिस्लें तथा उनके इलाके

चौथा अध्याय

महाराजा रणजीत सिंह के वंश का पूर्व-इतिहास

पाँचवा अध्याय

महाराजा रणजीत सिंह का समृद्धि काल

छटा अध्याय

पंजाब की राजनीतिक अवस्था और रणजीत सिंह की नीति

सातवाँ अध्याय

सतलज पार की सिख रियासतों से सम्बन्ध और अन्य विजय

आठवाँ अध्याय

महाराजा और अंग्रेजी सरकार के बीच सरहद

नवाँ अध्याय

विजयों की भरमार

दसवाँ अध्याय

कोहेनूर की घटना तथा अन्य बातें

ग्यारहवाँ अध्याय

युद्धों का क्रम और मुल्तान विजय

बारहवाँ अध्याय

काश्मीर और पेशावर की विजय

तेरहवाँ अध्याय

पेशावर विजय की पूर्ति

चौदहवाँ अध्याय

पड़ोसी रियासतों के साथ सम्बन्ध

पन्द्रहवाँ अध्याय

आर्थिक तथा राजनीतिक प्रबंध

सोलहवाँ अध्याय

महाराजा की सेना तथा उसकी व्यवस्था

सत्रहवाँ अध्याय

महाराजा का दरबार

अठारहवाँ अध्याय

महाराजा की व्यक्तिगत विशेषताएँ

उन्नीसवाँ अध्याय

परिशिष्ट १

परिशिष्ट २

परिशिष्ट ३

परिशिष्ट ४

परिशिष्ट ५

परिशिष्ट ६

परिशिष्ट ७

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६	२५	झींद	जींद
”	२७	दल खालसा का बानी भी यही	अठारवीं शताब्दी में पंथ की दशा
१७	११	तसका इलाका	उसका का इलाका
१८	२०	रजिया की	रियाडकी
२५	३३	ग्रालगुज़ारी	मालगुज़ारी
३५	अंतिम	मीरा वेश्या	मोरां वेश्या
५६	२०	१६०६ ई०	१८०६ ई०
८५	१	१८१७ ई०	१८१६ ई०
८४	४	जोंद्ध सिंह्	जिवन्द सिंह
६४	२	कबीलों	कबीलों का
१०७	६	घनासिंह	धनासिंह
१०८	३, (फ़ुट नोट)	राह	यह
११०	२४	८२४ ई०	१८२३ ई०
११६	११ (फुट नोट)	२६	१६
१२१	३	यान सिंह	ध्यान सिंह
१२२	अंतिम	—प	रूप
१३४	४,८	जर्नल	जनरल
१५३	११	लगाम	लगान
१५४	२ (फुट नोट)	न कुनानीदा दिहन्द	कुनानीदा दिहन्द
१६३	३८	मुहयाल और ब्राह्मण	मुहयाल ब्राह्मण
१७६	६	यथव	तथा
”	१२	अनयुम	अनुपम
१७८	२३	इसीलिये	इस लिये
१८६	६	दारन्इ	दारन्द

पहला अध्याय

सिख-धर्म का आरंभ और गुरुओं का वर्णन

सिख-धर्म की नींव

सिख-धर्म की नींव श्रीगुरु नानकदेव ने पंद्रहवीं सदी के अंत में डाली थी। यह महात्मा सन् १४६९ ई० में पैदा हुए। इतिहास के अध्ययन से मालूम होता है कि इस समय में हमारे देश में भक्ति-मत की लहर पूरे ज़ोरों पर थी और देश के प्रत्येक भाग में धार्मिक नेता इस नए मत का प्रचार कर रहे थे और अपनी धार्मिक शिक्षा से जनता को लाभ पहुँचा रहे थे। भक्ति-मत की शिक्षा बड़ी सीधी-सादी थी, जिसका सारांश यह था कि 'ईश्वर एक है और सब जगह उपस्थित है, किसी मंदिर अथवा मसजिद की चारदीवारी में ही सीमित नहीं। लोग उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। परंतु उसकी आज्ञाएं सब के लिए एक-सी हैं। वेद हो या कुरान, अञ्जील हो या तौरेत प्रत्येक धार्मिक पुस्तक उसकी तरफ़ से है। इस लिए उसका सम्मान करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। उसके दरबार में जात-पाँत का कोई भेद नहीं; चाहे कोई शूद्र हो या ब्राह्मण, हिंदू हो या मुसल्मान, प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे कर्मों के कारण ईश्वर के सामने पहुँच सकता है।' इस मत के पथ-प्रदर्शक शारीरिक तपस्या और पूजा के आडंबरों में विश्वास न रखते थे और न संसार-त्याग को ही अच्छी दृष्टि से देखते थे। इस संबंध में यह बात विशेष-रूप से उल्लेख्य है कि इन सभी प्रचारकों ने अपने-अपने देश की, जनसाधारण की भाषा में अपने विचारों का प्रचार किया, जिन्हें प्रत्येक आदमी सहज में समझ सकता था।

पहले पाँच गुरु

गुरु नानकदेव ने भी प्रायः इन्हीं विचारों की शिक्षा दी। उनकी मृत्यु सन् १५३८ ई० में हुई। उनके स्थान पर गुरु अंगद गद्दी पर बैठे, जिन्होंने गुरु नानक के कार्य को बड़ी तत्परता से ग्रहण किया। गुरु अमरदास तीसरे गुरु थे जो सन् १५५२ से १५७४ ई० तक गद्दी पर स्थित रहे। इनके बाद इनके दामाद रामदासजी गुरु गद्दी पर सुशोभित हुए। सन् १५८१ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इनके बेटे अर्जुनदेव ने गद्दी सँभाली। तब से यह गद्दी गुरुरामदास के वंश में चली आई।

धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति

सिख-धर्म की नींव पड़े हुए इस समय सत्तर वर्ष हो चुके थे। इस बीच में यह भली-भाँति जड़ पकड़ चुका था। गुरु अंगद को न केवल आत्मिक सिद्धि प्राप्त थी वरन् वह भाषा-विज्ञ भी थे। उन्होंने गुरुमुखी अक्षर प्रचलित किए। इसी लिपि में गुरु नानकजी की जीवनी लिखी गई। गुरु रामदास ने अमृतसर[1] शहर की नींव रक्खी जो बाद में सिखों का धर्मक्षेत्र और केंद्रीय स्थल बन गया। गुरु अर्जुनदेव ने ग्रंथसाहब का संग्रह किया। इस प्रकार सिखों के लिए एक नई भाषा, एक पवित्र स्थल और एक धार्मिक ग्रंथ प्राप्त हो गए। सारांश यह कि इस मत को अग्रसर करने और दृढ़ बनाने के सब सामान एकत्र हो गए। गुरु के अनुयायी संख्या में नित्य बढ़ने लगे, जिनके भेंट और चढ़ावे से पंथ की वार्षिक आय में भी वृद्धि हो गई, और उन्होंने धार्मिक और सांसारिक दृष्टि से समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया।

---

[1] शहर अमृतसर के लिए भूमि अकबर ने दी थी। अकबर की धार्मिक सहनशीलता की नीति के कारण गुरु रामदास का सम्राट् से अच्छा व्यवहार था। सिख-मत की बेरोक-टोक आरंभिक उन्नति का एक यह भी कारण है कि उस समय बाबर से लेकर अकबर तक मुग़ल बादशाहों की धार्मिक नीति उग्र न थी।

गुरु अर्जुनदेव का बलिदान—१६०६ ई० में

गुरु अर्जुनदेव का होनहार बेटा जो बाद में गद्दी पर बैठा बहुत सुंदर और गुणी बालक था। अतएव पंजाब प्रांत के वज़ीर माल दीवान चंदूशाह ने उसके साथ अपनी बेटी का विवाह करने की इच्छा प्रकट की। गुरु अर्जुनदेव ने किसी कारण इसे स्वीकार न किया। इस पर दीवान चंदूशाह इतना क्रुद्ध हुआ कि गुरुजी का जानी दुश्मन बन गया। संयोगवश चंदूशाह को बदला लेने का अवसर भी जल्दी ही हाथ लगा। जहाँगीर के गद्दी पर बैठते ही उसके बेटे शाहज़ादे खुसरो ने बाप के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया और आगरे से भाग कर लाहौर आया। गोंदवाल में वह गुरु साहब की सेवा में भी उपस्थित हुआ। उन्होंने शाहज़ादे के साथ सहानुभूति प्रकट की। चंदूशाह के षड्यंत्र से यह बात सम्राट् के कानों तक पहुँचाई गई। जहाँगीर ने, जो पहले से ही सिख-मत के विरुद्ध था, गुरु साहब को बंदी बनाने की आज्ञा दे दी और अंत में उनका वध करवा दिया गया।[1]

गुरु अर्जुनदेव का बलिदान सिखों के इतिहास में बड़ा महत्व रखता है। इस घटना का उनके बाद के इतिहास पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वरन् यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यह उन अत्याचारों के क्रम का आरंभ था जिनके कारण इस धार्मिक और सुधारक मत को विवश होकर सैनिक बाना पहनना पड़ा।

बाद के चार गुरु—सन् १६०६ ई० से १६८५ ई० तक

गुरु अर्जुनदेव के बाद उनके पुत्र गुरु हरगोविंद गद्दी पर बैठे। गुरु हरगोविंद को अपने पिता के वध का शोक अवश्य था फिर भी कुछ दिनों तक सम्राट् जहाँगीर के साथ उनका संबंध अच्छा रहा। कुछ काल बाद जहाँगीर ने उनके पिता के जुरमाने का दो लाख धन प्राप्त करना चाहा, परंतु उन्होंने स्पष्ट जवाब दे दिया। इसलिए सम्राट् ने उन्हें ग्वालियर के क़िले में बंदी कर दिया। कुछ समय बाद उन्हें जेल से मुक्ति मिली। अब उन्होंने अपने पंथ की कमज़ोर दशा पर ध्यान दिया और समय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर थोड़ी-सी फ़ौज नौकर रख ली, और अपने शिष्यों को भी हथियार रखने की आज्ञा दी।

यह सिखों के सबसे पहले गुरु थे जिन्हें फ़ौजी जीवन ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इन्हें अपने जीवन-काल में पंथ के अस्तित्व को बनाए रखने के निमित्त तीन बार मुग़ल सूबेदारों से युद्ध करना पड़ा। इन तीनों युद्धों में गुरु हरगोविंद का पल्ला भारी रहा। गुरु हरगोविंद सन् १६४४ ई० में इस असार संसार से प्रयाण कर गए। उनके बाद उनके पोते गुरु हरराय गद्दी पर बैठे।[2] गुरु हरराय ने अपने जीवन का अधिकांश आराम व चैन से बिताया। सन् १६६१ ई० में उनकी मृत्यु पर उनके छोटे बेटे हरकिशनजी गद्दी पर बैठे। परंतु उनकी मृत्यु भी थोड़े ही समय में हो गई। सन् १६६५ ई० में गुरु तेग़ बहादुर ने गद्दी सँभाली। दस साल के बाद सन् १६७५ ई० में औरंगज़ेब ने इन्हें दिल्ली बुला कर क़त्ल करा दिया।

गुरु गोविंदसिंह—सन् १६७५ से १७०८ ई० तक

गुरु तेग़बहादुर के बाद उन का बेटा गोविंदराय (गोविंदसिंह) गद्दी पर शोभायमान हुआ। गुरु गोविंद सिखों के दसवें और अंतिम गुरु थे। उस समय उनकी अवस्था दस वर्ष से कम थी। वह बाल्यावस्था से ही बड़े सुयोग्य और दूरदर्शी थे। पिछले सत्तर वर्ष (सन् १६०६ ई० से सन् १६७५

---

[1] तुजुक-जहाँगीरी, पृष्ठ ३५ (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ)

[2] गुरु हरगोविंद के पाँच बेटे थे। गुरुदत्त बड़ा बेटा था, जो अपने पिता की ज़िंदगी में ही मृत्यु पा चुका था। हरराय इसी का बेटा था। एक बेटे का नाम तेग़बहादुर था जो बाद में १६६५ ई० में गद्दी-नशीन हुआ। देखिए निम्नलिखित वंशावली :—

ई०) में उनके वंश और पंथ पर जो कठिनाइयाँ पड़ीं वह सब उनके सम्मुख थीं। उनके परदादा गुरु अर्जुनदेव और दादा गुरु हरगोविंद पर जहाँगीर ने जो कष्ट पहुँचाए थे वह उनसे बे-ख़बर न थे। सिख इन घटनाओं से पहले ही बिगड़ चुके थे। अब गुरु तेग़बहादुर की हत्या ने उन्हें सरकार से और भी विमुख और शंकित कर दिया। औरंगज़ेब की धार्मिक नीति हिंदुओं के लिए तो विष का प्रभाव रखती थी; इसलिए हिंदू प्रजा उससे अप्रसन्न थी। दक्षिण में शिवाजी हिंदू-धर्म के नाम पर प्रोत्साहन देकर हिंदुओं को अपने झंडे के नीचे एकत्र करा रहा था।

नई रीति

समय की गति देख कर गुरु गोविंदसिंह ने भी ऐसी ही तैयारियाँ आरंभ कर दीं। गुरु गोविंद की अवस्था अधिक न थी। इसके अतिरिक्त सिखों में स्वयं आपस में बहुत मेल न था। औरंगज़ेब क्रोध की दृष्टि से सिखों को देखता था। इन बातों पर विचार कर गुरु गोविंद ने इसे ही उचित समझा कि कुछ समय के लिए किसी पहाड़ी प्रदेश में शरण ली जाय। अतएव वह ज़िला अंबाले के निकट वर्तमान रियासत सिरमौर के पहाड़ों में जा बसे और बीस वर्ष तक बड़ी शांति-पूर्वक अपने कार्य में तत्परता से सन्नद्ध रहे। इस थोड़े समय में उन्होंने अपने सिखों को उस महान् जातीय सेवा के लिए बिल्कुल तैयार कर लिया, जिसे कि वह पूरी करना चाहते थे। उन्होंने पंथ में कई नए नियम चलाए। अपने शिष्यों का नाम सिख के स्थान पर सिंह रक्खा। उन्हें युद्ध-विद्या में निपुणता प्राप्त करने की आज्ञा दी। सिख-पंथ को ख़ालसा की पदवी दी और यह बात उन के मन में दृढ़ कर दी कि ईश्वर का हाथ तुम्हारे सिर पर है और जब तुम धर्म और देश की रक्षा में लड़ोगे तो विजय की देवी अवश्य तुम्हारे साथ रहेंगी।

पहाड़ी राजाओं और मुग़लों से युद्ध

इसी बीच में गुरु गोविंदसिंह ने जमुना और सतलज नदी के बीच के पहाड़ी प्रदेश में अपनी रक्षा के लिए पोंटा, चमकोर, और मखवाल इत्यादि कुछ दृढ़ दुर्ग भी निर्माण कर लिए थे। सन् १६९५ ई० में गुरुजी ने हिंदौड़, नाहन और नालागढ़ इत्यादि के पहाड़ी हिंदू राजाओं को जातीय युद्ध में भाग लेने के लिए निमंत्रित किया। परंतु मुग़ल बादशाहों को कर देने वाले राजाओं से ऐसी उम्मीद कब हो सकती थी? प्रत्युत इसके पहाड़ी राजाओं ने मिलकर गुरुजी के साथ युद्ध आरंभ कर दिया। औरंगज़ेब आरंभ में उनकी अधिक सहायता न कर सका क्योंकि वह स्वयं दक्षिण की झंझटों में फँसा हुआ था, जहाँ मरहठों ने उसकी फ़ौज की नाक में दम कर रक्खा था। इसलिए
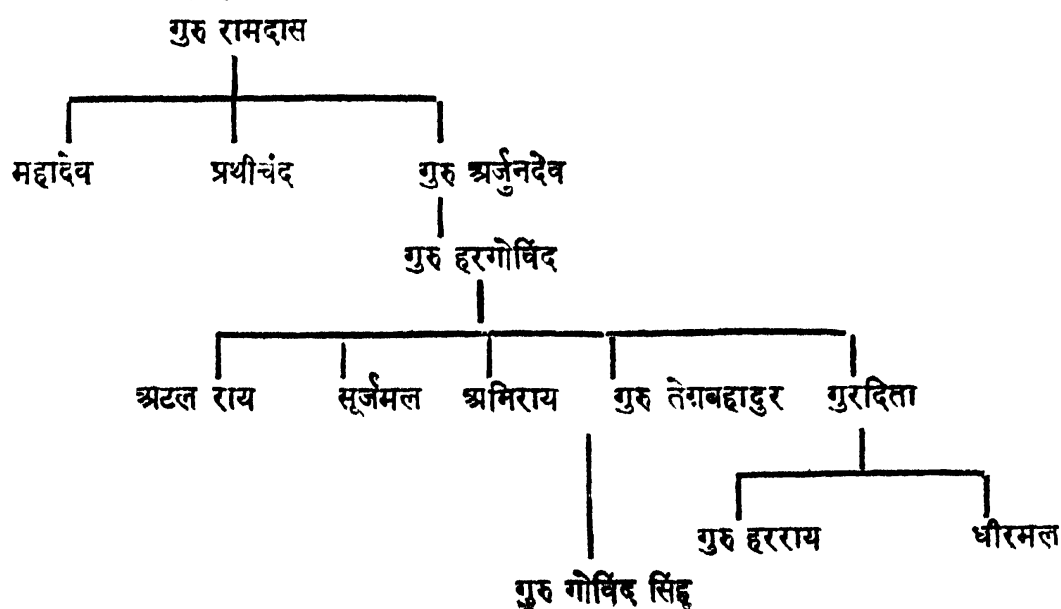
इन राजाओं की हार हुई। अब पंजाब के सूबेदारों ने इनकी सहायता के लिए फ़ौज भेजी। यह युद्ध ग्यारह-बारह वर्षों तक चलता रहा। इन युद्धों में गुरुजी के चारों बेटे और बहुत से जान निछावर करने वाले शिष्य काम आए। अंत में सन् १७०७ ई० में गुरुजी पंजाब छोड़ कर दक्षिण चले गए और वहीं गोदावरी नदी के तट पर अपचल नगर स्थान पर इकतालीस वर्ष की अवस्था में इस संसार से चल बसे।[1]

गुरु गोविंदसिंह की कृतियों का परिणाम

गुरु गोविंदसिंह ने सिखों में स्वतंत्रता की नवीन स्फूर्ति संचारित कर दी थी। सिखों में त्याग का भाव पहले से ही मौजूद था क्योंकि सभी सिख गुरु स्वार्थ-त्याग के अच्छे उदाहरण थे। इस लिए हर एक सिख पंथ की सेवा और रक्षा को अपना प्रथम कर्तव्य समझता था। परंतु अब गुरु गोविंदसिंह के व्यक्तित्व ने सोने पर सोहागे का काम किया। इनकी फ़ौजी शिक्षा ने सिखों के चंचल हृदयों के लिए एक नया द्वार खोल दिया। इस सैनिक भाव ने सिखों को देश और धर्म की स्वतंत्रता के लिए मरने-मारने के लिए तैयार कर दिया। गुरु गोविंदसिंह स्वयं त्याग एवं बहादुरी की जीती-जागती मूर्ति थे। और यही भाव उन्होंने अपने मुरीदों के हृदयों में भी कूट-कूट कर भर दिया था।

सूरा सो पहचानिए जो लड़े दीन के हेत।
पुर्ज़ा-पुर्ज़ा कट जाए पर कभू न छोड़े खेत॥

अतएव इस स्वतंत्रता के युद्ध में गुरु गोविंदसिंह ने अपने चारों बेटे और सैकड़ों अनुयियायों को बलिदेवी पर चढ़ाया। यही वसीयत और यही फ़ौजी उत्साह था जो आड़े समय में सिखों के काम आया और जिसने उन्हें जीवित रक्खा। जिस समय कि न सिक्खों का कोई गुरु था और न कोई राजनीतिक नेता ही था और दूसरी ओर उन पर तत्कालीन शासन कठिन से कठिन त्रास दे रहा था, उस कठिन समय में भी सिखों ने साहस को हाथ से न जाने दिया, बराबर युद्ध जारी रक्खा और अंत में पंजाब में अपना शासन स्थापित करने में वे सफल हुए। यह सब गुरु गोविंदसिंह के ही अथक प्रयत्न का परिणाम था।

बंदा बहादुर—सन १७०८ से १७१६ ई० तक

यद्यपि गुरु गोविंदसिंह सिखों के अंतिम गुरु थे परंतु वह राजनीतिक कार्यों को चलाते रहने के उद्देश्य से बंदा बैरागी को अपना उत्तराधिकारी बना गए। बंदा बैरागी ज़ात का राजपूत और जम्मू की रियासत पूँछ का निवासी था। जवानी में ही घर-बार छोड़कर फ़क़ीर हो गया था। फिरता-फिरता गोदावरी नदी के किनारे जा पहुँचा था और अपचल नगर के निकट ही ठहरा था। यहीं गुरु गोविंद-सिंह ने उससे भेंट की। बंदा कुछ दिनों गुरुजी की सेवा में रहा। गुरुजी आदमी को पहचानने में निपुण थे। शीघ्र ताड़ गए कि इन भगवे वस्त्रों में राजपूती खून और अनुपम त्याग छिपा हुआ है अर्थात् गूदड़ों में लाल मौजूद है। अतएव बंदा बैरागी को देश-सेवा के लिए प्रोत्साहन दिया और उसे पंजाब में जाकर अपना अपूर्ण राजनीतिक कार्य पूरा करने की आज्ञा दी। बंदा फ़ौरन तैयार हो गया और गुरु गोविंद सिंह जी से उनके सिखों के नाम पत्र लेकर पंजाब पहुँचा।

बंदा का उत्साह

फ़ौजी दृष्टि से पंजाब की दशा पहले की अपेक्षा ख़राब थी। शाही फ़ौज तीस साल से दक्षिण की लड़ाइयों में लगी हुई थी। औरंगज़ेब, जो बड़ा बलशाली शाहंशाह और अनुभवी सेनापति था, मृत्यु का ग्रास बन चुका था। पंजाब में कोई योग्य फ़ौजी अफ़सर मौजूद न था। बंदा युद्ध की बातों में निपुण था और बहुत ऊँचे दर्जे का सेनापति था। उसने दो साल के भीतर झेलम से सरहिंद

---

[1] गुरु गोविंदसिंह के एक पठान नौकर ने अवसर पाकर उनके सीने में छुरी भोंक दी, जिसके घाव से वह कुछ दिनों के बाद मर गए।

तक सारे प्रदेश को उलट-पलट दिया और फ़ौजदार ख़ान सूबेदार सरहिंद को हरा कर स्वयं उस पर अधिकारी बन बैठा।

शाही फ़ौज की बेचैनी

इस के बाद बंदा ने सिरमौर की पहाड़ी रियासत पर जो जमुना और सतलज नदियों के बीच में स्थित है अधिकार कर लिया। जब यह दिल हिलानेवाले समाचार बहादुरशाह दिल्ली-सम्राट् को निरंतर मिले तो वह बंदा को दमन करने के लिए चला और बड़ी शीघ्रता से पंजाब पहुँचा। इस बीच में बंदा नाहन के क़िले से भाग निकला और जम्मू के पहाड़ी प्रदेशों में उसने शरण ली। बहादुर की आयु ने धोखा दिया और फ़रवरी सन् १७१२ ई० में वह लाहौर में चल बसा। सम्राट् की मृत्यु पर उसके बेटों में परंपरा के अनुसार तख़्त प्राप्त करने के लिए युद्ध छिड़ गया। बहादुरशाह का बड़ा बेटा जाँदार शाह क़रीब एक साल तक गद्दी पर बैठा रहा, परंतु सन् १७१३ ई० में वह भी अपने भतीजे फ़र्रुख़सियर के हाथों क़त्ल हुआ।

बंदा का दमन

शाही वंश का यह घर का कलह सिखों के लिए दैवी सुअवसर प्रमाणित हुआ। बंदा इस अवसर को अच्छा जान कर मैदानी प्रदेश में आ पहुँचा। रावी और व्यास नदी के बीच गुरदासपुर के निकट एक बड़ा क़िला तैयार किया और वहाँ से सरहिंद के इलाक़े में लूट-मार आरंभ की। सम्राट् फ़र्रुख़सियर जब सन् १७१६ में घरेलू झगड़ों से मुक्त हुआ तो उसने बंदा की तरफ़ ध्यान दिया। उस ने अपने तूरानी सेनापति अब्दुस्समद ख़ां को भारी तोपख़ाने के साथ बंदा को दमन करने के लिए भेजा। सिखों ने बड़ी बहादुरी से उसका सामना किया। परंतु अंत में बंदा और उसके साथी गुरदासपुर के क़िले में घिर गए और बाद में गिरफ़्तार कर लिए गए। बंदा एक लोहे के पिंजड़े में बंद करके दिल्ली लाया गया, जहाँ उसे बड़ी तकलीफ़ देकर क़त्ल कर दिया गया। बंदा ने गुरु गोविंदसिंह के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति में जी-जान से प्रयत्न किया। उसके नेतृत्व में सिखों ने सैनिक दृष्टि से प्रत्यक्ष उन्नति की। लगातार आठ बरस तक यह लोग योद्धाओं की भाँति शाही फ़ौजों का मुक़ाबला करते रहे और इस परीक्षा में यह पूरे उतरे। बंदा की उच्चकोटि की सिपहसालारी ने इन में नई जागृत उत्पन्न कर दी। झेलम से सरहिंद तक का प्रदेश लगभग एक साल तक सिखों के अधीन रहा। देश की व्यवस्था तथा शासन के लिए बंदा बहादुर ने मुसल्मान हाकिमों के बजाय सिख शासक नियत किए, जिससे सिखों को मुल्की व्यवस्था में भी कुछ से शिक्षा मिल गई। इस थोड़े समय में सिखों ने दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति की और बंदा ने अपने गुरु के विश्वास को रुपए में सोलह आने ठीक सिद्ध कर दिखाया।

दूसरा अध्याय

पंजाब में खालसा राज्य का स्थापित होना
(सन् १७१६ से १७६५ तक)

बंदा बहादुर के बाद सिखों की दशा

बंदा बहादुर के बलिदान के पश्चात् सिखों का कोई नेता न रहा। इधर पंजाब के शासक अब्दुल समद खाँ ने भी सख़्ती की नीति पर चलना प्रारंभ कर दिया। इस लिये सिखों को विवश होकर पंजाब के शहर छोड़ने पड़े और पहाड़ों की शरण में जाना पड़ा। जो सिख इन विपत्तियों को सहन न कर सके वे सिख-मत के बाहरी चिह्नों को त्याग कर हिंदू समाज में हिल-मिल गए। अतएव बीस वर्ष तक सिक्खों को सख़्त से सख़्त आघातों को सहन करना पड़ा। परंतु गुरु के अनुयाइयों ने साहस न छोड़ा और हँस-हँस कर इन कठिनाइयों को झेला। गुरुओं के बलिदान सदा आदर्श-रूप में उनके सम्मुख थे और वे उन आदर्शों पर चलकर पंथ की सेवा और सुरक्षा के लिए तत्पर रहते थे।

ये लोग वीरानों में सीधी-सादी ज़िंदगी बिताते थे फिर भी खाने के लिये रोटी और पहनने के लिये कपड़े का होना आवश्यक था। स्त्री, बच्चों तथा निकट संबंधियों के मोह, घरबार का सुख और शांति आदि सब कुछ छोड़ कर ये लोग एक प्रकार से निर्वासितों का-सा जीवन व्यतीत करते थे। वास्तव में उनके सम्मुख उस समय मृत्यु और जीवन का प्रश्न था। भूखा और पीड़ित मनुष्य क्या कुछ नहीं कर गुजरता। अंत में इन निर्वासितों को भी तंग आकर लूट-खसोट का पेशा अपनाना पड़ा। पांच-पांच दस-दस और बीस-बीस की संख्या के जत्थे बनाए गए। जिस जत्थे का कोई युवक असाधारण बुद्धि और वीरता का प्रमाण देता, उसे ही उस टोली का नेता मान लिया जाता।

अब ये जत्थे इधर-उधर घूमने लगे। जहां भी वे अवसर पाते वहीं से पशु, रुपया, आभूषण तथा अन्य वस्तुओं पर हाथ साफ़ करके अपने रक्षणालयों में घुस जाते। प्रत्येक सिख के पास एक तीव्र गति वाला घोड़ा, एक खड्ग, एक बंदूक़, एक बरछा और ओढ़ने के लिए दो कंबल होते थे। ये लोग लूट के धन को व्यर्थ न गँवाते वरन् इससे घोड़े और युद्ध-सामग्री ख़रीद लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से साहसी युवक इन जत्थों में सम्मिलित होने लगे। नियमानुसार प्रत्येक नवागंतुक रँगरूट को एक घोड़ा, एक खड्ग और दो कंबल दे दिए जाते। इस प्रकार इन जत्थों की संख्या प्रति-दिन बढ़नी शुरू हो गई।

खान ज़िकरिया खां की सिखों के प्रति नीति

अब्दुलसमद ख़ां के पश्चात् ज़िकरिया ख़ां पंजाब का शासक नियत हुआ। उसने सिखों के बढ़ते हुये उत्साह को राज्य के लिए भयंकर जानकर उसे दबाने का प्रयत्न आरंभ कर दिया। सन् १७३९ में नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात्-ज्योंही उसे अवकाश मिला, उसने सिख जत्थों को समाप्त करने के लिए एक गश्ती सेना तैयार की जिसने उन जत्थों का पीछा करना शुरू कर दिया। इसके अतिरिक्त शासन के सभी अधिकारियों, अर्थात् एक गाँव के पटवारी से लेकर प्रांत के शासक तक सभी के नाम आज्ञाएँ भेज दी गई कि जहां भी कोई सिख दिखाई पड़े उसे या तो पकड़ लिया जाय या क़तल कर दिया जाय। भाई तारूसिंह और उसके साथी इसी हिंसक नीति के शिकार हुये थे। अतएव दो तीन वर्ष के अंदर ही ज़िकरिया ख़ां ने सिखों को पहले द्वाबा बारी और फिर द्वाबा बिस्त जालंधर से निकलने पर मजबूर कर दिया। तत्पश्चात् फ़ौजदार अदीना बेग के आघातों से तंग आकर सिख जत्थेदारों को सतलज पार करके सरहिंद प्रांत की ओर जाना पड़ा। यहाँ पहुँच कर उन्हें एक नई उलझन में फँसना पड़ा। यहाँ दिल्ली के सामीप्य ने उनके लिए एक नई कठिनाई

उत्पन्न कर दी। दिल्ली के सम्राट ने भी इनके उत्साह को दबाने के लिए अपनी ओर से उन्हें समाप्त करने के लिए सेना के विशेष दस्ते नियुक्त कर दिए। संभव था कि परिस्थितयों से दबकर यह आंदोलन दब जाता, परंतु ईश्वर को कुछ और ही भाता था। सन्: १७४५ में नवाब ज़िकरिया ख़ाँ तो परलोक सिधार गया और उसकी मृत्यु सिख आंदोलन के लिए दैवी कृपा सिद्ध हुई।

पंजाब के शासन का झगड़ा

ज़िकरिया ख़ां की मृत्यु के पश्चात् उसके दो बेटों, यहीया ख़ां और शाहनिवाज़ ख़ाँ के बीच पंजाब के प्रशासन को हस्तगत करने के लिए रस्साकशी शुरू हो गई। यहीया ख़ां दिल्ली के प्रधान मंत्री नवाब क़मरुद्दीन का जामाता था और भांजा भी। परंतु शाहनिवाज़ भी अपना पूरा ज़ोर लगा कर दिल्ली दरबार में अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए लड़ रहा था। दिल्ली का सम्राट् स्वयं इस तूरानी दल के प्रभाव को बढ़ाने के पक्ष में न था। अतएव वह इन दोनों में से किसी को भी शासक के पद पर नियत करना नहीं चाहता था। इसी प्रकार इस खींचातानी में छः मास का समय गुज़र गया और प्रांत की शासन-व्यवस्था दिन-प्रतिदिन बिगड़ती चली गई। इसके परिणाम-स्वरूप किसी भी बड़े अधिकारी को अपने उत्तरदायित्व अथवा ज़िम्मेवारी का ध्यान न रहा। चुनाँचे ऐसी परिस्थिति से सिख जत्थेदारों ने पूरा-पूरा लाभ उठाना प्रारंभ कर दिया। अक्टूबर सन् १७४९ में दीवाली के अवसर पर ये लोग अमृतसर में इकट्ठे हुए और वहाँ गुरबकससिंह कलसिया, बौधसिंह व चंदासिंह सुकर-चकिया, कपूरसिंह फैज़लपुरिया, बाघसिंह अहलोवालिया, हरिसिंह भंगी और दर्लापसिंह इत्यादि ने छोटे-छोटे टोलों के सैनिकों को बड़े जत्थों के साथ मिलकर काम करने की सम्मति दी। और अपना आगामी कार्यक्रम भी निश्चित कर लिया। निश्चित कार्यक्रम के अनुसार जालंधर, अमृतसर और बटाला के क़स्बों पर धावा बोला गया। एक-आध बार लाहौर के गली-कूचों पर भी हाथ साफ़ किया गया। यह देखकर कई वीर युवक भी उनके साथ हो लिए और उनमें से अधिकतर अमृत छक कर पंथ में प्रवेश करने पर भी तैयार हो गये।

ऐमनाबाद का युद्ध (सन् १७४६)

पर्याप्त सोच-विचार करने के पश्चात् दिल्ली सम्राट् ने नवाब कमरुद्दीन को पंजाब के शासक के पद के लिए उत्तरदायी नियुक्त किया और उसे अपने जामाता यहीया ख़ाँ को उपशासक नियुक्त करने की स्वीकृति दे दी। क़मरुद्दीन ने अपने छोटे भांजे शाहनिवाज़ख़ां को भी मुल्तान का शासक नियुक्त कर दिया। इस प्रकार लाहौर सरकार को एक बार फिर ख़ालसा के बढ़ते हुए उत्साह की ओर अपना ध्यान देने का अवसर मिल गया। इसी बीच में ख़ालसा के चंद-एक जत्थे ऐमनाबाद में इकट्ठे हुए। ऐमनाबाद के दीवान जसपतराय ने उन्हें तितर-बितर करना चाहा और सेना के एक दस्ते को लेकर ख़ालसा के ठिकाने पर जा पहुँचा। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। सिख बड़ी वीरता से लड़े और एक साहसी सिख युवक दीवान के हाथी की दुम पकड़ कर ऊपर चढ़ गया और खड्ग के एक ही प्रहार से दीवान का सिर धड़ से पृथक कर दिया तथा वह सिर उठा कर हाथी से छलांग लगाकर नौ दो ग्यारह हो गया। यह देखकर दीवान की सेना के पाँव उखड़ गए और वह रणभूमि से भाग खड़ी हुई। जसपतराय के वध की सूचना सुनकर उसके भाई लखपतराय को बड़ा क्रोध आया और वह एक बड़ी सेना लेकर लाहौर से चल पड़ा। स्थान-स्थान पर भागते हुए सिखों का पीछा करके उन्हें पकड़ लिया गया और लाहौर में लाकर उन्हें बड़ी निर्दयता से क़त्ल कर दिया गया। अभी तक वह वध-स्थान शहीदगंज के नाम से प्रसिद्ध है।

ऐमनाबाद के युद्ध के पश्चात् लाहौर के शासक ने सिखों पर असीम अत्याचार शुरू कर दिए। संभव था कि इन निस्सहाय लोगों को विपत्ति के वही दिन देखने पड़ते जो राज्यपाल अब्दुस्समद के शासन-काल में उन्हें प्राप्त थे किंतु सौभाग्य से यहीया ख़ां और शाहनिवाज़ के बीच अपने पिता की छोड़ी हुई सम्पत्ति के बँटवारे पर झगड़ा शुरु हो गया। शाहनिवाज़ कुछ सेना लेकर लाहौर

पर चढ़ आया और अपने बड़े भाई को पंजाब से बाहर निकाल कर स्वयं लहौर तथा मुलतान प्रांत पर अधिकार कर लिया। यहीया ख़ां सहायता के लिये सीधा दिल्ली पहुँचा। अब शाहनिवाज़ ख़ां को यह भय उत्पन्न हुआ कि कहीं उसे प्रांत-प्रशासक-पद छोड़ना ही न पड़े। इसलिए उसने अपनी सुरक्षा के ध्यान से अफ़गानिस्तान के बादशाह अहमदशाह अब्दाली के साथ पत्र-व्यवहार प्रारंभ किया और उसे भारत पर आक्रमण करने का न्यौता दिया, जिसे अब्दाली ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और एक भारी सेना के साथ अटक पार करके पंजाब में प्रवेश किया। परंतु इसी बीच में दिल्ली दरबार के समझाने-बुझाने पर शाहनिवाज़ सीधे रास्ते पर आ चुका था। अतएव वह अब्दाली की सहायता करने के स्थान पर उस का सामना करने के लिए तैयार हो गया, परंतु अहमदशाह कब टलने वाला था। दुर्रानियों के एक हल्ले ने ही शाहनिवाज़ की सेना के छक्के छुड़ा दिये और वह लहौर से भाग खड़ा हुआ। अहमदशाह लाहौर से दिल्ली की ओर बढ़ा। रास्ते में सरहिंद के स्थान पर एक और रण पड़ा। इस युद्ध में राज्य मंत्री के बेटे मीर मनु (मुअइयन-उलमलिक) ने वीरता का वह प्रदर्शन किया कि शत्रु भी प्रशंसा किए बिना न रह सके। अब्दाली की हार हुई और उसे अपना-सा मुँह लेकर वापस लौटना पड़ा। दिल्ली सम्राट् ने प्रसन्न होकर मीर मनु को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त कर दिया।

दल खालसा की स्थापना (अप्रैल सन् १७४८)

अब्दाली का आक्रमण सिखों के लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध हुआ। एक ओर तो उन्हें पंजाब सरकार के अत्याचारों से कुछ समय के लिए छुटकारा मिल गया और दूसरी ओर से इन्हें इस अराजकता के समय में अपने आपको शक्तिशाली बनाने का अवसर भी मिल गया। अमृतसर के समीप उन्होंने एक गढ़ बनाया जिस का नाम रामरौनी रक्खा गया। इस का निर्मान करने के लिए-सिख सैनिकों ने स्वयं राजों, बढ़इयों, लोहारों और मज़दूरों का कार्य किया। यह स्थान माझा प्रदेश के बिल्कुल मध्य में स्थित था। इस प्रकार यह प्रदेश एक प्रकार से ख़ालसा की कार्यवाहियों का केंद्र बन गया। इसी बीच में जो दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया वह 'दल ख़ालसा' की नींव रखने का था। हम पहले भी वर्णन कर चुके हैं कि सन् १७४५ में दीवाली के अवसर पर एक प्रकार की जत्थे-बंदी की गई थी। उस के अंतर्गत जत्थेदार थोड़ा-बहुत अपना अपना काम निभाते रहे। परंतु दो साल के समय में ही बीसियों नए जत्थे तैयार हो चुके थे और उस समय उनकी संख्या साठ के लगभग पहुँच चुकी थी। पंथ की सेवा और रक्षा के लिये ये लोग हर समय तैयार और चैतन्य रहते थे और किसी प्रकार के बुलावे पर ये सौ काम छोड़ कर भी पंथ की सेवा करने के लिये आने को तैयार थे। परंतु बुलावा देने वाली कोई केंद्रीय संस्था अब तक स्थापित नहीं की गई थी। अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने पंजाब सरकार की भीतरी अक्षयता को नग्न कर दिया था। अब खालसा को यह विश्वास हो चुका था कि इस प्रकार का कोई भी दूसरा अवसर प्राप्त होने पर ख़ालसा यदि अपनी सयुंक्त शक्ति को एक लक्ष्य पर लगा दे तो यह बात असंभव नहीं कि प्रांत का कुल भाग उन के अधिकार में आ जाय। दैवयोग से उस समय जत्थेदारों में बड़े बुद्धिमान, सौम्य, दूरदर्शी और वीर नेता विद्यमान थे, अतएव परस्पर विचार-विमर्श के पश्चात् यह बात निश्चित की गई कि सभी छोटे-बड़े जत्थों को मिलाकर केवल ग्यारह जत्थे बनाए जाँय और प्रत्येक जत्थे का एक-एक जत्थेदार नियुक्त किया जाय[1]। ऐसा करने के पश्चात् दूसरा निश्चय यह किया गया कि वे

[1] ग्यारह निर्वाचित जत्थेदारों के नाम इस प्रकार हैं:—जस्सासिंह अहलोवालिया, कपूरसिंह फैज़ल-पुरिया, नौधसिंह सुकरचकिया, हरिसिंह भंगी, हीरासिंह नकई, जयसिंह कन्हैया, जस्सासिंह रामगढ़िया, गुलाब सिंह डल्लेवालिया, दसौंधासिंह निशानवालिया, दिलीपसिंह और करोड़ सिंहया। इन सब में आयु, अनुभव और आदर की दृष्टि से सरदार कपूर फ़ज़लपुरया श्रेष्ठतम था। परंतु, बुढ़ापे के कारण उसने स्वयं जस्सासिंह अहलोवालिया को दल का नेता नियुक्त किया था।

ग्यारह जत्थे अपने पृथक अस्तित्व को बेशक बनाये रखें किन्तु युद्ध के समय में ये लोग एक व्यवस्थित सेना की तरह एक ही जरनैल या सरदार के अधीन हो कर लड़ेंगे। और उसकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करेंगे। दूसरे शब्दों में प्रत्येक जत्था खालसा की राष्ट्रीय सेना का एक अंश समझा जायगा। इस राष्ट्रीय सेना का नाम 'खालसा दल' रखा गया और इस दल का पहला नेता सरदार जस्सा सिंह अहलोवालिया चुना गया। ऐतिहासिक परंपरा के अनुसार यह सारी कार्यवाही बिसाखी के दिन अमल में लाई गई।

बिसाखी और विजयदशमी के अवसर पर अर्थात अप्रैल और अक्टूबर मास में यह आवश्यक था कि प्रत्येक सरदार अपनी-अपनी सेना के साथ दरबार साहब के दर्शन के लिये आवे। चुनांचे इन दो अवसरों पर 'सरबत्त खालसा' (सर्वत्र खालसा) का उत्सव होता और रायें पास कर के संपूर्ण वर्ष के लिये एक ठोस कार्यक्रम निश्चित कर लिया जाता। दरबार साहब की सुरक्षा और पंथ की आम भलाई की देख-रेख का कार्य अकाली जत्था के सपुर्द किया गया। यह जत्था अमृतसर में ही निवास करता। दोसहरा, दीवाली अथवा किसी दूसरे अवसर पर यदि पंथ की एकत्रता की आवश्यकता होती तो इस जत्थे के रक्षक सभी जत्थेदारों के नाम पत्र भेज कर उन्हें बुलवा लिया करते। जो लूट का माल हाथ आता वह जत्थेदारों में बराबर बराबर भाग कर के बाँट दिया जाता और प्रत्येक जत्थेदार अपने आदमियों में समान रूप से बाँट देता। परन्तु सरदार का निजी भाग दूसरे व्यक्तियों के भाग से दुगुना होता था, एक हिस्सा सरदारी का और दूसरा अपना व्यक्तिगत। इस प्रकार छोटे से छोटे सैनिक को भी शिकायत का अवसर न रहता और वह सदा के लिये ही अपने सरदार के जत्थे में रहना पसंद करता। सरदार से संबंध जुड़े रहने का एक दूसरा कारण यह भी था कि सिख धर्म के तान्त्रिक नियम के अनुसार प्रत्येक सिख को समान दृष्टि से देखा जाता था और उसे पूरा पूरा अधिकार प्राप्त था कि वह जिस जत्थे के साथ भी रहना चाहे, रहे। जिस जत्थे को वह छोड़ना चाहता, छोड़ सकता था। उस पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था। इसलिये प्रत्येक जत्थेदार प्रयत्न करता था कि उसके जत्थे के आदमी उससे संतुष्ट रहें और वे उसके साथ सम्बन्ध जोड़े रखें।

पंजाब का शासक मीर मनु
(मार्च १७४८ से नवम्बर १७५३ तक)

मीर मनु को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त करने का एक यह भाव था कि उस जैसा कठोर प्रशासक पंजाब को सिखों के उपद्रव से बचाये रखेगा और दूसरी ओर अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों की रोकथाम में भी सहायक सिद्ध होगा। ज्योंही उसने प्रान्त की शासन-व्यवस्था को पक्का कर लिया, उसने अपना ध्यान सिखों की कार्यवाहियों की ओर फेरा और उन्हें दबाने के लिये कटिबद्ध हो गया। परन्तु जैसा कि पहले भी कई अवसरों पर हुआ ज्योंही सरकार का कोई अधिकारी सिखों पर अत्याचारों का सिलसिला आरम्भ करता उस पर कोई दैवी कोप प्रकट होता और वे उसके अत्याचारों से बच जाते। इस बार भी ऐसी ही घटना घटी। मीर मनु के पंचवर्षीय शासनकाल में अहमदशाह अब्दाली ने दिसम्बर सन् १७४९ से मार्च सन् १७५० और दिसम्बर सन् १७५१ से मार्च १७५२ तक भारत पर दो बार आक्रमण किया और मीर मनु द्वारा पंजाब में स्थापित की हुई शासन-व्यवस्था को अस्तव्यस्त कर दिया। हर बार अफ़ग़ानों की असंख्य सेनाओं के उपस्थित होने के कारण प्रान्त का सामाजिक ढाँचा, आर्थिक प्रबंध और नागरिक सुख तथा शान्ति का सिलसला बिगड़ कर रह जाता। सिखों ने सरकार की इस अस्त-व्यस्त दशा का पूरा-पूरा लाभ उठाया और अपने आप को पूर्णरूपेण शक्तिशाली बना लिया। और इस समय में अपने शस्त्रों और दूसरी युद्ध संबंधी सामग्री तथा घोड़ों की संख्या में भी वृद्धि करने लगे।

दूसरे आक्रमण का परिणाम यह हुआ कि पंजाब का सम्पूर्णप्रान्त, सरहिन्द प्रान्त के साथ ही

अहमदशाह अब्दाली के क़ाबुल राज्य का एक भाग बन गया। इसी प्रकार सिन्ध और काश्मीर में भी मुग़लों के स्थान पर अफ़गानों का राज्य स्थापित हो गया और स्वयं मीर मनु मार्च सन् १७५२ में अहमदशाह अब्दाली के सहायक के रूप में पंजाब का राज्यपाल नियुक्त हुआ।

परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ जब मीर मनु के मन से अब्दाली का भय दूर हो गया तो उसने सिखों पर फिर से अत्याचार शुरू कर दिये। दीवान कौड़ामल जो कभी-कभी अपनी सलाह सम्मति द्वारा मीर मनु को सिखों के विरुद्ध कड़ी कार्यवाहियों से रोके रखता था, अब्दाली के दूसरे आक्रमण में रणभूमि में लड़ता हुआ मारा गया। चुनांचे ज़िकरिया खाँ की भाँति मीर मनु ने भी 'गश्ती सेना' तैयार की और उसके साथ गोलची भी नियत कर दिये ताकि वे अपनी लम्बी और हलकी-फुलकी तोपों से भागते हुये सिख जत्थों पर गोलाबारी कर सकें। ये सिख सरदार निस्सन्देह विपत्तियों और अत्याचारों के शिकार हो रहे थे परन्तु वे शस्त्र-समर्पण के लिये कभी तैयार न थे। बल्कि हर समय युद्ध के लिये तत्पर रहते थे। सरकार की 'गश्ती सेना' हर समय सिखों का पीछा करने में लगी रहती थी। नगरों में उद्योग-धन्धे बन्द पड़े थे, देहातों में फसलें तबाह हो रही थीं और साधारण जनता में असन्तोष फैला हुआ था। भाव यह कि प्रान्त में पूर्णरूप से सुख और शान्ति लुप्त हो चुकी थी। परंतु होता वही है जो ईश्वर की इच्छा होती है। खालसा को मिटाना ईश्वर को भाता नहीं था। ३ नवंबर सन् १७५३ में नवाब मीर मनु का अकस्मात् देहांत हो गया और उसकी मृत्यु के साथ ही इस हिंसक नीति का भी अंत हो गया।

मीर मनु की बिधवा मुगलानी बेगम दूध पीते बच्चे के नाम पर राज्यपालन का कर्त्तव्य निभाने लगी। वह एक बहुत ही चतुर और चैतन्य स्त्री थी। एक ओर तो उसने अपने कारिंदों को दिल्ली में भेजा और दूसरी ओर काबुल दरबार से भी संबंध गाँठने लगी। परंतु ऐसे समय में जब कि सरकारी कल का संपूर्ण ढाँचा बिगड़ चुका था एक पर्दादार स्त्री के लिए शासन करना सुगम न था। इसके साथ ही बेगम अपने चरित्र और आचरण को भी शंका-रहित न रख सकी। दरबार में धड़े-बन्दी शुरू हो गई और बड़े-बड़े अमीरों ने खुल्लम-खुल्ला आज्ञा का उल्लंघन शुरू कर दिया। एक ओर जालंधर का प्रशासक अदीना बेग स्वावलम्बी हो बैठा तो दूसरी ओर मुलतान का प्रान्त भी लाहौर से पृथक् हो गया। गुजरात, स्यालकोट, पसरूर और औरंगाबाद के परगनों के लिये तो अब्दाली ने पहले से ही एक दूसरा शासक नियुक्त कर रखा था। सारांश यह कि पंजाब में शासन-व्यवस्था बड़ी तेज़ी के साथ तहस-नहस हो रही थी।

राखी सिस्टम का चालू होना

यद्यपि उस समय अहमदशाह अब्दाली अन्य कार्यों के कारण पंजाब के झगड़ों की ओर ध्यान नहीं दे सकता था फिर भी उस की पिछली नीति से स्पष्ट था कि वह हिन्दुस्तान में मुगलों का शासन समाप्त करके अफ़ग़ानी राज्य स्थापित करने पर तुला हुआ है। चुनांचे सिख जत्थेदारों ने इस वास्तविकता पर भली-भाँति सोच विचार किया और इस निर्णय पर पहुँचे कि उनके लिये मुगल और पठान दोनों ही एक समान हैं। मुगलों से तो छुटकारा प्राप्त हो रहा था किन्तु यह दूसरा फंदा जो कि पठानों की राजनीतिक शक्ति के रूप में दृष्टिगत हो रहा था, वे उसे अपने गले में डालने के लिये किसी सूरत में तैयार न थे। इस लिये उन्होंने निश्चय कर लिया था कि उनके अपने देश पंजाब में तो उन्हीं का राज्य स्थापित होना चाहिये। "राज करेगा खालसा, आँकी रहे न कोय," की धुन उनके दिल में समा रही थी। 'खालसा दल' की स्थापना हो चुकी थी और ईश्वर की दया से इसमें कई एक बुद्धिमान और प्रतिभाशाली नेता भी विद्यमान थे। दूसरी ओर अब्दाली भी मध्य एशिया पर चढ़ाइयों में उलझा हुआ था। इस लिये सिखों के लिये ऐसे दुर्लभ अवसर का पुनः प्राप्त होना कठिन था। शीघ्र ही प्रोग्राम बना लिया गया और 'दल खालसा' के दस्ते निश्चित कार्यक्रम के अनुसार प्रांत के भिन्न-भिन्न भागों में घूमने लगे। इस प्रकार खालसा की दोहाई शुरू हो गई।

बड़े-बड़े कस्बों में थोड़ा बहुत सुरक्षा का प्रबंध था, किन्तु देहातों में ऐसा कोई प्रबंध नहीं था। उस समय दल खालसा ही एक ऐसी सुव्यवस्थित संस्था थी जो कि दीन देहातियों और कृषकों की रक्षा का बीड़ा उठाने के योग्य थी। इसलिये खालसा ने यह घोषणा कर दी कि जो लोग खालसा की शरण में आना चाहें आ जाँय। परन्तु उन्हें अपनी सुरक्षा के बदले में हर फसल पर खेती की उपज का पाँचवाँ भाग 'राखी' के रूप में देना होगा। चुनांचे गाँव के गाँव और कस्बों के कस्बे खालसा की शरण में आने शुरू हो गये। इस प्रकार द्वाबा सिन्ध सागर को छोड़ कर पंजाब के शेष द्वाबों में 'राखी' परंपरा प्रचलित हो गई। अब 'दल खालसा' के चुने हुये और अनुभवी जत्थेदारों को नियुक्त कर के खास-खास इलाकों को उन की देख-रेख में कर दिया गया और साथ ही यह निर्णय किया गया कि जहाँ कोई गढ़ अथवा अन्य मज़बूती का स्थान न हो, वहाँ पर गढ़ अथवा बुर्ज बनवाये जाँय। चुनांचे सरदार कपूर सिंह फैज़लपुरिया और सरदार जस्सा सिंह अहलोवालिया को अम्बाला, जालंधर और फीरोज़पुर का चार्ज दिया गया। इस प्रकार जयसिंह कन्हैया और जस्सासिंह रामगढ़िया को रियाड़की, गुरुदासपुर और कादियाँ का प्रदेश सौंपा गया। चढ़तसिंह सुकर-चक्रिया और हरिसिंह भंगी के सपुर्द द्वाबा चज तथा द्वाबा रचना के भाग किये गये। कुछ सरदार राम रौनी दुर्ग में भी बसाये गये ताकि श्री हरि मन्दिर जी की रक्षा हो सके। इस प्रकार नियमित प्रदेश, प्रजा और राखी 'कर' के द्वारा आय के साधन भी निश्चित हो गये। सेना तो 'दल खालसा' के रूप में पहले ही विद्यमान थी। इस परंपरा के प्रचलित होने के तीन वर्ष बाद तक अहमदशाह अब्दाली भी भारत में प्रवेश न कर सका और इसी बीच (सन् १७५३ से १७५६ तक) सिखों ने अपनी स्थिति को भी काफी शक्तिशाली बना लिया और अपने वशवर्ती प्रदेश को विस्तृत कर लिया।

सिखों और अफगानों में पंजाब राज्य के लिये खींचातानी

अब खालसा के इतिहास में भी एक नये काल का प्रारंभ हुआ। अहमदशाह अब्दाली पंजाब पर अपना अधिकार जमाना चाहता था। किन्तु हालात भी खालसा के अनुकूल थे। ईश्वर की कृपा से 'जो अड़ा सो झड़ा' उक्ति की पुष्टि में फर्रुखसियर हो या ज़िकरियाखां, मीर मनु हो या यहीया खां, जिस समय भी किसी ने सिखों पर हिंसक हाथ उठाया त्यों ही मृत्यु ने उनको दबोच लिया। इस प्रकार उन्हें नये सिरे से अपनी खोई हुई शक्ति प्राप्त करने का अवसर मिल गया। इस बार भी वाहगुरु पर भरोसा रख कर खालसा एक बार फिर अफ़गानों से लोहा लेने के लिये डट गया।

यदि दोनों पक्षों के आर्थिक, राजनैतिक तथा सैनिक साधनों का ध्यान से निरीक्षण किया जाय तो विदित होता है कि अब्दाली की तुलना में खालसा की शक्ति अत्यन्त छोटी थी। अफ़गानी सेना अनुभव, शस्त्र और युद्ध-विद्या की दृष्टि से हर प्रकार श्रेष्ठ थी। विशाल दुरानी राज्य के ख़ज़ाने और फ़ौजी भरती के लिये मध्य एशिया के सभी अफगान देशों की सम्पूर्ण जनसंख्या उन की सहायता पर थी। दूसरी ओर खालसा के पास न तो धन था, न कोई प्रदेश और न युद्ध-विद्या में दक्ष कोई सैनिक अधिकारी। उन्हें रणभूमि में डट कर लड़ने का क्रियात्मक रूप से ढंग भी नहीं आता था। परंतु इन तमाम न्यूनताओं के होते हुये भी एक ऐसी चीज़ विद्यमान थी जो उन के लिये सभी कठि-नाइयों पर काबू पाने के लिये सहायक सिद्ध हो रही थी। वह वस्तु थी उन का दृढ़ विश्वास और निश्चय तथा गुरु गोविन्दसिंह का फूँका हुआ यह मंत्र कि "विजय अन्त में खालसा को प्राप्त होगी"। इसी विश्वास ने उन्हें आज तक जीवित रखा और इसी के सहारे वे अहमदशाह का मुकाबला करते रहे।

यह बेजोड़ युद्ध चौदह वर्ष तक चलता रहा। इस समय में अब्दाली ने सात बार भारत पर चढ़ाई की और खालसा को मिटाने का प्रयत्न किया परन्तु वह अपने ध्येय में सफल न हुआ। इस युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन इस पुस्तक में नहीं हो सकता। हम केवल ऐसी दो-एक घटनाओं का

उल्लेख करेंगे, जिसका प्रभाव खालसा के आगामी इतिहास पर पड़ा। इस प्रकार की एक घटना नवंबर सन् १७६१ में घटित हुई। पानीपत की लड़ाई के दो मास पश्चात् मार्च सन् १७६१ में अहमदशाह अब्दाली काबुल चला गया और सिखों के लिये पंजाब में मैदान साफ हो गया। गत तीन वर्षों से मरहठों ने दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया था और प्रायः वहाँ से वे अपनी सेनायें पंजाब में भी भेजते रहते थे। यही चीज़ सिखों के मार्ग में रोड़ा सिद्ध हो रही थी। पानीपत में पराजित होने के बाद मरहठों का कांटा तो उनके मार्ग से हट गया और अब उन्होंने निर्भीक होकर देश में हाथ-पाँव मारने शुरू कर दिये।

पहले-पहल तो लौटते हुये अब्दाली की सेना पर खालसा जत्थों ने पीछे से छापे मारने शुरू किये और इसके लिये लगभग चालीस हज़ार खालसा सेना एकत्र हुई। उन्होंने छोटी-छोटी टोलियों में बँट कर जेहलम नदी तक अहमदशाह अब्दाली का पीछा किया। लूट का माल जो शत्रु दिल्ली से अपने साथ लाया था उसका कुछ भाग खालसा ने उससे छीन कर उनका बोझा हलका कर दिया। इसके बाद उन्होंने अपना ध्यान लाहौर की ओर फेरा। हाल ही में गवर्नर ओबेद खां ने चढ़तसिंह के निवासस्थान गुजरांवाला पर आक्रमण किया परन्तु अपनी बहुत सी युद्ध-सामग्री खालसा के हाथ में छोड़ कर वापस आया। अब खालसा की बारी आई। सरदार जस्सा सिंह अहलोवालिया के अधीन दल खालसा ने सुसज्जित हो कर लाहौर की ओर कूच किया और किले में ख़्वाज़ा ओबेद को जा घेरा। इस प्रकार नगर और दुर्ग खालसा के हाथ लगे। खालसा की मनोभावना पूर्ण हुई। प्रान्त की राजधानी पर उनका अधिकार हो गया। चुनांचे उसी समय जस्सा सिंह की ओर से यह आज्ञा हुई कि खालसा के नाम का सिक्का चलाया जाय।

खालसा के इतिहास में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। क्योंकि यह वह निशानी थी कि जिससे पता लग सकता था कि सिखों की आगामी नीति क्या होगी। अब उनका साहस दुगुना हो गया और उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया कि वे पंजाब लेकर ही रहेंगे।

ज्योंही अब्दाली को यह सूचना मिली वह आग बगूला हो गया और उसने एक बार फिर पंजाब की ओर जाने का निश्चय किया। फरवरी सन् १७६२ में वह एक भारी सेना के साथ लाहौर पहुँचा। उसे समाचार मिला कि खालसा एक बड़ी सेना के साथ नवाब जैन खान मालीरकोटला नरेश को घेरे हुये है। वह बड़ी तीव्र गति के साथ जल्दी से १५० मील की दूरी समाप्त करके और दो नदियाँ पार करके छत्तीस घण्टे के अन्दर ही अन्दर आ पहुँचा खालसा ने मुकाबला तो डट कर किया परंतु शत्रु की संख्या अत्यधिक थी और सिखों को शाह के सहसा चढ़ आने की सूचना भी नहीं मिली थी। साथ ही शाह का तोपखाना भी बढ़िया था इस लिये सिक्खों की हार हुई। इस संघर्ष में कम से कम पंद्रह हज़ार जानों की हानि हुई। 'पन्थ प्रकाश' का रचयिता रत्नसिंह लिखता है कि शायद ही कोई ऐसा सिख सैनिक या अफसर हो जिसके शरीर पर कोई घाव न लगा हो। अभी तक यह घटना सिख इतिहास में 'घलुघारा' के नाम से प्रसिद्ध है। केवल दो तीन मास ही लाहौर की प्राप्ति को हुये थे कि यह विपदा आ पड़ी।

'दल खालसा' के पंद्रह हजार व्यक्तियों का मारा जाना पंथ के लिये कभी पूर्ण न होने वाली क्षति थी। परंतु वाहगुरु ने खालसा को शक्ति के वे जौहर प्रदान किये थे कि खालसा आठ मास के पश्चात् अक्टूबर सन् १७६२ में फिर अब्दाली के मुकाबले पर आ डटा। इस बार खालसा की संख्या साठ हज़ार बतलाई जाती है। दीवाली के अवसर पर सिख जत्थेदार अमृतसर में इकट्ठे हुए। ध्वस्त हरि मन्दिर और बुर्जों को देखकर उनका रक्त खौलने लगा। यह बरबादी अहमद शाह अब्दाली के साम्प्रदायिक उत्साह और दीवानेपन का परिणाम थी। चुनांचे खालसा ने एकत्र होकर अब गुरमत्ते पास किये कि अब की बार यदि अब्दाली के मुकाबले पर डटे तो उसे पराजित कर के ही रहेंगे और

जीते जी मैदान नहीं छोड़ेंगे। चुनांचे अब्दाली भी मुकाबला करने के लिये लाहौर से बाहर निकल पड़ा। दिन भर लड़ाई होती रही। इस बार अब्दाली के पास पर्याप्त सेना न थी। आखिर रात के अँधेरे से लाभ उठाकर अब्दाली वापस लाहौर आ गया और एक मास के बाद जब उसकी सेना काश्मीर का प्रबंध करके दिसंबर के मास में वापस आ गई तो उसने दोबारा सिखों का पीछा शुरू किया। परंतु सिख उसके काबू में आने वाले नहीं थे। अमृतसर को छोड़ कर वे लाखी जंगल में घुस गये।

दिसंबर सन् १७६२ में शाह ने काबुल लौटने का निश्चय किया। जैनखान को सरहिन्द का राजा, घमंड चंद कटेच को जालंधर का और दीवान काबलीमल को लाहौर प्रान्त का राज्यपाल नियुक्त किया गया। शाह के लौटने की देर थी कि खालसा ने अपने वशवर्ती स्थानों को वापस लेकर उन्हें मज़बूत करना प्रारम्भ कर दिया और सिखों के विरुद्ध कार्यवाही करने वाले लोगों को दण्ड भी दिये जाने लगे। जनवरी सन् १७६४ में लगभग पचास हज़ार सेना के साथ फुलकियाँ, भंगी, अहलोवालिया तथा शहीदी मिस्ल आदि के सरदारों ने सरहिन्द के शासक जैनखान को पराजित करके सरहिन्द पर अधिकार कर लिया। यह प्रान्त यमुना और सतलज नदी के बीच स्थित है। इसकी आमदनी पचास लाख रुपए वार्षिक से कुछ ज़्यादा थी। सन् १७६५ में काबलीमल को लाहौर से निकाल दिया और शहर और किले पर ख़ालसा का अधिकार हो गया। सूबा बिस्त जालंधर पहले ही इनके कब्ज़े में आ चुका था। चुनांचे ख़ालसा ने अब अपना सिक्का भी जारी कर दिया। उस पर यह शब्द अंकित किये गये—

देग, तेग, फतह व नुसरत बे दरंग
याफ्त अज़ नानक गुरु गोविंदसिंह[1]

अहमदशाह ने दो एक बार पंजाब लेने का प्रयत्न किया परंतु उसे सफलता नहीं हुई। मुग़ल सरकार पहले ही खतम हो चुकी थी। इस तरह खालसा का रास्ता साफ़ हो गया।

इस अराजकता और अशान्ति के समय में लोगों को सुरक्षा और किसी प्रकार की शासन-व्यवस्था की आवश्यकता थी। खालसा ने 'राखी परम्परा' प्रचलित करके इसकी नींव रख दी थी, अतएव लोगों की ओर से भी इनको पूरी-पूरी सहायता मिलती रही।

---

[1] ये शब्द बंदा बहादुर ने अपनी सरकारी मोहर पर भी अंकित कर रखे थे।

तीसरा अध्याय

सिख मिस्लें तथा उनके इलाके (१७६५-१७९९)

सिख मिस्लों की नींव

यह बताया जा चुका है कि दल खालसा के ग्यारह बारह भाग किये थे और प्रत्येक भाग में एक सरदार नियत किया गया था। बाद में जिस समय 'राखी सिस्टम' चालू किया गया इन्हीं सरदारों के सुपुर्द इलाके भी किये गये। इन बड़े-बड़े सरदारों को मिस्लदार और जत्थेदार भी कहते थे। अतएव हम भी इस पुस्तक में 'मिस्ल' शब्द ही व्यवहार करेंगे।[1] बारह मिस्लों के विभिन्न नाम थे। मिस्लें अपने संस्थापकों के नाम या किसी विशेषता के कारण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारी जाती थीं। यह मिस्लें निम्नलिखित थीं—

१— भंगी मिस्ल

यह मिस्ल सब मिस्लों में बलशाली और प्रमुख गिनी जाती थी। इस का संस्थापक जसा सिंह जाट था, जो गाँव पंजवार ज़िला अमृतसर का निवासी था। यह व्यक्ति बंदा बहादुर की सेना में सम्मिलित था। जसा सिंह के बाद मिस्ल की बाग सरदार जगत सिंह ने सँभाली। कहा जाता है कि जगत सिंह भंग बहुत पीता था, इसी वजह से यह मिस्ल भंगी मिस्ल के नाम से प्रसिद्ध हुई। गुजर सिंह, सोभा सिंह और लहना सिंह सरदार जिन्होंने सन् १७६४ ई० में लाहौर पर अधिकार कर लिया इसी मिस्ल के सरदार थे। लाहौर के अतिरिक्त अमृतसर, तरनतारन, स्यालकोट, गुजरात तथा चन्योट भी इसी मिस्ल के वशवर्ती स्थानों में थे। कुछ समय के लिये मुलतान का नगर तथा दुर्ग भी उनके अधिकार में आ गये थे। इस मिस्ल का सैनिक बल दस हज़ार सवार के लगभग बताया जाता है।

२—रामगढ़िया मिस्ल

इस मिस्ल की नींव जिला अमृतसर के ख़ुशहाल सिंह जाट ने डाली थी। ख़ुशहाल सिंह पहले बंदा की फ़ौज में भरती था। इस की मृत्यु पर जसा सिंह तरखान इस मिस्ल का सरदार नियुक्त हुआ। यह व्यक्ति अत्यंत साहसी और बहादुर सैनिक था। अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों के समय यह सिखों का प्रमुख नेता था। इसने अमृसर के रामरूनी दुर्ग को सुदृढ़ बनाया और उसका रामगढ़ नाम रक्खा। इसी कारण इसकी मिस्ल का नाम रामगढ़िया मिस्ल पड़ गया। रामगढ़िया मिस्ल के अधिकार में दोआबा बिस्त जालंधर का कुछ भाग, बटाला, रियाड़की, श्रीहरगोविन्दपुरा, कादियाँ और कलानौर के क़स्बे थे। जब महाराजा रणजीतसिंह ने इस मिस्ल को विजय किया तो इनके अधिकार में एक सौ से अधिक दुर्ग थे। इस मिस्ल का सैनिक बल तीन हज़ार सवारों पर आश्रित था।

३—कन्हैया मिस्ल

इस मिस्ल का संस्थापक सरदार अमर सिंह गाँव काहना काछ, ज़िला लाहौर का निवासी था। इसी लिए यह मिस्ल काहने वाली या कन्हैया मिस्ल के नाम से प्रसिद्ध हुई। अहमद शाह अब्दाली

[1] कनिंघम और प्रिन्सप के कथनानुसार मिस्ल अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ बराबरी है। यह जत्थे बराबरी के उसूल या मंतव्य पर बने थे, इसलिये मिस्ल के नाम से पुकारे गए हैं। परन्तु यह दुरुस्त नहीं है। यह शब्द उस समय भी धागे में पिरोए हुए कागजों के जत्थे के लिये बरता जाता था जैसे कि आज कल। जब सरदार लोग अपनी-अपनी विजय प्राप्त करके अकाल तख़त की शरण में एकत्र होते थे तो प्रधान प्रत्येक सरदार द्वारा जीते हुये इलाके उसकी मिस्ल मे दरज कर देता था ताकि यदि दूसरे अवसर पर जरूरत हो तो इस मिस्ल को देख लिया जावे।

के समय में जय सिंह कन्हैया इस मिस्ल का विख्यात सरदार था, जिसकी सरदारी में इस मिस्ल ने बड़ी उन्नति की। इसके अधिकार में दोआबा बारी अर्थात् ब्यास और रावी के बीच की भूमि थी, और प्रदेश कोहिस्तान की तलहटी तक फैले हुए थे। शाहपुर, गुरदासपुर, मुकेरियां, गढ़ोठा, हाजीपुर और पठानकोट इसी मिस्ल के अधीन थे। महाराजा रणजीतसिंह की शादी इसी सरदार जय सिंह की पौत्री से हुई थी। इस मिस्ल का सैनिक बल लगभग आठ हज़ार सवारों का था।

४—अहलूवालिया मिस्ल

प्रसिद्ध सरदार जसा सिंह कलाल इस मिस्ल का सब से पहला सरदार था, जिसने खालसा दल की नींव रक्खी थी। जसा सिंह का पहले फैज़लपुरिया मिस्ल से संबद्ध था। सरदार कपूर सिंह भी उसे बहुत चाहता था। जब उसका अपना बल भी समुचित रूप से बढ़ गया तो उसने अपनी नई मिस्ल स्थापित कर ली। जसा सिंह अहलू गाँव का रहने वाला था। इस लिये इस मिस्ल को अहलूवालिया कहते हैं। वर्तमान रियासत कपूरथला का संस्थापक सरदार जसा सिंह था। इस मिस्ल का बल तीन हज़ार सवारों का ख़्याल किया जाता है तथा इसके अधीन द्वाबा विस्त जालंधर में कपूरथला, तलंवडी, जंडियाला, नूर महल, बंगा, बाला चौर और द्वाबा बारी में गोविन्दवाल, जलालाबाद, फतहआबाद आदि दस लाख रुपए वार्षिक आय के इलाके सम्मिलित थे।

५—सुकरचकिया मिस्ल

इस मिस्ल की नींव सन् १७५१ ई० के लगभग सरदार चड़त सिंह ने डाली थी, जिसके पूर्वज गुजरानवाला के निकट मौज़ा सुकरचक में रहते थे। इसलिये यह मिस्ल सुकरचकिया कहलाई। महाराजा रणजीतसिंह के पिता सरदार महान सिंह के समय में इस मिस्ल का सैनिक बल लगभग पचीस सौ सवारों का था तथा उनके वशवर्ती स्थानों में से अधिक प्रसिद्ध रोहतास, चकवाल, पिण्डी घेप, पिण्ड दादान खान, नमक सार खीवड़ा, अहमदाबाद, भेरा और मियानी थे।

६—नकई मिस्ल

इस मिस्ल का संस्थापक सरदार हीरा सिंह था। यह मिस्ल अहमद शाह अब्दाली के समय में स्थापित हुई। हीरा सिंह लाहौर ज़िले की वर्तमान तहसील चूनियां के परगने फ़रीदाबाद का निवासी था। इस प्रदेश को 'मुल्क नका' कहते थे। इसी लिए यह मिस्ल नकई के नाम से विख्यात हुई। इस मिस्ल के अधिकार का प्रदेश मुल्तान तक फैला हुआ था और शर्क़पूर, गोगेरा, दीपालपुर, शेरगढ़, बहिड़वाल तथा कोट कमालिया इत्यादि इसी में सम्मिलित थे। महराजा रणजीतसिंह का विवाह इसी मिस्ल के एक सरदार ज्ञान सिंह की बहन से हुआ था। इस मिस्ल का सैनिक बल दो हज़ार सवारों का माना जाता है।

७—डलेवाली मिस्ल

गुलाब सिंह इस मिस्ल का संस्थापक था, जो डेरा बाबा नानक के निकट मौज़ा डलीवाल का निवासी था। इस मिस्ल के सरदार तार सिंह घैबा ने सरहिंद को तहस-नहस किया। इस मिस्ल के अधिकार में सतलज नदी के पश्चिम का देश था। इसके सैनिक बल का अनुमान आठ हज़ार सवारों का है। फिलौर, नवांशहर, राहू, निकोदर और गढ़ शंकर भी इन्हीं के अधिकार में थे।

८—निशानवालिया मिस्ल

इस मिस्ल की नींव संत सिंह और मोहर सिंह सरदारों ने रखी थी। यह दोनों सरदार दल ख़ालसा के पताका-वाहक थे। इसी कारण इस मिस्ल को निशानवालिया मिस्ल कहते हैं। यह मिस्ल अंबाला ज़िले पर अधिकार रखती थी, यद्यपि इस के कुछ अधीन प्रदेश सतलज के पश्चिम में भी स्थित थे। इस मिस्ल का सैनिक बल बारह हज़ार सवारों का था।

६—करोड़सिंघिया मिस्ल

इस मिस्ल का संस्थापक करोड़ा सिंह था जिसके कारण इस मिस्ल का नाम करोड़सिंघिया पड़ गया। इस मिस्ल के अधिकार में सतलज नदी के पश्चिमी किनारे से मिले प्रांत थे, जो करनाल तक फैले हुए थे। होशियारपुर, बसी कलां, हरियाना तथा श्याम चौरासी भी इसी भाग में स्थित थे। इसका बल बारह हज़ार सवारों का था।

१०—शहीदि या निहंग मिस्ल

यह सब मिस्लों से छोटी मिस्ल थी। इस मिस्ल के सरदार उन बहादुरों के वंशज थे जो गुरु गोविंद सिंह जी के झंडे तले दमदमा के निकट शहीद हुए थे। इसी कारण यह शहीद मिस्ल कहलाई। इसी मिस्ल में गुरु गोविंद सिंह के अकाली खालसा या निहंग खालसा भी सम्मिलित थे, जो बहुधा शरीर पर नीले रंग के कपड़े और सिर पर लोहे का चक्र पहिनते हैं। यह मिस्ल भी सतलज के पश्चिम के प्रदेशों पर अधिकारी थी और इसका बल दो हज़ार सवारों का था।

११—फैज़लपुरिया अथवा सिंहपुरिया मिस्ल

इस मिस्ल का संस्थापक नवाब कपूर सिंह पहले-पहल बंदा बहादुर की फ़ौज में भरती हुआ और अपनी बहादुरी के कारण सरदारों के पद पर पहुँचा। कपूर सिंह बहादुर सिपाही होने के अतिरिक्त कुशाग्र बुद्धि और दूरदर्शी सेनापति भी था। इसकी मिस्लवालों ने इसे नवाब की पदवी दी और वह इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह व्यक्ति मौज़ा फ़ैजलपूर ज़िला अमृतसर का निवासी था। इसी लिए इसकी मिस्ल इस नाम से विख्यात हुई। 'दल खालसा' का बानी भी यही था। इस मिस्ल के अधिकार के प्रांत सतलज नदी के दोनों तटों पर स्थित थे। इसका सैनिक बल ढाई हज़ार सवारों का था।

१२—फुलकियां मिस्ल

चौधरी फूल नामी एक व्यक्ति ने इस मिस्ल की नींव डाली। इस लिए यह मिस्ल फुलकियां कहलाई। फूल भट्टी वर्ग का राजपूत था। सरदार आला सिंह जो वर्तमान पटियाला वंश का संस्थापक था और जिसे अहमदशाह अब्दाली ने अपनी ओर से १७६५ में सरहिन्द का शासक नियुक्त किया था इसी वंश का था और फुलकियां मिस्ल का ही सरदार कहलाता था। इसी मिस्ल के अन्य सरदारों ने नाभा और झींद के वर्तमान वंशों की नींव डाली थी। रियासत कैथल का संस्थापक भी फुलकियां मिस्ल के सरदारों में था। इस मिस्ल का सैनिक बल लगभग पाँच हज़ार सवारों का था।

दल खालसा का बानी भी यही

यदि अठारहवीं शताब्दी के अंत में पंजाब के चित्र पर एक दृष्टि डाली जाय तो इन मिस्लदारों की स्थिति का पूरा पूरा पता लग जाता है। द्वाबा सिंधसागर में खालसा का कुछ अधिक प्रभाव न था। रावलपिंडी के आस-पास का थोड़ा भाग मिल्खासिंह थिपुरिया के अधीन था और इसके निकट ही धनी घेप, रोहतास, पिंड दादन खान, खीवड़ा की नमक की खान और मियानी के कस्बे सरदार चढ़तसिंह सुकरचकिया के अधीन थे। इस सीमित प्रदेश के बिना जहाँ दो सिख मिस्लदारों का अधिकार था, शेष का संपूर्ण द्वाब मुसलमानों के अधीन था। जेहलम और चनाब के बीच वाले क्षेत्र में भी राजनैतिक शक्ति भंगी तथा सुकरचकिया सरदारों और मुसलमान जमींदारों के बीच बँट रही थी। भंगी सरदारों के पास गुजरात, कादराबाद, मिढ़ और विरोच इत्यादि कस्बे थे और जलालपुर, कुंजाह, भेरा इत्यादि भाग सुकरचकिया सरदारों के अधीन थे। इसके अतिरिक्त द्वाब का शेष भाग अर्थात शाहपुर, गुजरात और जेहलम के ऊपर का सम्पूर्ण पहाड़ी प्रदेश अर्थात् भिम्बर, मीरपुर और राजौरी इत्यादि मुसलमान शासकों के अधीन थे और इसी प्रकार सिख इलाकों के

दक्षिण और पश्चिम में भी साहीवाल, खुशाब और शाहपुर के भाग लड़ाके मुसलमान कुटुम्बों के अधिकार में थे। तीसरे द्वाब अर्थात् रचना का अधिकतर भाग खालसा सरदारों के अधिकार में आ चुका था। केवल इस प्रदेश के दक्षिणी भाग में अर्थात झंग, मिथ्याना और चनियोट के इलाके में चंद एक स्वाधीन मुसलमान जमींदारों की छोटी-छोटी रियासतें शेष रह गई थीं।

सिख सरदारों में से सुकरचकिया सरदार की राजधानी गुजरांवाला में थी और उसके आस-पास का क्षेत्र ऐमनाबाद, वज़ीराबाद, हाफ़िज़ाबाद, नौशहरा और रामनगर इत्यादि इसी सरदार के अधीन थे। इसके अतिरिक्त ज़िला सियालकोट का अधिकतर भाग भंगी सरदारों और उनके संबंधियों के पास था। जफ़रवाल, कलोवाल, और किला सोभासिंह इत्यादि कस्बों में भागसिंह अहलोवालिया ने अपने थाने कायम कर रखे थे। इसी प्रकार पसरूर, घमतल, घड़तल, शरकपुर और कोट कमालिया के कस्बे नकई मिस्ल के सरदारों के पास थे। तलवंडी मूसा खां में सरदार नाहरसिंह अपना सिक्का जमाये बैठा था और तसका इलाक़ा सरदार निधानसिंह हट्टू के पास था। भाव यह कि झंग, चनियोट और शोरकोट के बिना सारा द्वाब सिखों के आधिपत्य में आ चुका था। इससे आगे रावी नदी और सतलज नदी के मध्य का भाग आता है। यहां सुकर-चकिया मिस्ल का कोई दख़ल न था। इसका दक्षिणी भाग तो मुलतान के नवाब मुजफ्फर खान की रियासत में सम्मिलित था और उसके उत्तर में चुनियां, दीपालपुर, शेरगढ़, बहरवाल तथा फरीदाबाद इत्यादि नकई सरदारों के प्रशासन में थे। उनके ऊपर लाहौर तथा अमृतसर के प्रसिद्ध शहरों में भंगी सरदारों के हैडक्वार्टर थे। लाहौर के पड़ोस में कसूर के कस्बे में पठानों की एक स्वाधीन रियासत थी। तरन तारन और पठानकोट का कुछ भाग भी भंगी सरदारों के अधीन था।

भंगी सरदारों के पड़ोस में गोयंदवाल, वीरोवाला, फतहआबाद तथा दूसरे चंद एक वशवर्ती स्थान अहलोवालिया मिस्ल के अधीन थे। उसके ऊपर का इलाक़ा बटाला, रज़ियाकी, श्रीहरगोविन्दपुर, कादिया तथा कलानौर इत्यादि रामगढ़िया मिस्ल के अधीन थे। उसके ऊपर अर्थात पहाड़ की तलहटी में सुजानपुर, गुरदासपुर, शाहपुर इत्यादि चंद एक परगने कन्हैया मिस्ल के प्रशासन में थे। द्वाबा बिस्तजालंधर अर्थात सतलज और व्यास नदी के बीच वाले प्रदेश में कोई भी उल्लेखनीय स्थान मुसलमानों के अधीन नहीं था और न तो यहां नकई मिस्ल का कोई दख़ल ही था।

कपूरथला, जण्डियाला, तलवण्डी, नूरमहल, बंगा तथा बालाचूर अहलोवालिया सरदारों के शासन-क्षेत्र में सम्मिलित थे। फिलौर, नवांशहर, राहूं, निकोदर, तथा गढ़ शंकर इत्यादि डले वाले सरदारों के वशवर्ती स्थान थे। ऊपर के भाग में हाजीपुर, मुकेरियां, गिरौट कन्हैया मिस्ल के भाग में आ चुके थे। इसी प्रकार उड़मुड़ टांडा, मियानी और मनीपुर इत्यादि रामगढ़िया सरदार ने सँभाल रखे थे। हरियाना, श्यामचौरासी, होश्यारपुर तथा छोटी और बड़ी बसी करोड़सिंहिया सरदारों के मातहत थे। इससे आगे सरहिंद तथा यमुना नदी तक का विस्तृत क्षेत्र आता है। इस द्वाब का अधिकतर भाग फुलकियां के सरदारों के आधिपत्य में आ चुका था, जिनमें सरदार आल्हासिंह की संतान का मुख्य स्थान पटियाला तथा बरनाला था। राजा गजपतसिंह के उत्तराधिकारी जीन्द और सफेदों पर अधिकारी थे तथा जसवंतसिंह की रियासत की राजधानी नाभा में थी। चुनांचे फुलकियां के दूसरे वशवर्ती स्थान अर्थात कैथल, भदौड़ लाडुवा, थानेसर, कलसिया इत्यादि भी इसी द्वाब में स्थित थे। यह सारा प्रदेश लगभग इक्कीस लाख वार्षिक आय का था और इनकी सेना की संख्या तेरह या चौदह हज़ार थी। इस भाग में मुसलमान नवाबों की तीन चार पाकटें अर्थात मालीर कोटला, कुञ्जपुरा, धुलाना और झज्जर स्थित थीं। इनके अलावा हांसी तथा हिस्सार में जार्ज टामस अपना अधिकार जमाये हुये था और साथ ही मरहठा सरदार महादा जी सिंधिया का फ्रांसीसी जरनैल परैन शिक्षित सेना का एक पर्याप्त बड़ा दस्ता लेकर सिख सरदारों के ऐन सिर पर विद्यमान

था। अंग्रेज़ भी इस प्रदेश के विषय में और विशेषकर सतलज पार के प्रदेश के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर रहे थे ताकि वे अवसर मिलने पर फ्रांसीसियों या मरहठों से पीछे न रह जाँय।

सिख मिस्लदारों के परस्पर संबंध

सिखों का सम्मिलित बल लगभग सत्तर हज़ार सवारों का था। इस बड़ी सेना के साथ उन्होंने अपने विजयों को नित्य-प्रति बढ़ाना आरंभ किया। ऊपर इसकी चर्चा हो चुकी है कि सिखों में कोई केंद्रीय शासन न था, जो विभिन्न सरदारों को वश में रखता और सिख शासन को सुदृढ़ बनाता। प्रत्येक सरदार अपने शासन-क्षेत्र में स्वतंत्र था; जो जी में आता था करता था। हां, किसी बाहरी आक्रमण के समय यह सब सरदार मिल जाते थे और सब खालसा के झंडे के नीचे एकत्र होकर पंथ की रक्षा के लिए लड़ते थे। परंतु बाहरी भय की अनुपस्थिति में एक दूसरे के साथ युद्ध करने में भी वे संकोच नहीं करते थे। इन मिस्लों की सीमाएं स्पष्ट रूप से नियत न थीं और एक-दूसरे के प्रदेशों से मिली हुई थीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मिस्ल के भीतर भी फूट और झगड़े के बीज उपस्थित थे। प्रत्येक व्यक्ति मिस्ल का सरदार बनने का प्रयत्न करता था।

इस संबंध का परिणाम

अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण सदा के लिए बंद हो चुके थे। देश की कोई भीतरी शक्ति सिखों की बराबरी की न थी। सिख लोग जो तलवार के धनी थे, कैसे चुप चाप खड़े रह सकते थे? अतएव उन्होंने अपने बल को आंतरिक युद्धों में व्यय करना आरंभ किया। अवसर पाकर अपने साथी सरदारों पर आक्रमण करते और खूब लड़ते। आपाधापी का बाज़ार गर्म हुआ और 'जिस की लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। अतएव अठारहवीं सदी के अंत के पचीस वर्षों का पंजाब का इतिहास इन्हीं आपस के कलहों की कहानी है। एक मिस्ल के सरदार दूसरी मिस्ल के सरदारों के साथ मिल कर तीसरी मिस्ल पर आक्रमण करते। कभी दो तीन मिस्लों की सम्मिलित फ़ौज किसी और मिस्ल के देश पर अधिकार कर लेती। सारांश यह कि पूरी अव्यवस्था फैली हुई थी। इन्हीं दिनों अर्थात् सन् १७८४ में एक अंग्रेज़ यात्री मिस्टर फ़ारेस्टर पंजाब से गुज़रा, जिसने सिखों की दशा को अपनी आँखों देखा। वह लिखता है कि मिस्लदारों की हुकूमत इस ढंग पर रहनी असंभव है। इन में से कोई न कोई ऐसा सरदार अवश्य पैदा होगा, जो सब मिस्लदारों को अधीन कर के अपना बलशाली शासन स्थापित करेगा। उस की यह भविष्यवाणी यथार्थ भी हुई। मिस्टर फ़ारेस्टर के लिखने से चार साल पहले ही पंजाब में वह व्यक्ति पैदा हो चुका था, जिसने बड़ा हो कर इस बात का बीड़ा उठाया और थोड़े समय में ही सिख सरदारों तथा मुसलमान नवाबों को जीत कर पंजाब में एक साम्राज्य स्थापित किया। आइए, यह जानने का प्रयत्न करें कि वह कौन था और किस वंश से उसका संबंध था तथा उसको किस तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अंत में इस वीर ने किस प्रकार उन पर विजय पाई।

चौथा अध्याय

महाराजा रणजीतसिंह के वंश का पूर्व-इतिहास

सरदार बुद्धसिंह

वह अद्भुत व्यक्ति जो मिस्टर फ़ारेस्टर की भविष्य-वाणी पूरी करने, सिख सरदारों के आंतरिक कलह को दूर करने, एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने और पंजाब को नये सिरे से एक राजनैतिक शक्ति बनाने के लिये पैदा हुआ था महाराजा रणजीतसिंह था। यह सुकरचकिया मिस्ल का सरदार था। इस मिस्ल की नींव अहमद शाह अब्दाली के आक्रमण के समय में सरदार चढ़तसिंह ने डाली थी। सरदार चढ़त सिंह के पूर्वज सन् १५५५ ई० में मौज़ा सुकरचक में बसे थे। यह ज़मींदार थे और कई पुश्तों तक खेती पर ही गुज़र करते थे। इस वंश का पहला व्यक्ति जिसने सिख धर्म स्वीकार किया बुद्धू मल था जो बाद में बुधसिंह[1] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बुद्धसिंह जब बालिग़ हुआ तो सुन्दर और सुगठित जवान निकला और स्वभाव का बड़ा निडर सिद्ध हुआ। उस हलचल के समय में बुधसिंह ने अपने जैसे मनचले बहादुरों का एक गरोह इकट्ठा कर लिया। डाके मारने शुरू किए और जल्दी ही अपने आस-पास के प्रदेशों में अपनी वीरता के लिए भी सुप्रसिद्ध हो गया।

सुकरचक में अपने निवास के लिए क़िला जैसा एक घर भी बना लिया। बुधसिंह की सारी आयु इसी प्रकार के धावे मारने में व्यतीत हुई। उसके शरीर पर तलवार के तीस घाव और गोलियों के नौ निशान मौजूद थे।

सरदार नोधसिंह

सरदार बुधसिंह के दो बेटे थे, एक का नाम नोधसिंह और दूसरे का चंदासिंह था। नोधसिंह का विवाह सन् १७३० ई० में मौज़ा मजीठा, ज़िला अमृतसर में, एक अमीर ज़मींदार की कन्या के साथ हो गया। नोधसिंह भी अपने बाप की तरह बड़ा बहादुर, साहसी, निडर और योद्धा प्रमाणित हुआ। थोड़े ही समय में चारों ओर उसके नाम की धाक बँध गई। नादिरशाह के आक्रमण के समय, गिरी हुई दशा से लाभ उठाने के निमित्त, नोधसिंह ने और भी अधिक हाथ-पाँव मारने शुरू किए। अधिक लूट-मार के उद्देश्य से नोधसिंह फ़ैजलपुरिया मिस्ल के सरदार नवाब कपूर सिंह के साथ मिल गया। एक बार दोनों ने मिलकर अहमद शाह अब्दाली के पड़ाव पर भी छापा मारा, जिसके कारण नोध-सिंह कई नामी सरदारों से बढ़ गया और उसने अपने छोटे से गरोह की प्रतिष्ठा और ख्याति सब के हृदयों में स्थापित कर दी। सरदार नोधसिंह सन् १७५२ ई० में मर गया।

सरदार चढ़तसिंह

सरदार नोधसिंह के चार बेटे थे। चढ़तसिंह, दलसिंह, चैतसिंह और माधोसिंह। सब से बड़े बेटे चढ़तसिंह की अवस्था इस समय बीस वर्ष की थी। उसी ज़माने में सरदार जस्सासिंह अहलूवालिया और सरदार हरीसिंह व झंडासिंह भंगी ने अपनी-अपनी मिस्लें स्थापित कर ली थीं और पृथक्-पृथक् प्रदेशों पर अधिकारी हो चुके थे। चढ़तसिंह यद्यपि आयु में छोटा था परंतु बड़ा तेज़ और समझदार था। उसने मित्रों से यह सलाह की कि प्रदेशों के चुने-चुने बहादुरों को इकट्ठा करके उन्हें भी एक नई मिस्ल की नींव डालनी चाहिए। चढ़तसिंह यत्न-शील और मेल-मिलाप वाला युवक था। दो वर्ष के भीतर ही अपने उद्देश्य को व्यावहारिक रूप देने में वह सफल हुआ। लगभग एक सौ सवार और

---

[1] मुंशी सोहन लाल 'रोज़नामचा रंजीतसिंह' में लिखते हैं कि बुधसिंह ने गुरु हरराय के समय में सिख धर्म स्वीकार किया। गुरु हरराय सन् १६६१ ई० में मरे थे।

प्यादों को साथ लेकर उसने अपनी मिस्ल का झंडा खड़ा किया। उसके ससुर अमीरसिंह और उसके बेटे गुरुबख्शसिंह ने चड़तसिंह के इस साहस में बढ़ावा दिया और पर्याप्त सहायता भी पहुँचाई। अमीरसिंह यद्यपि उस समय बुढ़ापे के पंजे में था, अपने समय का बड़ा वीर और योद्धा सैनिक था। गूजरानवाला के लोग उसके नाम से काँपते थे। इस कारण चड़तसिंह के काम में सुगमता हो गई। मुंशी सोहन लाल अपनी पुस्तक में यह चर्चा करते हैं कि चड़तसिंह ने यह नियम निर्धारित कर दिया था कि वही व्यक्ति मेरी मिस्ल में प्रवेश कर सकता है जो केश रक्खे और अमृत चक्खे। अतएव मिस्ल में भरती करने से पूर्व वह स्वयं लोगों को अमृत चखाया करता था।

एमनाबाद की लूट

एमनाबाद का मुसल्मान शासक वहाँ की हिंदू प्रजा को सताया करता था। चड़तसिंह ने अवसर अच्छा जाना। यद्यपि उसकी मिस्ल को स्थापित हुए थोड़ा ही समय हुआ था परंतु चड़तसिंह ने अपने नौजवानों को साथ लेकर एमनाबाद को घेरा लिया। बहुत से धन तथा माल के अतिरिक्त शाही शस्त्रगार से बहुत सी बंदूकें व अन्य अस्त्र और शाही अस्तबल से सैकड़ों घोड़े चड़तसिंह के हाथ लगे। इस सफलता से सरदार चड़तसिंह का साहस और भी द्विगुणित हो गया। उसने गुजरानवाला में एक सुदृढ़ दुर्ग का भी निर्माण कर लिया।

लाहौर के शासक का गुजरानवाले पर आक्रमण

गुजरानवाला लाहौर से छत्तीस मील की दूरी पर है। लाहौर के सूबेदार ख़्वाजा ओबैद ने सरदार चड़तसिंह को इस गुस्ताख़ी का मज़ा चखाने के लिए गुजरानवाला पर चढ़ाई कर दी। ख़्वाजा ओबैद के साथ बहुत लोग थे। चड़तसिंह ने अपने बनाए नए क़िले में शरण ली। रात के समय जब अवसर मिलता ख़्वाजा की फ़ौज पर छापा मार कर फिर भीतर छिप रहता। इसी बीच में कई एक दूसरे सरदार भी चड़तसिंह की सहायता के लिये आ पहुँचे और उन्होंने ख़्वाजा ओबैद की सेना के इर्द-गिर्द घेरा डाल लिया। ख़्वाजा ने घेरा उठाने में ही भलाई समझी और अवसर पाकर रणभूमि से भाग निकला। चड़तसिंह अपने नौजवानों को लेकर दुश्मन की फ़ौज पर टूट पड़ा। शाही सेना को उसने खूब लूटा। लड़ाई का बहुत-सा सामान सैकड़ों ऊँट और घोड़े सरदार के हाथ आए।

सरदार चड़तसिंह की विजय

सरदार चड़तसिंह ने अपने क़िले को और भी सुदृढ़ बना लिया। अब उसकी मिस्ल का बल अच्छा बढ़ चुका था। अतएव उसके मन में देश-लाभ की आकांक्षा समाई। वज़ीराबाद के प्रदेश से मुसल्मान हाकिम को निकाल कर स्वयं अधिकारी बन गया और उस प्रदेश पर इलाक़े की थानेदारी अपने साले गुरुबख़्शसिंह को सौंप दी। जेहलम नदी के पार पिंड दादनख़ाँ और उसके आस-पास के प्रदेशों पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ एक मज़बूत किला इसी साल बनवाया। चड़तसिंह ने खीयुडे की नमक की खान पर अधिकार प्राप्त किया, जो उसके लिए आय का साधन सिद्ध हुआ। धनी और पुठुहार के इलाक़े विजय किए। चकवाल, जलालपुर इत्यादि के ज़मींदारों को अपना आश्रित बनाया। चड़त सिंह अभी जेहलम नदी के क़रीब अहमदाबाद में ही स्थित था कि उसे समाचार मिला कि अहमदशाह अब्दाली अटक पहुँच गया है। अतएव सरदार ने रोहतास के प्रसिद्ध क़िले पर चढ़ाई कर दी। अब्दाली के क़िलेदार नूरुद्दीन ख़ाँ को मार भगाया और क़िले पर अधिकार करके अपना थाना क़ायम कर लिया। सारांश यह कि पंद्रह वर्ष के थोड़े समय में चड़तसिंह ने अपने अधिकार को खूब बढ़ाया। इसकी मिस्ल ने दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक़्क़ी की। गूजरानवाला, वज़ीराबाद, रामनगर, खीयुडे की खान, रोहतास, पिंड दादनख़ाँ और धनी के इलाक़े इसकी रियासत में सम्मिलित थे, जिनकी सालाना आय लगभग तीन लाख रुपए थी।

सरदार चड़तसिंह की मृत्यु—सन् १७७१ ई०

जिस दिन से सरदार चड़तसिंह ने पिंड दादनखां और खीयुड़े की नमक की कान पर अपना अधिकार स्थापित किया उस दिन से ही भंगी सरदार उसके घोर वैरी बन गए। दोनों में युद्ध आरंभ हो गया। अतएव समय-समय पर दोनों मिस्लों में लड़ाइयाँ होती रहीं। अंत में सन् १७७१ ई० में जब दोनों पक्षों की सेनाएँ युद्ध-स्थल में[1] एकत्रित हो रही थीं तब सहसा सरदार चड़तसिंह की अपनी नई बंदूक छूट गई। इससे वह बुरी तरह घायल हुआ और थोड़े ही समय में मर गया।

माई देसां का शासन प्रबंध

सरदार चड़तसिंह के दो बेटे महानसिंह और सहजसिंह और एक बेटी थी। बड़े बेटे महान सिंह की आयु उस समय केवल दस वर्ष की थी। अतएव चड़तसिंह की विधवा स्त्री माई देसां ने रियासत का प्रबंध अपने हाथों में लिया, जिसमें उसके भाइयों गुरुबख़्शसिंह और दलसिंह ने उसकी बहुत मदद की। माई देसां बड़ी दुनिया देखी, अनुभवी और होशियार स्त्री थी। उसने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए अपनी बेटी का ब्याह भंगी सरदार के बेटे साहबसिंह से कर दिया, जिसके कारण दोनों मिस्लों में वैर की आग कुछ काल के लिए ठंडी पड़ गई। उसके थोड़े समय बाद अपने बेटे महानसिंह का ब्याह जींद के सरदार गजपतसिंह की बेटी से रचाया। माई देसां ने अपनी नई मिस्ल को सुदृढ़ करने के लिए ब्याह-संबंधों का आश्रय लिया और गुजरानवाला के दुर्ग को और भी दृढ़ किया।

सरदार महानसिंह का गद्दी पर बैठना

इतने समय में महानसिंह ने होश सँभाल लिया और मिस्ल की बागडोर अपने हाथों में ले ली। अपने पिता की भाँति विजयों का क्रम फिर से जारी किया। नूरुद्दीन से दूसरी बार रोहतास का किला छीन लिया और स्यालकोट के निकट कोटली अहंगरान पर अपना अधिकार कर लिया। इस स्थान के कारीगर बंदूकें बनाने में निपुण थे और महानसिंह ने इससे पूरा लाभ उठाया तथा अपनी फ़ौज को नई बंदूकों से सजाया।

रसूल नगर की विजय—सन् १७७६ ई०

रसूलनगर का हाकिम पीरमुहम्मद ख़ां चठा जाति के पठानों में से था। यह स्वभाव से बड़ा कट्टर धार्मिक था और सिखों से विशेष वैर रखता था। युवक महानसिंह को यह बात पसंद न आई अतएव सन् १७७६ में उसने रसूलनगर पर आक्रमण कर दिया। पीर मुहम्मद खां ने खूब डट कर सामना किया परंतु अंत में हार गया। महानसिंह ने नगर पर अधिकार कर लिया। नगर का नाम रसूलनगर से बदल कर रामनगर रक्खा और यह आज तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि पीर मुहम्मदख़ां ने महानसिंह से हार स्वीकार कर ली थी, किंतु बहादुर चठा जाति के हृदय में बदले की आग सुलग रही थी, इस लिए वह बाग़ी हो गए। सरदार महानसिंह ने तीन वर्ष बाद दूसरी बार आक्रमण किया। इस बार उसने अलीपूर और मंचल आदि क़सबों पर भी अधिकार कर लिया। अलीपूर का नाम अकालगढ़ रक्खा।

रणजीत सिंह का जन्म

रसूलनगर पर विजय करके महानसिंह वापस आया। गुजरानवाला में प्रवेश करते ही उसे यह शुभ समाचार मिला कि उसके यहां बेटा पैदा हुआ है। महानसिंह ख़ुशी के मारे फूला न समाया।

---

[1] इस घटना को इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित किया है। हमारा वर्णन मुंशी सोहन लाल की पुस्तक पर आश्रित है। कप्तान रीड ने भी मुंशी सोहन लाल को ही प्रमाण माना है। परंतु सैयद मुहम्मद लतीफ़ और राय बहादुर कन्हैयालाल ने कप्तान मरे की रिपोर्ट के आधार पर यह लिखा है कि चड़त सिंह की मृत्यु जम्मू के आक्रमण के समय सन् १७७४ ई० में, उसकी अपनी बंदूक छूटने से हुई थी।

वह उसी समय युद्ध में विजय प्राप्त कर के आया था। अतएव उसने इस विजय के उपलक्ष में अपने बेटे का नाम रणजीतसिंह रक्खा और कहा कि मैं आशा करता हूँ कि यह सदा युद्ध में विजयी होगा। आगे जाकर मालूम होगा कि महानसिंह का यह अनुमान बिल्कुल ठीक प्रमाणित हुआ। रणजीतसिंह ने, १३ नवंबर सन् १७८० ई०, सोमवार के दिन, दोपहर के समय में जन्म लिया था।[1]

पिंडी भटियां इत्यादि का दौरा

चठा जाति पर विजय प्राप्त करने के कारण महानसिंह की ख्याति बढ़ गई। खालसा जत्थेदारों में उसका नाम ऊँचा हो गया। अतएव बड़े-बड़े सरदार उसकी मिस्ल में सम्मिलित होने लगे, और इससे सेना की शक्ति में बढ़ती हो गई। अब सरदार महानसिंह ने पिंडी भटियां, साहीवाल और ईसाखैल तक का दौरा किया और बहुत धन और माल प्राप्त किया।

जम्मू पर आक्रमण

सन् १७८२ ई० में जम्मू का राजा रणजीत देव मर गया। उसके दोनों बेटों ब्रजराज देव और दिलेरसिंह में गद्दी के लिए झगड़ा हो गया। भंगी सरदारों ने एक-आध बार पहले भी जम्मू पर हाथ मारने का प्रयत्न किया था। अतएव महानसिंह ने इस अवसर को हाथ से जाने न दिया। जम्मू पर चढ़ाई की। ब्रजराज देव मुक़ाबले का साहस न करके तरकोटा की पहाड़ियों में जा छिपा। महानसिंह की फ़ौज ने जम्मू के धनशाली नगर को जी भर कर लूटा और वहां से बहुत धन और दौलत जमा कर के रामनगर से होता हुआ गुजरानवाला वापस लौटा।

जयसिंह कन्हैया से युद्ध

इसी साल सरदार महानसिंह दीवाली के अवसर पर अमृतसर स्नान के लिए आया। यहां यथा-नियम बड़े-बड़े सरदार उपस्थित थे। सरदार जयसिंह कन्हैया भी उपस्थित थे। सिख मिस्लदार जयसिंह का बड़ा आदर करते थे। अतएव महानसिंह भी उसके डेरे पर उससे भेंट करने गया। वहां जम्मू की लूट-मार के संबध में बात-चीत आरंभ हुई। जयसिंह कन्हैया महानसिंह की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर ईर्षा की ज्वाला में जल-भुन रहा था। बात-चीत के बीच में कुछ कड़े शब्द उपयोग कर बैठा। महानसिंह ने भी वैसा जवाब दिया। मामला बढ़ गया और युद्ध की नौबत पहुँच गई। महानसिंह के लिए एक शक्तिशाली मिस्ल के सरदार से अकेला मुक़ाबला करना कठिन था। अतएव उसने रामगढ़िया मिस्ल के सरदार जस्सासिंह से पत्र-व्यवहार आरंभ किया। जस्सासिंह का इलाका जयसिंह ने छीन लिया था और वह बेचारा सतलज के पार हाँसी-हिसार के इलाके में मारा-मारा फिरता था। महानसिंह की सहायता से आश्वासित होकर वह पंजाब लौटा। जयसिंह ने कांगड़ा के शासक राजा संसारचंद का इलाक़ा भी छीन लिया था। अतएव संसारचंद भी उनके साथ मिल गया। तीनों ने मिल कर जयसिंह पर चढ़ाई कर दी और बटाले पर अधिकार कर लिया। जयसिंह का बहादुर पुत्र गुरुबख़्शसिंह फ़ौज लेकर आगे बढ़ा। घमासान युद्ध हुआ। गुरुबख़्शसिंह लड़ता हुआ मारा गया। कन्हैया फ़ौज के पाँव उखड़ गए। जयसिंह को संधि के अतिरिक्त कोई उपाय न रह गया। परिणाम-स्वरूप जस्सासिंह और संसारचंद को उनके इलाक़े मिल गए।

जयसिंह की पोती से रणजीतसिंह की सगाई

इस युद्ध में महान सिंह ने अपनी शक्ति और बहादुरी की छाप जयसिंह के हृदय पर बिठा दी थी और गुरुबख़्शसिंह की मृत्यु से बूढ़े सरदार की तमाम आकांक्षाओं पर पानी फिर चुका था।

---

[1] मुंशी सोहन लाल ने अपनी पुस्तक में रणजीतसिंह का जन्मपत्र दिया है, जिसमें वह लिखता है कि रणजीतसिंह का जन्म नाम बुधसिंह था। परन्तु उसने महाराजा के जन्म स्थान के विषय में विस्तृत रूप से वर्णन नहीं किया। किंवदन्ती के अनुसार वह अपने ननिहाल में बदरुखां के स्थान पर, जो कि जीन्द रियासत की राजधानी संगरूर के निकट स्थित है, पैदा हुआ था।

अतएव उसने गुरुबख़्शसिंह की स्त्री सदा कौर के कहने पर महानसिंह के साथ विवाह-संबंध स्थापित करना ही नीतियुक्त समझा। अतएव स्वर्गगत गुरुबख़्शसिंह की लड़की की मँगनी महानसिंह के पुत्र रणजीतसिंह से कर दी गई। अब दोनों मिस्लों में मेल का संबंध स्थापित हो गया जिससे रणजीतसिंह ने अपने आरंभिक युद्धों में पूरा लाभ उठाया। इसकी चर्चा आगे चल कर की जायगी।

भंगी सरदारों से युद्ध

पहले बताया जा चुका है कि महानसिंह की बहन का ब्याह साहबसिंह भंगी से हुआ था और वह एक-दूसरे से प्रेम और मैत्री का दम भरते थे। परंतु हुकूमत और रिश्तेदारी का साथ निभना कठिन है, क्योंकि हुकूमत रिश्तेदारी पर वश प्राप्त कर लेती है। अतएव सन् १७८० ई० में जब साहबसिंह के पिता गूजरसिंह की मृत्यु हुई तो साहबसिंह गुजरात की सूबेदारी पर नियुक्त हुआ। महानसिंह ने उससे शासकीय कर माँगा। साहबसिंह के वंश का संबंध सदा से भंगी सरदारों के साथ रहा था। इस लिए उसने नज़राना देने से इन्कार कर दिया। इस कारण उनका आपस में युद्ध छिड़ गया। साहबसिंह सामना करने का साहस न कर सका। गुजरात छोड़ कर सोहधरा के क़िले में जा बैठा।

सोहधरा के क़िले का घेरा

महानसिंह ने क़िले का अवरोध आरंभ कर दिया। इसी घेरे के अवसर पर एक दिन यकायक महानसिंह की तबियत ख़राब हो गई। उसका स्वास्थ्य कार्य की अधिकता के कारण पहले से ही बिगड़ चुका था। अब वह दिन-दिन अधिक बीमार होता गया। अंत में अवरोध का भार अपने बेटे रणजीतसिंह पर छोड़ दिया। उसकी अवस्था उस समय केवल दस वर्ष की थी। रणजीतसिंह ने अवरोध को बराबर जारी रक्खा। इसी बीच में भंगी सरदारों ने साहबसिंह की सहायता के लिये सेना के दो दल भेजे। परंतु रणजीतसिंह ने उन्हें रास्ते में ही रोक लिया और उन्हें अचेत पाकर उन पर आक्रमण किया। भागने के अतिरिक्त कोई उपाय उनके लिए न रहा। बहुत से हथियार और कई तोपें रणजीतसिंह के हाथ आईं।

सरदार महानसिंह की मृत्यु : ५ वैशाख संवत १८४७

अभी यह अवरोध समाप्त भी न हुआ था कि महानसिंह कुछ देर बीमार रह कर तीस साल की भरी जवानी में परलोक सिधारा। सरदार महानसिंह बड़ा हिम्मत वाला, प्रतिष्ठित और बुद्धिमान मनुष्य था। उसने अपनी थोड़ी अवस्था में ही सुकरचकिया मिस्ल को बड़ी उन्नति प्रदान की, प्रदेशों और दौलत से उसे मालामाल कर दिया और उसकी सैनिक शक्ति में पर्याप्त वृद्धि की।

पाँचवाँ अध्याय

महाराजा रणजीतसिंह का समृद्धि-काल

(सन् १७६० से १८०३ ई० तक)

रणजीतसिंह का सुकरचकिया मिस्ल का शासन सँभालना

सरदार महानसिंह अपने जीवन-काल में ही रणजीतसिंह के अभिषेक का उत्सव कर चुका था, अतएव उसकी मृत्यु पर रणजीतसिंह बिना किसी प्रकार की आपत्ति उठे, सुकरचकिया मिस्ल का सरदार स्वीकार कर लिया गया। रणजीतसिंह अभी दस वर्ष का बच्चा था।[1] यद्यपि यह बाल्यावस्था में अपने पिता के साथ कई लड़ाइयों में सम्मिलित हुआ था लेकिन फिर भी इस अवस्था में शासन का भार सँभालना उसके लिए बहुत कठिन था। आगे इस बात का वर्णन किया जा चुका है कि रणजीतसिंह की सगाई स्वर्गीय गुरुबख्शसिंह कन्हैया की लड़की से हो चुकी थी। गुरुबख्शसिंह की विधवा रानी सदाकौर बड़ी बुद्धिमती स्त्री थी। ऐसे आड़े वक्त में वह अपने अल्पवयस्क दामाद के काम आई। रणजीतसिंह की माता ने भी सहायता की, जिससे रणजीतसिंह का बोझ हल्का हो गया।

रणजीतसिंह का बाल-बाल बचना—सन् १७९३ ई०

रणजीतसिंह को लड़कपन से ही शिकार खेलने का बड़ा शौक़ था। एक बार वह शिकार की खोज में मौज़ा लधेवाली के निकट जा पहुँचा, जो चठों के इलाक़े में था। रणजीतसिंह अपने साथियों से बिछुड़ कर अकेला रह गया था। संयोग से चठा जाति का नवाब हशमत ख़ाँ भी अपने नौकरों समेत वहाँ शिकार खेलने में व्यस्त था। अचानक उसकी दृष्टि रणजीतसिंह पर पड़ी। सरदार महानसिंह ने इसे कई बार परास्त किया था। वह बदला लेने का अवसर ढूँढ रहा था। उसे अपना बदला लेने का यह स्वर्ण अवसर प्रतीत हुआ। निकट से तलवार का पूरा वार किया। परंतु 'जाको राखे साँई मार न सके कोई' के अनुसार रणजीतसिंह डर कर ज़ीन से सरक गया। तलवार बाग पर लगी जिस के दो टुकड़े हो गए। रणजीतसिंह ने पीछे मुड़कर देखा तो मामला दूसरा ही पाया। शेर की तरह गरजा और गुर्रा कर हशमत ख़ाँ पर जा डटा और आन की आन में उसका सर तन से जुदा कर दिया। ख़ाँ के नौकरों ने जो यह देखा तो हवा हो गए। रणजीतसिंह ख़ाँ का सिर अपने भाले पर चढ़ा कर अपने साथियों से आ मिला और सारा माजरा कह सुनाया, जिसे सुनकर वे दंग रह गए। रणजीतसिंह की बहादुरी की प्रशंसा की और ईश्वर को धन्यवाद दिया।

रणजीतसिंह का विवाह—सन् १७९६ ई०

सोलह वर्ष की अवस्था में रणजीतसिंह ने अपनी शादी रचाई। एक बहुत बड़ी बारात धूम के साथ बटाला क़स्बे में गई, जहाँ नाच-रंग तमाशों से लोगों का आमोद किया गया। रणजीतसिंह की उदारता ने लोगों को मोह लिया। कुछ दिन बाद रणजीतसिंह दुल्हन लेकर गुजरानवाला वापस आया।

---

[1]महाराजा रणजीतसिंह की जन्म-तिथि मुंशी सोहनलाल और दीवान अमरनाथ ३ मगहर संवत् १८३७ विक्रमी, सोमवार तदनुसार १३ नवंबर सन् १७८० ई० लिखते हैं; और सरदार महानसिंह की मृत्यु-तिथि ५ वैशाख सं० १८४७ वि० तदनुसार १४ अप्रैल सन् १७९० ई० है। सैयद मुहम्मद लतीफ़ और प्रिंसेप का यह कहना कि रणजीतसिंह की अवस्था उस समय १२ वर्ष की थी ठीक नहीं है। रायज़ादा रत्नचन्द ने भी अपनी पुस्तक खालसानामा में यही तिथियाँ लिखी हैं।

रामगढ़ियों के विरुद्ध सदाकौर की सहायता

इसी वर्ष जस्सासिंह रामगढ़िया ने सरदार जयसिंह की मृत्यु से लाभ उठा कर कन्हैया मिस्ल के अधिकार के प्रदेशों पर हाथ साफ़ करना आरंभ किया, अतएव रानी सदाकौर ने रणजीतसिंह से सहायता माँगी। रणजीतसिंह ने दीवान लखपतराय को इलाक़ा धनी की तरफ़ रवाना किया और स्वयं सरदार फ़तहसिंह धारी, सरदार जोधसिंह और सरदार दलसिंह वज़ीराबादिया के साथ बटाला की तरफ़ रवाना हुआ और रामगढ़िया के क़िला मियानी का अवरोध आरंभ किया। वर्षा ऋतु के कारण शहर के चारों ओर बहुत-सा पानी जमा हो गया था, इस वजह से रणजीतसिंह को अवरोध उठा लेना पड़ा।

लाहौर के सरदारों से भेंट और क़िले का निरीक्षण

बटाला जाते हुए रणजीतसिंह ने अपनी सेना को आगे भेज दिया और आप दो-तीन दिन के लिए लाहौर में रह गया। लाहौर के सरदारों—सरदार चेतसिंह और सरदार मोहरसिंह—से बात-चीत की, जिन्होंने रणजीतसिंह की खूब आवभगत की। इस अवसर पर उसे लाहौर का क़िला देखने का भी मौक़ा मिला और संभवतः जैसा कि रणजीतसिंह का इतिहासकार सोहनलाल संकेत करता है, इसी समय रणजीतसिंह के हृदय में क़िला प्राप्त करने की आकांक्षा जागृत हुई।[1]

रणजीतसिंह का दूसरा विवाह

रणजीतसिंह के पहले विवाह के कारण सुकरचकिया और कन्हैया मिस्लों में आपस में मेल हो गया था। अब दूरदर्शी रणजीतसिंह ने अपनी शक्ति को और भी सुदृढ़ करने के लिए नकई मिस्ल के सरदारों से मेल-जोल आरंभ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १७९८ ई० में सरदार ज्ञानसिंह नकई की बहन के साथ रणजीतसिंह का विवाह निश्चित हो गया। बारात गूजरानवाला से प्रस्थान करके मरालीवाला और शेख़पूरा होती हुई क़स्बा सतघरा पहुँची, जहाँ सरदार ज्ञान सिंह ने बारात का बड़े उत्साह से स्वागत किया और बहुत कुछ दहेज़ देकर बारात को विदा किया। रणजीतसिंह का बेटा खड़कसिंह इसी रानी की कोख से उत्पन्न हुआ था।

मिस्ल की शासन-डोर अपने हाथ में लेना

दीवान लखपत राय महानसिंह का विश्वस्त वज़ीर था। सुकरचकिया के कुल प्रदेशों की आय और व्यय का सारा हिसाब इसी दीवान के पास रहता था। सरदार महानसिंह को दीवान की योग्यता पर पूरा भरोसा था और वह उसकी सचाई पर पक्का विश्वास रखता था। अतएव मरते समय अपने बेटे रणजीतसिंह का हाथ दीवान लखपत राय और अपने मामा वज़ीराबाद के शासक सरदार दलसिंह के हाथों देकर उन्हें इसका निरीक्षक नियुक्त किया था। कुछ समय तक तो इसी प्रकार काम चलता रहा परंतु दीवान लखपत राय और सरदार दलसिंह एक दूसरे से ईर्ष्या करते थे, इसलिए यह सरदार दीवान के विरुद्ध रणजीतसिंह के कान भरा करता था। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह की सास सदाकौर भी उसे मिस्ल का प्रबंध अपने हाथों में ले लेने के लिए उकसाया करती थी। रणजीतसिंह की अवस्था अब अठारह साल की थी। वह स्वयं भी इस बात की आवश्यकता का अनुभव करता था। संयोगवश दीवान लखपत राय धनी के इलाक़े में मालगुज़ारी वसूल करता हुआ सन् १७९८ ई० में मारा गया और रणजीतसिंह ने अपनी माता के परामर्श से मिस्ल की शासन-डोर अपने हाथ में ले ली।

रणजीतसिंह पर अपनी माता के वध का झूठा अभियोग

दीवान लखपत राय के क़त्ल के संबंध में प्रिंसप और मुहम्मद लतीफ़ लिखते हैं कि इस मामले में सरदार दलसिंह का हाथ था। कप्तान मरे अपनी रिपोर्ट में संकेत-रूप में यह भी प्रकट करते हैं कि

---

[1] देखिए उमदतुत्तवारीख़, दफ़्तर २, पृष्ठ ३१

दीवान लखपत राम का रणजीतसिंह की माता से प्रेम-संबंध था और रणजीतसिंह ने अपनी माता को या तो स्वयं क़त्ल कर दिया या मरवा डाला। परंतु मुहम्मद लतीफ़ ने इस संकेत को बहुत विस्तार देकर विस्तृत-रूप से बयान किया है। अपनी उक्तियों की पुष्टि में उसने कोई प्रमाण नहीं दिए। केवल यह लिख दिया है कि सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि रणजीतसिंह ने अपनी माता की बुरी चाल-चलन के कारण उसका वध कर दिया। परंतु हमें अपनी खोज में किसी प्रामाणिक इतिहासकार की शाक्षी नहीं मिली, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि यह कथन सत्य है। कप्तान मरे और वेड की रिपोर्टों का अधिकांश सुनी-सुनाई बातों पर अवलंबित था। मुंशी सोहन लाल, दीवान अमर नाथ और बूटी शाह इस बात का बिल्कुल वर्णन नहीं करते। यह मान भी लिया जावे कि सोहन लाल और अमर नाथ महाराजा के दरबार में नौकर थे, इस लिए इस विषय पर उनका मौन अधिक महत्व नहीं रखता, परन्तु बूटी शाह सतलुज के पार अंग्रेज़ी इलाके का रहने वाला था। वह न तो हिन्दू था और न सिख धर्म का अनुयायी, बल्कि अंग्रेजों के पास नौकर था और उन्हीं की प्रेरणा से वह अपनी पुस्तक लिख रहा था। वह इस बात की ओर संकेत तकभी नहीं करता, वरन् इसके विरुद्ध अपनी पुस्तक में एक स्थल पर इस प्रकार लिखता है कि रणजीतसिंह ने अपनी माता के परामर्श से मिस्ल के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली थी।[1]

शाहज़मां का पंजाब पर आक्रमण—सन् १७६८ ई०

अहमदशाह अब्दाली के बेटे तैमूर की मृत्यु पर उसका लड़का शाहज़मां सन् १७९३ ई० में काबुल की गद्दी पर बैठा। शाहज़मां ने अपने दादा का अनुकरण करना उचित जान कर पंजाब पर अधिकार करने की ठान ली। सन् १७९३ ई० से सन् १७९८ ई० तक उसने एक के बाद एक करके चार आक्रमण किए। परंतु उसे प्रत्येक बार असफल लौट जाना पड़ा, क्योंकि उसकी अपनी अफ़ग़ानी सल्तनत में झगड़े उठ रहे थे और उसका सगा भाई महमूद जो हिरात का शासक था गद्दी प्राप्त करने के प्रयत्न में था। दूसरी ओर सिखों ने भी अपना बल सुदृढ़ कर लिया था और उन्हें पराजित करना शाहज़मां के लिए सहज न था। अतएव जब दुर्रानी सेना पंजाब में आती, सिख अपने-अपने इलाके छोड़ जंगलों में छिप रहते और दुर्रानी लश्कर के पीछे से तेज़ी से वार करके उनके बहुत से सैनिक को मार डालते। इससे पूर्व कि बादशाह को उनके आक्रमण का ज्ञान हो आन की आन में यह लोग ग़ायब हो जाते। फिर जहां अवसर मिलता आक्रमण करते। सैकड़ों अफ़ग़ानों को मौत के घाट उतारने के बाद उनके घोड़े, हथियार और लूट का माल लेकर ये रफूचक्कर हो जाते। सिखों की यह चालें दुश्मनों के लिए बड़ी भयानक सिद्ध होतीं, और उन्हें बिना किसी परिणामो वापस जाने के अतिरिक्त कुछ उपाय न दिखाई देता।

शाहज़मां का लाहौर क़िले पर अधिकार

२७ नवंबर सन् १७९८ ई० में शाहज़मां लाहौर की तरफ़ बढ़ा। सामना करने के लिए किसी सरदार को उपस्थित न पाकर उसने क़िले पर अधिकार कर लिया। परंतु ख़ालसा कहां चुप बैठने वाले थे? लाहौर के आस-पास ही डेरा डाले पड़े थे। सूर्यास्त होते ही वह शहर में प्रवेश करते। भिन्न-भिन्न टोलियां दुर्रानी सेना पर छापे मारतीं, और उनका माल-असबाब लूट कर नौ-दो-ग्यारह हो जातीं और अपने डेरों में वापस आ जातीं। यह काम इतनी फुर्ती और चालाकी से होता था कि अफ़ग़ानी फौज के पहरेदारों और घूमते रहने वाले दलों तक समाचार पहुँचने-पहुँचाने में ही इस प्रकार

---

[1] "ब सलाह दीद वाल्दाह ख़ुद ब इंतिज़ाम महाम माली व मुलकी मुतवज्जः शुद"—बूटी शाह, 'तारीख़े-पंजाब', पृ० ६३५

घुस हो जाते थे जैसे मक्खन में से बाल पार हो जाता है। इस तरह की लूट-मार से शाहज़मां बहुत दिक़ हुआ। अंत में यहां अधिक ठहरना उसने भयावह समझा और शीघ्र ही वापस चला गया।[1]

नवाब क़सूर की लाहौर पर दृष्टि

शाहज़मां के प्रस्थान करते ही तीनों भंगी सरदार वापस लाहौर आ पहुँचे और उन्होंने नगर पर पहले की भाँति अधिकार कर लिया। लाहौर के तीनों हाकिमों में आपस में फूट रहती थी, इस कारण आए दिन उनमें युद्ध और अनबन रहती थी। इससे प्रजा बहुत कष्ट में और त्रस्त थी। आपस के झगड़ों की वजह से इन सरदारों का बल बहुत घट गया। अतएव यह खबरें जल्द ही चारों तरफ़ फैल गईं। यह हाल सुन कर क़सूर के नवाब निजामुद्दीन, की इच्छा लाहौर पर अधिकार जमाने की हो गई, और मुख्य मुख्य मुसलमान नागरिकों को अपने पक्ष में करने की इच्छा से चन्द एक भेदिये (एजेन्ट) गुप्त रूप से लाहौर में उसने भेजे, किन्तु यह भेद शीघ्र ही खुल गया और उसकी चाल असफल रही।

रणजीतसिंह का लाहौर पर आक्रमण

रणजीतसिंह की बहादुरी और साहस की ख्याति दिनों-दिन चारों तरफ़ फैल रही थी। दूरदर्शी लोगों ने इसका अनुमान कर लिया था कि एक दिन यह योद्धा सारे पंजाब का सिरताज बनने वाला है। जब लाहौर के लोगों को क़सूर के नवाब के उद्देश्य का ज्ञान हुआ तो उन्होंने रणजीतसिंह की अधीनता को स्वीकार करना श्रेष्ठतर समझा। अतएव लाहौर के प्रमुख व्यक्ति, जैसे भाई गुरुबख़्श सिंह, हकीम हाकिम राय, मेहर मुहकमुद्दीन और मियां आशिक़ मुहम्मद ने अपने दस्तख़तों के साथ एक प्रार्थना-पत्र रणजीतसिंह की सेवा में भेजा, जिसमें सब हाल लिख कर उससे लाहौर पर अधिकार करने की विनय की गई थी।

रणजीतसिंह की तैयारी

रणजीतसिंह उस समय रामनगर में ठहरा हुआ था। प्रार्थना-पत्र के मिलते ही अवसर अच्छा जान कर अपने विश्वस्त क़ाजी अब्दुर्रहमान को लाहौर भेजा, कि वह इस बात का निश्चय करे और स्वयं वह रामनगर प्रस्थान करके अपनी सास से परामर्श करने के लिए बटाला पहुँचा। सदा कौर इस बात पर राज़ी हो गई। दोनों ने मिल कर लगभग २५००० सेना, सवार और पैदल इकट्ठा कर लिए और अमृतसर की तरफ़ कूच किया तथा रात में मौज़ा मजीठा में ठहर कर सीधे लाहौर आ पहुँचे। शहर के बाहर वज़ीर ख़ां के बाग़ में डेरे डाल दिए गए[2] और मेहर मुहकमुद्दीन इत्यादि से साज़-बाज़ आरंभ कर दिया।

लाहौर पर अधिकार—६ जूलाई सन् १७९९ ई०

रणजीतसिंह ने अपनी सेना को दो भागों में विभक्त किया—एक भाग ने रानी सदाकौर के नेतृत्व में दिल्ली दरवाज़े की तरफ़ से शहर पर आक्रमण किया और दूसरे भाग ने रणजीतसिंह के अधीन लोहारी दरवाज़े पर धावा बोला।

---

[1] इस विषय में मुंशी सोहनलाल एक मनोरंजक वर्णन करते हैं कि जब शाहज़मां लाहौर के क़िले पर अधिकार कर रहा था तो रणजीत सिंह अपने साथियों समेत तीन बार इस क़िले के निकट आया और मुसम्मन बुर्ज के नीचे खड़ा होकर जहाँ शाहज़मां बहुधा बैठा करता था, उसने गोलियाँ चलाईं जिनसे कई दुर्रानी घायल हुए और ऊंचे स्वर से कई बार यों पुकारा—'ऐ अहमद शाह अब्दाली के पोते। देख सरदार चढ़तसिंह का पोता आया है। बाहर आ और उसके दो हाथ देख ले।' परंतु जब शाहज़मां की ओर से कोई उत्तर न मिला तो वापस लौट गया। दफ़्तर २ पृष्ठ ३६

बूटी शाह ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। 'तारीख-पंजाब', पृष्ठ ६३८

[2] यह बाग़ उस स्थान पर स्थित था, जहां आज कल अजायबघर और पब्लिक लाइब्रेरी बनी हुई हैं।

रणजीतसिंह के आक्रमण का कोई सामना न कर सका। उसकी आज्ञा से दरवाज़े की नींव के नीचे बारूद भर कर आग लगा दी गई, जिससे दरवाज़े के निकट की दीवार उड़ कर दूर जा पड़ी। यह देख कर मेहर मुहकमुद्दीन की आज्ञा से द्वार भी खोल दिए गए। रणजीतसिंह दो हज़ार सवारों का दल और चार बड़ी तोपें लेकर बिजली की तरह कड़कता हुआ शहर में जा घुसा। पंजाब के शेर की बहादुरी से शहर के हाकिमों पर इतना प्रभाव पड़ा कि कोई सामना करने के लिए न आया। सरदार मोहर सिंह और साहब सिंह अपनी फ़ौजों सहित नगर ख़ाली कर गये और सरदार चेत सिंह ने अपने आप को क़िले में बंद कर लिया। रणजीतसिंह ने शहर पर अधिकार कर लिया और अपनी सेना को यह हुक्म दे दिया कि कोई नगर-निवासियों पर बलात्कार न करे। फिर क़िले की ओर ध्यान दिया और सामने मैदान में डेरे डाल दिए। क़िले पर गोलाबारी आरंभ होने वाली ही थी कि रानी सदा कौर भी आ पहुँची, जिसने बताया कि क़िले में सामान रसद पर्याप्त नहीं है, इस लिए चेत सिंह स्वयं क़िला ख़ाली कर देगा। और ऐसा ही हुआ भी। दूसरे दिन ही सरदार चेतसिंह ने अपने को सामना करने के अयोग्य पाकर क़िले को छोड़ दिया और रणजीतसिंह से उचित-रूप से जागीर प्राप्त करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली।[1]

इसके तत्काल बाद ही रणजीतसिंह ने शहर की बाहरी दीवार और क़िले की दीवार की मरम्मत आरंभ कर दी और शहर के लोहार कारीगरों को क़िले की तोपें मरम्मत करने की आज्ञा दी।

भसीन का युद्ध—मार्च सन् १८०० ई०

रणजीतसिंह के बढ़ते हुए बल को देखकर दूसरे मिस्लदारों के दिलों में ईर्ष्या की आग जल रही थी। इसके लाहौर के ऊपर अधिकार कर लेने पर यह आग और भी भड़क उठी। और इस कारण कि लाहौर सदा से पंजाब प्रांत की राजनीतिक शक्ति का केंद्र रहा है, अन्य मिस्लदारों ने रणजीत सिंह की शक्ति को अपने लिये भयावह समझा। सब ने मिलकर लाहौर छीनने का प्रयत्न कर अपने भाग्य का निर्णय करना आवश्यक जाना। अभी रणजीतसिंह को लाहौर पर अधिकार किए बहुत दिन न हुए थे कि गुलाब सिंह भंगी, साहब सिंह गुजराती, जस्सासिंह रामगढ़िया और क़सूर के शासक निज़ामुद्दीन ख़ां ने मिल कर रणजीतसिंह पर आक्रमण किया और लाहौर के निकट भसीन नामी गाँव के मैदान में डेरे डाल दिए। रणजीतसिंह ने भी सेना लेकर उनका सामना करने के लिए प्रस्थान किया। दो मास तक दोनों फ़ौजें एक दूसरे के सामने डेरा डाले पड़ी रहीं। कुछ छोटे-मोटे मोर्चे भी हुए परंतु कोई परिणाम न निकला। गुलाब सिंह भंगी शराब का मतवाला था। एक दिन वह बहुत शराब पी गया और अचानक मर गया। अब भंगी सेना ने भसीन से कूच किया। इस कारण अन्य सम्मिलित सेनाएं भी मैदान छोड़ भागीं और सफलता रणजीतसिंह के हाथ रही।

इस विजय के अनंतर बहुत से नामी सरदार रणजीतसिंह के आश्रय में आ गए, जिन्हें उनकी योग्यता के अनुसार, जागीरें, पद और ख़िलअतें दी गईं। पंजाब का शेर धूम-धाम के साथ लाहौर में प्रविष्ट हुआ। रणजीतसिंह ने विजय के उपलक्ष में हज़ारों रुपए गरीबों और दुखियों में वितरण किए और नगर में दीपमाला जलाई गई।

गड़ा हुआ ख़ज़ाना

भसीन के दो मास के युद्ध में रणजीतसिंह का बहुत रुपया ख़र्च हो चुका था। फ़ौज की तनख़्वाह देने के लिए भी ख़ज़ाने में रुपया नहीं था। रणजीतसिंह ने अपने सरदारों से सलाह की। सरदार दलसिंह के वज़ीर दीवान मुहकमचंद ने सलाह दी कि दस हज़ार रुपया लाहौर के और पाँच-पाँच हज़ार रुपया गुजरानवाला और रामनगर के सर्राफ़ों से उधार लिया जाय जो बाद में सूद सहित

---

[1]दीवान अमरनाथ इस घटना की तिथि १३ सफ़र सन् १२१४ हिज्री, तदनुसार १७ जुलाई सन् १७९९ ई० लिखते हैं। लेकिन मुंशी सोहनलाल के इतिहास के अनुसार यह घटना ३ सफ़र सन् १२१४ हिज्री तदनुसार ६-७ जुलाई १७९९ ई० की है।

अदा किया जाय। परंतु रणजीतसिंह को यह प्रस्ताव पसंद न आया। संयोग-वश नगर से बाहर पयावा बुद्ध् में से बीस हज़ार रुपए मूल्य की सोने की अशर्फ़ियां गड़ी हुई मिलीं, जिससे फ़ौज में तनख़्वाह बाँटी गई।[1]

जम्मू पर चढ़ाई

इधर से छुट्टी पाकर रणजीतसिंह ने जम्मू पर चढ़ाई की। रास्ते में मीरोवाल और नारोवाल पर विजय प्राप्त की और आठ हज़ार रुपया नज़राने के रूप में वसूल किया। इसके बाद जसरवाल के किले को एक ही आक्रमण में अधिगत किया। यहां से कूच करके जम्मू से चार मील की दूरी पर डेरा लगाया। जम्मू का राजा सामना करने के लिए तैयार न था। अतएव सब अधिकारियों को साथ लेकर रणजीतसिंह से भेंट करने आया और बीस हज़ार रुपया और एक हाथी पंजाब के शेर को भेंट किए। रणजीतसिंह ने राजा को एक मूल्यवान ख़िलअत प्रदान की और वापस चला आया। अब रणजीतसिंह स्यालकोट की ओर रवाना हुआ। यहां से नज़राना प्राप्त किया। बाद में दिलावरगढ़ पर विजय प्राप्त की। इस प्रकार सारे इलाक़े का दौरा करता, और नज़राने वसूल करता हुआ लाहौर आ पहुँचा।

गुजरात पर धावा

भंगी सरदारों को लाहौर हाथ से जाते रहने का बहुत शोक था और वे हर समय रणजीत सिंह के विरुद्ध षड्यंत्र में लगे रहते थे। रणजीतसिंह ने अपनी सेना और तोपख़ाना गुजरानवाला से मँगवा कर लाहौर ही में जमा किया था। भंगी सरदार साहबसिंह गुजरात वाले ने इस अवसर को उचित जाना और सरदार दलसिंह अकालगढ़ वाले से मिल कर गुजरानवाला पर आक्रमण की तैयारी करने लगे। सरदार महानसिंह ने दलसिंह को अकालगढ़ की जागीर प्रदान की थी। अतएव जब रणजीतसिंह को इन तैयारियों का पता लगा तो उसे बहुत गुस्सा आया। फ़ौरन दस हज़ार सिपाहियों और बीस तोपों को साथ लेकर गुजरात पर धावा बोल दिया। भंगी सरदारों ने शहर और क़िले के दरवाज़े बंद कर लिए और बाहरी दीवार के ऊपर से रणजीतसिंह की सेना पर गोलाबारी आरंभ कर दी। रणजीतसिंह का तोपख़ाना भी सामना करने के लिए डट गया और उसने ईंट का जवाब पत्थर से दिया। साहबसिंह ने अपने आप को मुक़ाबले के अयोग्य पाया और रातोंरात आदमी भेजकर बाबा साहबसिंह को बुलवाया जिसने रणजीतसिंह से शांति की शर्तें तै करके शहर की रक्षा की।

अकालगढ़ पर अधिकार

इसके बाद रणजीतसिंह अकालगढ़ की तरफ़ बढ़ा। सरदार दल सिंह को अपने साथ लाहौर ला कर नज़रबंद कर दिया। बाद में बाबा केसरा सिंह सोढी की सिफ़ारश पर उसे छोड़ दिया, और अपने सामने बुला कर ख़ूब लज्जित किया। दलसिंह ने अपनी निर्दोषता का बड़े विनम्र भाव से विश्वास दिलाया। रणजीतसिंह ने उसकी संपत्ति उसे वापस कर दी। परंतु उसे अपनी अनुपयुक्त कृति पर इतना शोक हुआ कि अकालगढ़ पहुँच कर थोड़े समय बाद ही वह मर गया। रणजीतसिंह शोक प्रकट करने के लिए अकालगढ़ गया और दलसिंह की स्त्री के गुज़ारे के लिए उचित जागीर प्रदान करके अकालगढ़ के इलाक़े को उसने अपने इलाक़े में सम्मिलित कर दिया।

अँग्रेज़ी सरकार की भेंट (नवंबर १८०० ई०)

इन्हीं दिनों अंग्रेजी सरकार का एजेंट यूसुफ़ अली खां रणजीतसिंह के दरबार में उपस्थित हुआ और अंग्रेजों की सरकार की ओर से मूल्यवान भेंट और मैत्री का संदेश लाया। रणजीतसिंह ने

---

[1] देखिए मुंशी सोहनलाल लिखित 'उम्दतुत्तवारीख़' दफ़्तर २ पृष्ठ ४६। रायबहादुर कन्हैयालाल इस घटना का दूसरी तरह वर्णन करते हैं। वह यह कि यह ख़ज़ाना और कुछ तोपें नवाब मीर मनू ने किले के भीतर ज़मीन में गाड़ी थीं और इसका समाचार इसी वर्ष एक बूढ़े ने रणजीतसिंह को दिया था।

अंग्रेज़ी एजेंट का बड़ा सम्मान किया। उसे पाँच वस्त्र खिलअत रूप में प्रदान किए और मैत्री के संदेश के साथ अमूल्य भेंट देकर विदा किया।

मीर यूसफअली के लाहौर दरबार में आगमन की पुष्टि अंग्रेज़ी पत्र व्यवहार से भी होती है। बल्कि इन पत्रों से तो यह भी विदित होता है कि किस प्रकार अंग्रेज़, फ्रांसीसी और सिख सरदार एक दूसरे के साथ शतरंज की चालें चल रहे थे, | तथा इस बात का भी पता 'चलता है कि रणजीत सिंह अपने शासन-काल के प्रारम्भ में ही अंग्रेज़ों के साथ राजनीतिक-एकता को स्थायी रखने की ओर झुक चुका था। मरहट्टा सरदार दौलतराव सिन्धिया के जरनैल पैरन ने सन् १८०१ में जीन्द नरेश राजा भाग सिंह को यह पत्र लिखा कि वह अपने भांजे रणजीतसिंह को सुझा-बुझा कर अंग्रेजों के साथ मित्रता स्थापित करने से रोके रखे। चुनांचे भाग सिंह ऐसा करने पर तैयार हो गया। और रणजीतसिंह को इस बात की प्रेरणा दी तथा साथ ही यह भी लिखा कि वह अपने लाहौर के कार-खाने की बनाई हुई दो तोपें भी पैरन को उपहार के रूप में भेज दे। परन्तु रणजीतसिंह ने ऐसा करने में भलाई नहीं समझी वरन् उसने राजा भागसिंह का हू-बहू पत्र मिस्टर के कॉलिनज़ को भेज दिया। और साथ ही उसे फिर से विश्वास दिलाया कि वह मीर यूसफ अली द्वारा भेजे गये मित्रता के संदेश का पूर्ण-रूप से सम्मान करेगा और इस पर दृढ़ रहेगा।

शाह ज़मान की तोपों वाली घटना

कई एक इतिहासकारों ने लिखा है कि अपने अन्तिम आक्रमण के बाद जब शाह जमान वापस काबुल जाता हुआ जेहलम नदी को पार कर रहा था तो उसकी कुछ तोपें नदी में डूब गईं, जो बाद में रणजीतसिंह ने निकलवा कर काबुल में भिजवा दीं और इससे प्रसन्न होकर शाह ज़मान ने इस नवयुवक सिख सरदार को अपनी ओर से लाहौर का शासक नियुक्त कर दिया।

हमें अपनी खोज के दौरान में चन्द एक अंग्रेजी पत्र मिले हैं जो इस घटना पर पूरा प्रकाश डालते हैं। मीर यूसफअली, जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, लाहौर में पहुँचने से पहले सरहिन्द के सरदारों से मिल चुका था। ज्यों-ज्यों वह इन सरदारों से मिलता, और जो बात उनके बीच होती वह प्रतिदिन लिखकर मिस्टर कॉलिनज़ को भेज दिया करता। और मिस्टर कॉलिनज़ उन्हें इकट्ठा करके और अंग्रेजी में अनुवाद करके कलकत्ता में गवर्नर जनरल की सेवा में भेज दिया करता। इन पत्रों में यूसफअली लिखता है कि भाईलाल सिंह कैथल वाले के साथ जिस समय मेरी रणजीतसिंह तथा शाहज़मान के परस्पर संबंधों के विषय में बातचीत हुई भाईलालसिंह ने कहा कि काबुल सम्राट ने रणजीतसिंह के मंत्री दलसिंह को प्रसन्न करके उसके द्वारा अपनी तोपें महाराजा से वापस ले ली थीं। जब रणजीतसिंह ने तोपें वापस करने का वचन कर लिया तो उस समय दलसिंह ने शाहज़मान को पत्र लिख दिया कि आप अपना विश्वस्त अधिकारी भेजकर अपनी तोपें वापस मँगवा लेवें। चुनांचे टेकसिंह काबुल दरबार की ओर से आया और अपनी तोपें वापस ले गया! वह महाराजा रणजीतसिंह के लिये शाहज़मान की ओर से दो बढ़िया नसल के घोड़े, एक बहुमूल्य खिलअत और सूखे मेवे उपहार के रूप में लाया। एक दूसरे पत्र में जो कि यूसफअली ने लाहौर पहुँच कर महाराजा से भेंट करने के बाद ११ अक्टूबर सन् १८०० में मिस्टर कॉलिनज को लिखा था इससे भी इस घटना की पुष्टि होती है। रणजीतसिंह के अपने पत्र में भी जो कि उसने मिस्टर कॉलिनज़ को जनवरी १८०१में लिखा था, तोपें वापस करने का वर्णन मिलता है।

देखिये अंग्रेजी पत्र जनवरी सन् १८०१, जनवरी सन् १८०२, जून सन् १८०२ पूना रैज़ीडैंसी करे-स्पाण्डैंस, प्रति ६ सन् १८०० से १८०३ तक, महाराजकुमार रघुबीरसिंह कृत। हम इसके लिए अपने माननीय मित्र श्री सूर्य नारायण राव एम० ए० के कृतज्ञ हैं जिन्होंने इन पत्रों की प्रतिलिपि हमें भेजी।

अब रहा यह प्रश्न कि क्या शाह ज़मान ने प्रसन्न होकर तोपों के बदले में रणजीतसिंह को लाहौर के शासक का पद प्रदान किया। उपरोक्त पत्रों से तो स्पष्ट है कि रणजीतसिंह ने लाहौर पर अधिकार करने के बाद शाहज़मान को उसकी तोपें लौटाईं। ऐसा संभव है और रणजीतसिंह से यह आशा भी की जा सकती है कि जिस समय सरदार दलसिंह के समझाने बुझाने पर वह तोपें लौटाने के लिए मान गया हो तो उसने यह शर्त रख दी हो कि शाह ज़मान उसे यह लिखित रूप में दे दे कि आगे के लिये वह तथा उसके उत्तराधिकारी लाहौर प्रांत से अपना दावा उठा लेंगे और रणजीत सिंह को ही इसका शासक मान लेंगे। संभव है इस प्रकार की कोई गोल-मोल चिट्ठी शाहज़मान ने अपने विश्वस्त टेकसिंह के हाथ लिखकर भेज दी हो जिसके आधार पर इतिहासकार यह लिखते आये हों कि शाहज़मान ने रणजीतसिंह को पंजाब का राज्यपाल नियुक्त कर दिया। इस घटना के चौंतीस (३४) वर्ष पश्चात् जब शाहज़मान का भाई शाह शुजाह काबुल की बादशाही के लिए दोबारा तैयार हो रहा था और अंग्रेज़ों तथा रणजीतसिंह से सहायता मांग रहा था तो रणजीतसिंह ने सहायता देते समय शाह शुजाह से यह लिखवा लिया था कि वह काबुल का राज्य लेने के बाद महाराजा से पेशावर इत्यादि का भाग वापस नहीं माँगेगा। यदि सन् १८३४ में जिस समय कि उसकी शक्ति इतनी प्रबल थी, रणजीतसिंह ऐसी बात कर सकता है तो सन् १८०० में भी जब कि उसके राज्य का अभी श्री गणेश ही हुआ था, ऐसी घटना का घटित होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है।

युवराज खड़क सिंह का जन्म १२ फागुन सं० १८५७ बि०

मार्च मास सन् १८०१ ई० में रानी दातार कौर नकई के पेट से रणजीतसिंह के यहां पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम खड़कसिंह रखा गया। देश में बड़ी खुशी मनाई गई। ग़रीबों और अनाथों में रुपया बाँटा गया। सेना में भी इनाम बाँटे गए। रणजीतसिंह ने तोशाख़ाने के अधिकारी करमसिंह को आज्ञा दे दी कि जो कोई याचक आए उसे संतुष्ट कर दे। चालीस दिन लगातार खुशियां मनाई गईं और जलसे होते रहे।

महाराजा की उपाधि ग्रहण करना अप्रैल सन् १८०१ ई०

संवत् १८५८ विक्रमी के आरंभ में रणजीतसिंह ने लाहौर में एक विशाल जलसा रचाया जिस में सब बड़े-बड़े सरदार एकत्र हुए। इसमें यह निश्चय हुआ कि रणजीतसिंह महाराजा की उपाधि ग्रहण करें। इस उत्सव के मनाने के लिए वैसाखी का शुभ दिन नियत हुआ। उस दिन किले के भीतर दीवान-आम में बड़ी शान का दरबार लगाया गया, जिसमें दूर-दूर के इलाक़ों के सिख सरदार सम्मिलित हुए। धार्मिक कर्मकांडों के अनंतर बाबा साहबसिंह बेदी ने पंजाब के शेर को महाराजा की उपाधि दी और तिलक लगाया। उपस्थित लोगों ने महाराजा पर पुष्प वर्षा करके अपनी प्रसन्नता प्रकट की। महाराजा की ओर से बहुत-साधन दान किया गया। सरदारों को उनके पद के अनुसार ख़िलअतें प्रदान हुईं।[1]

महाराजा का नया सिक्का चलाना

उसी दिन इस उत्सव के उपलक्ष में नया सिक्का जारी करने का प्रस्ताव उपस्थित हुआ। कवियों ने महाराजा के नाम पर कविताएँ लिखकर पेश कीं, परंतु महाराजा ने अपने नाम पर कोई पद्य पसंद न किया वरन् श्री गुरु नानक जी के नाम पर सिक्का चलाना उचित समझा। अतएव रुपए का नाम नानकशाही रुपया और पैसे का नानकशाही पैसा रखा गया। नए सिक्के पर यह पंक्तियां अंकित की गईं—

---

१ विस्तृत हाल जानने के लिए दीवान अमरनाथ का 'ज़फ़रनामा रणजीतसिंह' व बाबा प्रेमसिंह कृत 'महाराजा रणजीतसिंह' देखिए।

देग व तेग व फ़तह व नुसरत बे दरंग ।
याफ़्त अज़ नानक गुरू गोबिंद सिंघ ॥

पहले दिन जितने सिक्के टकसाल से निकले दान कर दिए गए। चाँदी के रुपए का तौल ११ माशा दो रत्ती नियत हुआ। बाद में भी यही तौल रुपए की असली मात्रा समझी गई।

प्रबंध-संबंधी परामर्श

रिवाज के अनुसार आपस के झगड़ों के फ़ैसले के लिए पंचायतें नियत हुईं। मुसल्मानों के फ़ैसले शरीयत के अनुसार किए जाने लगे। क़ाज़ियों, मुफ़्तियों और आलिमों के नियमपूर्वक वेतन निर्धारित किए गए। अतएव लाहौर का प्रथम क़ाज़ी निज़ामुद्दीन और मुफ़्ती मुहम्मद शाहपूर और सैयदुल्ला चिश्ती नियुक्त किए गए। उन्हें मूल्यवान खिलअतें प्रदान हुईं। शहर मुहल्लों में विभक्त किया गया और प्रत्येक मुहल्ले का एक-एक चौधरी नियुक्त किया गया। शहर की रक्षा के लिए कोतवाल और पुलिस नियुक्त हुई। अतएव पहला कोतवाल इमाम बख़्श खरसवार था। स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धांत व्यवहार में लाए गए। रोगियों के लिए खैराती औषधालय खोले गए, जिनमें यूनानी रीति से इलाज किया जाता था। हकीम नूरुद्दीन, फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन का छोटा भाई औषधालयों का प्रधान अधिकारी बनाया गया। शहर के चारों ओर रक्षा के लिए नई दीवार बनवाई गई, जिस पर एक लाख रुपया खर्च हुआ। शहर के फाटकों पर नए रक्षक नियुक्त किए गए। सारांश यह कि इस सुप्रबंध से महाराजा की प्रजा आराम से जीवन-व्यतीत करने लगी।[1]

क़सूर का घेरा

पहले इसकी चर्चा हो चुकी है कि क़सूर का पठान हाकिम नवाब निज़ामुद्दीन लाहौर पर अधिकार करना चाहता था परंतु रणजीतसिंह उससे बाज़ी ले गया और उसके आने से पहले ही लाहौर पर अधिकारी बन गया। अतएव निज़ामुद्दीन उससे ईर्ष्या करने लगा। वह सिख मिस्लदारों के साथ भसीन के युद्ध में भी सम्मिलित हुआ था। इसके बाद गुजरात के शासक साहब सिंह को उत्तेजित करता रहा। इसलिए महाराजा को जब कुछ अवसर मिला तो निज़ामुद्दीन को उसके किए की सज़ा देना मुनासिब समझा। सरदार फतेह सिंह कालियानवाले की अधीनता में सन् १८०१ ई० के अंत में एक बलशाली सेना क़सूर की तरफ़ भेजी। नगर से बाहर पठानों ने घोर विरोध किया परंतु जम कर न लड़ सके। क़रीब तीन घंटे तक घमासान युद्ध हुआ, जिसके बाद पठानों के पाँव उखड़ गए और वह मैदान से भाग कर क़िले में जा छिपे। सिखों ने पीछा किया। शहर के द्वार तोड़ कर अंदर घुस आए निज़ामुद्दीन खाँ ने संधि कर लेना नीति के अनुकूल समझा। सफ़ेद झंडा लहराया गया। लड़ाई बंद हो गई। निज़ामुद्दीन ने सब शर्तें स्वीकार कर लीं, और वह महाराजा का कर देने वाला सूबेदार बन गया। युद्ध के व्यय के बदले में भारी रक़म दी। आगे भी ठीक आचरण करने का प्रतिज्ञा की और उसकी ज़मानत में अपने भाई क़ुतबुद्दीन, राजा खाँ, और वासिल खाँ को लाहौर दरबार में भेजा दिया।

काँगड़ा का आक्रमण

इन्हीं दिनों रानी सदा कौर ने रणजीतसिंह के पास संदेशा भेजा कि उसके इलाके पर संसार चंद आक्रमण करना चाहता है। महाराजा छः हज़ार सवार लेकर बटाला पहुँचा। जब राजा संसार चंद को पता चला कि रणजीतसिंह रानी सदा कौर की सहायता के लिए आ पहुँचा है तो वह इतना डरा कि बिना लड़ाई के ही रातोंरात मैदान छोड़ कर भाग गया और पहाड़ों में जा घुसा। महाराजा ने सदा कौर का सब इलाक़ा, जो राजा ने दबा लिया था वापस दिला दिया। इसके अतिरिक्त नूरपूर

[1] विस्तृत वर्णन के लिए 'ज़फ़रनामा रणजीतसिंह' और मुंशी कन्हैयालाल कृत 'तारीख़े-पंजाब' देखिए।

और नौशेरा इत्यादि के इलाके भी संसारचंद के अधिकार से लेकर सदा कौर की अमलदारी में सम्मिलित कर दिए।

सुजानपुर का घेरा

इसके बाद रानी सदा कौर ने सरदार बुधसिंह और संगतसिंह की ज़्यादतियां भी महाराजा को सुनाई, क्योंकि वह उसके इलाके की प्रजा को सताते थे और देश को उलट-पलट करते थे। महाराजा ने फौरन सुजानपुर के क़िले को घेर लिया और घमासान युद्ध के अनंतर क़िले की दीवारें धरती में मिला दीं। क़िले पर अधिकार कर लिया गया। इस युद्ध में चार बड़ी तोपें महाराजा के हाथ लगीं। रणजीतसिंह ने सुजानपुर में अपना थाना स्थापित कर दिया। धरमकोट और इब्राहमपूर सदा कौर को दिलवा दिए। बुधसिंह और संगतसिंह के गुज़ारे के लिए जागीरें नियत कर दीं।

फ़तेह सिंह से भ्रातृत्व

महाराजा रणजीतसिंह अत्यंत दूरदर्शी पुरुष था। ब्याह-संबंध द्वारा उसकी कन्हैया और नकई मिस्लों के साथ बड़ी घनिष्ठता हो गई थी। कन्हैया मिस्ल के सैनिक बल से लाभ उठा कर वह लाहौर पर अधिकार प्राप्त कर चुका था। भंगी सरदारों के बल को दमन कर चुका था। महाराजा की पदवी ग्रहण करके अपना सिक्का भी प्रचलित कर चुका था। इस समय पंजाब में अहलूवालिया मिस्ल बहुत बलशाली हो रही थी, जिसके नेता सरदार जसा सिंह कलाल ने ख़ालसा दल की नींव डाली थी। उस समय इस मिस्ल का नेतृत्व सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया के हाथ में था। अपन ताक़त को बनाए रखने के लिए रणजीतसिंह ने इस मिस्ल के साथ संबंध क़ायम करना आवश्यक समझा। अतएव जब रणजीतसिंह सन् १८०२ ई० में तरन-तारन स्नान करने गया तो सरदार फ़तेह सिंह के पास मैत्री का संदेश भेजा, और उससे भेंट की इच्छा प्रकट की जिस पर उपर्युक्त सरदार ने भी प्रसन्नता प्रकट की। दोनों के बीच में ग्रंथ साहब रक्खा गया और निम्नलिखित प्रतिज्ञाएं और शर्तें निश्चय पाईं—

(१) एक के मित्र और शत्रु दूसरे के भी मित्र और शत्रु समझे जायँगे।

(२) दोनों के अधिकृत देश अपने ही समझे जायंगे और एक दूसरे के इलाके में यात्रा करते समय कोई भेंट न माँगेगा।

(३) सरदार फतेह सिंह पंजाब-विजय में महाराजा रणजीतसिंह की सहायता करेगा और महाराजा विजित प्रदेशों में सरदार फतेह सिंह को उचित जागीरें प्रदान करेगा।

(४) दस्तार बदलने की रस्म के अनंतर दोनों एक दूसरे को भाई समझेंगे।

इस प्रकार रणजीतसिंह ने न केवल अपने रास्ते की एक रुकावट को दूर कर दिया, बल्कि अहलूवालिया मिस्ल की सैनिक शक्ति को पूर्ण-रूप से उपयोग में लाने का ढंग पैदा कर लिया, जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे।

धनी पोठोहार का दौरा

अब सरदार फतेहसिंह को लेकर महाराजा ने पिंडी भटियां की ओर कूच किया। यहाँ से चार सौ अच्छे घोड़े भेंट में वसूल किए। वह इलाका सरदार फतेहसिंह के सुपुर्द कर दिया। उसके बाद जेहलम नदी पार करके धनी का इलाका भी विजय किया। यह भी उपर्युक्त सरदार को सौंप दिया। फिर महाराजा लाहौर लौटा।

चनियोट पर शासन

चनियोट का इलाका सरदार करमसिंह दुल्लू के बेटे जसासिंह के अधिकार में था जो परिणामदर्शी युवक न था। उसकी प्रजा भी उससे तंग थी। महाराजा ने सेना का दल लेकर उधर

प्रस्थान किया। जसा सिंह ने किले के दरवाजे बंद कर लिए। महाराजा की सेना ने किले का घेरा डाल दिया। लगभग दो मास तक किले का घेरा बना रहा। अंत में जसा सिंह किला खाली करने पर विवश हुआ। रणजीत सिंह ने उसे यथा-योग्य जागीर प्रदान करके शहर और किले पर अधिकार कर लिया।

कसूर के नवाब का विद्रोह

निज़ामुद्दीन ने समय देखकर पिछले साल रणजीतसिंह के शरणागत होना स्वीकार कर लिया था। लेकिन दिल से उसे यह बात कब पसंद हो सकती थी? अतएव जब उसने देखा कि महाराजा चनियोट में संलग्न है तो लाहौर के आस-पास लूट-मार आरंभ कर दी, और अपनी रक्षा के लिए बहुत से जिहादी पठान जमा कर लिए। महाराजा को पता चला कि उसकी रियासत के दो गांव पठानों ने लूट लिए हैं, और निज़ामुद्दीन विद्रोही हो गया है। महाराजा ने शीघ्र ही सरदार फतेह सिंह अहलूवालिया को साथ ले कर कसूर पर आक्रमण किया। पठान पहले से खाइयां और मोर्चे तैयार कर चुके थे। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। शेर पंजाब स्वयं तलवार हाथ में लिए हुए वैरियों पर टूट रहा था और पठानों की गर्दनों को गाजर और मूली की तरह तन से जुदा कर रहा था। अतएव बहुत से लड़ाके पठान तलवार की घाट उतरे। पठान बड़े जोश और उत्साह से लड़े परंतु, सामना करने की असमर्थता के कारण किले में जा घुसे। महाराजा की सेना ने किले पर गोलाबारी शुरू की जिससे पठान घबरा गए। निज़ामुद्दीन के लिए संधि करने के सिवा कोई उपाय न रहा। सफेद झंडा लेकर महाराजा की शरण में उपस्थित हुआ। बड़ी अनुनय-विनय की और आगे के लिए सब प्रकार से सिख शासन का खैरख्वाह रहने की स्वीकृति लिख दी, और युद्ध के व्यय के अतिरिक्त एक भारी रकम दंड-रूप में दी। इस अवसर पर सरदार फतेहसिंह ने अपने साहस और बहादुरी का अच्छा प्रदर्शन किया।

मुल्तान का घेरा—सन् १८०३ ई०

सन् १८०३ के आरंभ में महाराजा ने मुल्तान की ओर ध्यान दिया। परंतु महाराजा के कतिपय फ़ौजी सरदारों ने मुल्तान के घेरे के लिए अपनी अनिच्छा प्रकट की। महाराजा यह कब मानता था? फौज को एकत्रित कर के एक प्रभावशाली वक्तृता दी; जिससे सिपाहियों को जोश आ गया। जयघोष करते हुए वह युद्ध के लिए तत्पर हो गए, और थोड़े ही दिनों की कूच के अनंतर मुल्तान के नवाब की सीमा में जा प्रविष्ट हुए। नवाब मुजफ्फर खाँ युद्ध के लिए तैयार न था, अतएव उस ने इस आपत्ति को शान्ति-पूर्वक दूर करना ही उचित समझा। अपने दीवान तथा अन्य राज्य कर्मचारियों को महाराजा की सेवा में भेजा, जिन्होंने मुल्तान से पचीस मील आगे ही महाराजा का बड़े समारोह से स्वागत किया। महाराजा उन के साथ बड़ी नर्मी से मिला। नवाब से वफादारी का पत्र लिखा कर और नज़राना ले कर लौट आया।[1]

युवराज खड़कसिंह की मँगनी

इसी साल युवराज खड़कसिंह की मँगनी सरदार जैमल सिंह कन्हैया की छोटी लड़की से हुई। इस उत्सव पर महाराजा ने बड़ी खुशियां मनाईं। धूम-धाम के जलसे हुए और निश्चय नाच-रंग की महफिलें गर्म हुईं।

इसी सम्बन्ध में दीवान अमर नाथ ने अपनी पुस्तक में मीरा वेश्या का उल्लेख किया है और रणजीतसिंह तथा मीरा के प्रेम की उपमा जहांगीर तथा नूरजहाँ के प्रेम से की है। जिस प्रकार जहाँगीर

---

[1] मुंशी सोहनलाल लिखते हैं कि महाराजा रणजीतसिंह और नवाब मुजफ्फर ख़ां के बीच भारी युद्ध हुआ, और सिखों की सेना ने शहर में घुस कर लोगों को लूटा, परंतु दीवान अमर नाथ सिख सेना का मुलतान शहर में प्रवेश करने तक की चर्चा नहीं करते।

ने नूरजहाँ के नाम का सिक्का चलाया उसी प्रकार रणजीतसिंह ने भी एक सिक्का चलाया जिसकी पीठ पर मोर का पंख अंकित था। पंजाबी भाषा में शायद इसी को आरसी वाली मोहर कहते हैं।

फगवाड़ा होशियारपुर तथा बिजवाड़ा पर अधिकार

होली के त्योहार मनाने के पीछे महाराजा ने सरदार फतेहसिंह अहलूवालिया से भेंट की और कुछ दिन जालंधर में गुज़ारे। इसी बीच में कस्बा फगवाड़ा और उसके आस-पास के किले विजय कर के सरदार फतेहसिंह को जागीर-रूप में भेंट किए। इसके बाद काँगड़ा के शासक राजा संसार चंद से मुठभेड़ हुई। उस समय संसार चंद अपने राज्य का विस्तार करने की दृष्टि से होशियारपुर के मैदानी इलाके में लूट-मार कर रहा था। महाराजा ने संसार चंद को क़स्बा बिजवाड़ा से निकाल दिया और वहाँ अपना थाना स्थापित कर लिया।

अमृतसर की विजय

अमृतसर सिखों का अत्यंत पवित्र स्थल है, और उनका धार्मिक केन्द्र कहलाता है। महाराजा के मन में अमृतसर के विजय की अभिलाषा चुटकियां ले रही थी, क्योंकि इस से महाराजा की प्रतिष्ठा दुगुनी बढ़ जाती और अमृतसर पर अधिकार करना कुछ कठिन भी न था। लाहौर तो केवल तीन शासकों में बँटा हुआ था परन्तु अमृतसर में ग्यारह शासक थे। प्रत्येक शासक का अपना अपना दुर्ग था। किन्तु इन सब में भंगी सरदार सब से अधिक शक्तिशाली थे। गुलाब सिंह भंगी स्वयं तो मर चुका था परन्तु उसकी स्त्री माई सुखां और एक छोटा बेटा गुरुदित सिंह रामगढ़िया सरदारों की सहायता से अमृतसर पर अधिकार किए हुए थे। महाराजा ने अरोड़ामल साहूकार द्वारा माई सुखां के कर्मचारियों से बातचीत आरंभ की और स्वयं एक सबल सेना लेकर सरदार फतेह सिंह अहलूवालिया और रानी सदा कौर के साथ अमृतसर की ओर बढ़ा। रामगढ़िए सरदार भंगियों की सहायता के लिए ठीक समय पर न पहुँच सके, जिस की वजह से खुले मैदान में कोई महाराजा का सामना न कर सका। शहर के द्वार अवश्य बंद कर लिए गए, और भंगी सरदारों ने बाहरी दीवार पर से महाराजा की सेना पर गोलाबारी आरंभ की। महाराजा ने भी तोपख़ाना सजाया। परंतु यह आडंबर केवल एक ही दिन रहा। अगले दिन १४ फागुन सं० १८६१ वि० को सरदार जोध सिंह रामगढ़िया और फूला सिंह अकाली के समझाने से किला खाली कर दिया गया। महाराजा का नगर पर अधिकार हो गया। गुरुदित सिंह और उस की माता की जागीरें नियत हो गईं।[1]

भंगियों की तोप

अब महाराजा ने अपने कर्मचारियों सहित श्री दरबार साहब के दर्शन किए और स्नान किया। श्री हर मंदिर साहब और अकाल बंगा की सेवा के लिए भारी रकम भेंट की। भंगियों के क़िले पर अधिकार हो जाने के कारण बहुत से युद्ध के हथियार और पाँच बड़ी तोपें महाराजा के हाथ आईं। इन में से एक प्रसिद्ध तोप आज तक भंगियों की तोप कहलाती है। यह सन् ११७४ हिज्री में शाह नजीर कारीगर ने अहमद शाह अब्दाली के लिए तैयार की थी। यह ताँबे और पीतल की मिलावट की धातु की बनी हुई है। एक रिवायत के अनुसार ऐसा प्रसिद्ध है कि अहमदशाह अब्दाली की आज्ञा से लाहौर के प्रत्येक हिन्दू घराने से एक एक पीतल और तांबे के बर्तन इकट्ठे किये गये, जिनकी धातु से तोप ढाली गई। पानीपत के तीसरे युद्ध के बाद अहमद शाह उसे लाहौर में अपने गवर्नर ख़्वाजा उबैद खां की निगरानी में छोड़ गया था। सन् १७६३ ई० में सरदार हरी सिंह भंगी ने दो हज़ार सवारों के साथ गवर्नर लाहौर का अस्त्रागार लूटा और यह तोप भी

[1] देखिए मुंशी सोहन लाल कृत 'ऊम्दतुलतवारीख़'।

उसके हाथ आई। तब से इसे भंगियों की तोप कहने लगे। हरी सिंह ने इस तोप को भंगियों के क़िले अमृतसर में रख दिया। महाराजा ने उस का, कसूर, सुजानपुर, वजीराबाद, और मुल्तान की पाँच बड़ी लड़ाइयों में उपयोग किया। इस तोप में एक मन वज़नी गोला डाला जाता था। अंतिम युद्ध में इस की नाल कुछ ख़राब हो गई। इस लिए लाहौर दिल्ली दरवाजे के बाहर एक चबूतरे पर यह गाड़ दी गई। सन् १८६० ई० में अंग्रेज़ी सरकार ने इसे अजायबघर के निकट ला कर रक्खा और अब भी यह वहीं पर रक्खी हुई है।

पंजाब (१७६५ - १८४६)
सूची
मुसलमान नवाब कबीलों की रियासतें
पटियाला, नाभा, जींद
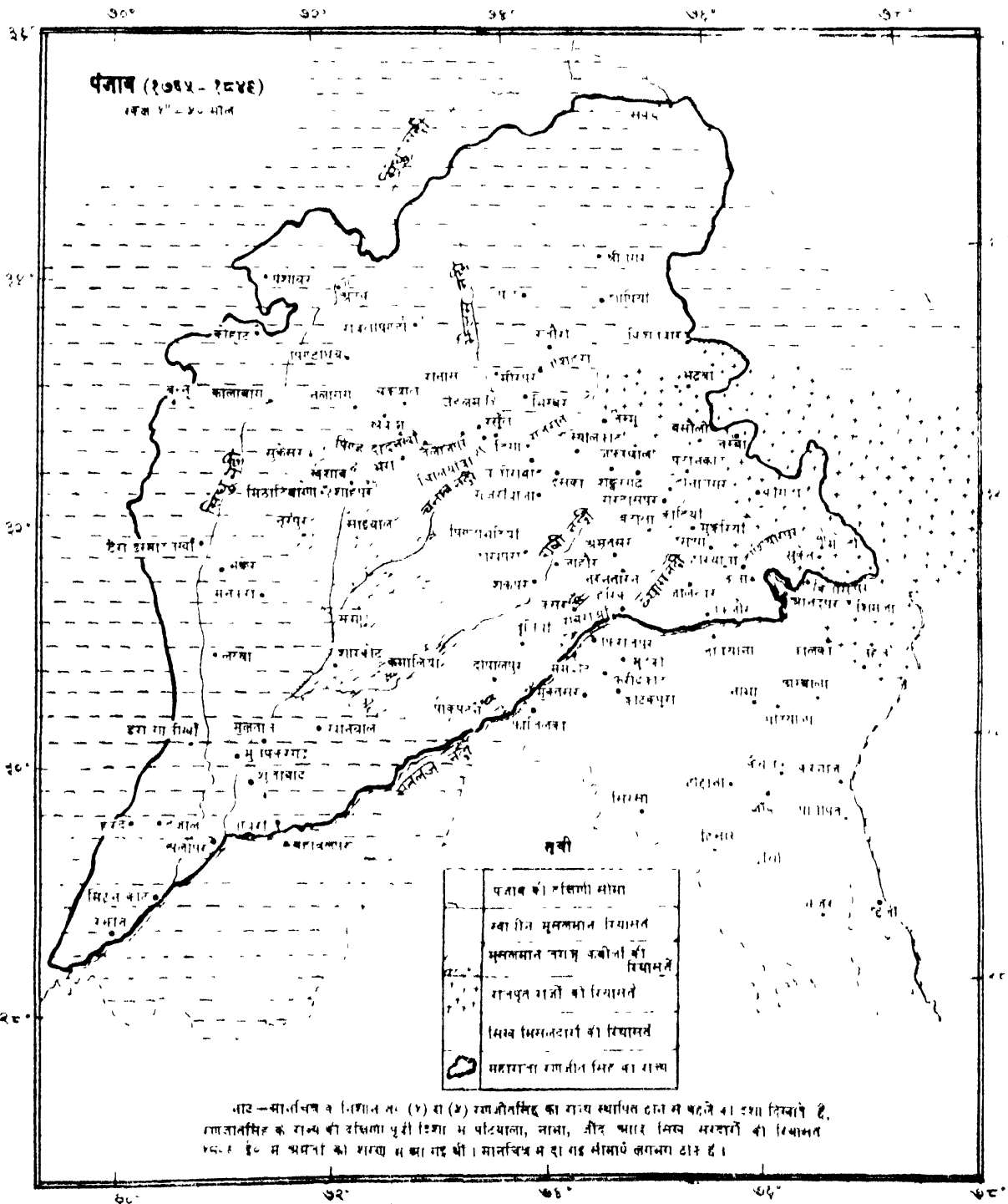
छठा अध्याय

पंजाब की राजनीतिक अवस्था और रणजीतसिंह की नीति

रणजीतसिंह के जीवन में नया युग—सन् १८०३ से १८०६ तक

अमृतसर की विजय के उपरांत रणजीतसिंह के जीवन में एक नया युग आरंभ होता है। लाहौर और अमृतसर शहर पंजाब की नाक समझे जाते थे, और दोनों महाराजा के अधिकार में आ चुके थे। सिख मिस्लदारों में भंगी मिस्ल सब से अधिक प्रबल समझी जाती थी, क्योंकि लाहौर और अमृतसर इन्हीं के अधिकार में थे। रणजीतसिंह ने इन्हें हरा कर उनके अधीन देशों पर अपना अधिकार जमा लिया। कन्हैया मिस्ल भी किसी समय श्रेष्ठ समझी जाती थी। परंतु जयसिंह की मृत्यु के अनंतर यह कमज़ोर हो चुकी थी। इसकी सरदारी रणजीतसिंह की सास रानी सदा कौर के हाथ में थी। रामगढ़िया मिस्ल भी बलशाली गिनी जाती थी। परंतु इस का सरदार जसा सिंह अब वृद्ध हो चुका था, अतएव अन्य सिख सरदारों, राजाओं तथा नवाबों के लिये अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए रणजीतसिंह की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई उपाय न रहा। गत् चार वर्ष के समय में उत्तरी पहाड़ी प्रदेश की तलहटी वाले भाग के बड़े बड़े शहरों को रणजीतसिंह जीत चुका था। वह इसके अलावा महाराजा की पदवी ग्रहण कर के गुरु नानक के नाम पर सिक्का चला चुका था। इस कारण सिखों में विशेष रूप से ऊँचा दर्जा रखता था।

पंजाब की राजनीतिक अवस्था

इस समय के पंजाब के राजनीतिक मानचित्र पर ध्यान से देखने से मालूम होगा कि पंजाब प्रांत का अधिकांश सिख मिस्लदारों के अधिकार में आ चुका था। देश के शेष भाग में स्वतंत्र या अर्ध-स्वतंत्र राज्य स्थापित हो चुके थे। मुल्तान में नवाब मुज़फ़्फ़र खां सदोज़ई शासन कर रहा था। डेरा इस्माइल खां नवाब अब्दुलसमद ख़ां के अधिकार में था। मनकेरा, होत और बन्नू कोहाट का प्रदेश मुहम्मद शाह निवाज़ खाँ के शासन में था। टोंक नवाब सरवर ख़ाँ की अमलदारी में था। यह सभी नवाब आरंभ में काबुल के अमीर की तरफ़ से गवर्नर नियुक्त हुए थे, परंतु दुर्रानी शासन के अस्त-व्यस्त होने पर स्वतंत्र हो गए थे। रियासत बहावलपुर नवाब बहावल खां दाऊद पोतरा के अधीन थी। पेशावर तथा उसके आस-पास फ़तह खां बारकज़ई के भाई शासन कर रहे थे। अटक का क़िला और उसके आस-पास का इलाक़ा जहाँदाद खां के नेतृत्व में वज़ीरखैल क़ौम के पठान दबाए बैठे थे।

काश्मीर और हजारा जहांदाद खां के दूसरे भाई अता मुहम्मद खां के अधीन था। भाव यह कि यह बड़ी-बड़ी इसलामी रियासतें सिक्ख वशवर्ति स्थानों के इर्द गिर्द एक फौलादी घेरा डाले हुई थीं। इन के अलावा जेहलम, शाहपुर, खुशाब, साहिवाल, झंग, पाकपटन, दीपालपुर तथा कसूर में भी मुसलमान नवाब, जमींदार तथा रईस छोटे-छोटे स्वाधीन राज्य स्थापित किये बैठे थे। यह भी सिक्ख राज्य के गिर्द एक दूसरे छोटे फौलादी घेरे का रूप धारण किये हुये थे। उत्तर तथा पूर्व की ओर पहाड़ी प्रदेश अथवा कांगड़ा और जम्मू में राजपूत राज्य कर रहे थे, जिनकी राजधानियां कांगड़ा, कुल्लु चम्बा, बसौली, मन्डी सुकेत तथा जम्मू आदि थीं। ये पहाड़ी राजे पहले मुगलों के अधीन थे किन्तु अब स्वाधीन हो चुके थे। पूर्व में अंग्रेजों का अधिकार क्षेत्र यमुना नदी तक पहुँच चुका था।

चुनांचे सिक्ख मिस्लदार बत्तीस दाँतों में जीभ की भाँति असिक्ख शक्तियों से घिरे हुये थे। इससे भी ज्यादा भयानक बात यह थी कि इन सरदारों में परस्पर संवेदन के स्थान पर एक दूसरे से बैर-विरोध रखते थे और एक दूसरे को अशक्त करने पर तुले हुये थे। यह सभी बातें रणजीतसिंह स्वयं शाह ज़मान के आक्रमणों के समय में देख चुका था। ऐसी परिस्थितियों में खालसा की बड़े त्याग और बलिदान द्वारा प्राप्त की हुई स्वतंत्रता को स्थायी रखना असम्भव दिखाई दे रहा था।

रणजीतसिंह की विशेषता

प्रकृति ने रणजीतसिंह को बड़ी बुद्धि और दूरदर्शिता प्रदान की थी। वह इस बात को भली-भाँति भाँप गया कि पंजाब की रियासतों और राज्यों के (चाहे वे मुसलमान नवाबों के थे अथवा सिक्ख मिस्लदारों के) आर्थिक, राजनैतिक और सैनिक साधन इतने न्यून हैं कि वे एक साथ भी किसी शक्तिशाली शत्रु का मुकाबला करने में असमर्थ हैं। रणजीतसिंह को पूर्ण विश्वास था कि यदि कहीं अंग्रेजों ने उसकी ओर मुंह किया तो ये सब छोटी बड़ी रियासतें घुटने टेक देंगी और पंजाब सदा के लिये एक स्वाधीन राज्य बनने के अवसर को खो बैठेगा। इन परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उसकी देशभक्ति ने उसे इस बात पर कटिबद्ध कर दिया कि वह शीघ्र से शीघ्र इन छोटी-छोटी रियासतों को समाप्त करके सम्पूर्ण पंजाब को एक ही राजनीतिक लड़ी में पिरो दे, जिसकी ओर कोई बाह्य शक्ति आंख उठा कर भी न देख सके। इसके फलस्वरूप जैसा कि इस पुस्तक के अध्ययन से स्पष्ट हो जायगा, ऐसा ही हुआ।

इसी संबंध में यह बात भी वर्णनीय है कि ज्यों ही महाराजा किसी सरदार या मिस्लदार को अधीन बना लेता और उसके अधिकार क्षेत्र को अपने राज्य में मिला लेता सरदार को उचित जागीर दे कर अपने दरबार में किसी ऊँचे पद पर उसे नियुक्त कर देता था। उसकी सेना को तितर-बितर न कर के अपनी सेना में मिला लेता था। इस प्रकार न तो वह सरदार ही अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा का बहुत शोक करता था, और न महाराजा ही अनुभवी सरदार और उसकी सेना के बल से लाभ उठाने का अवसर हाथ से जाने देता था। यह सरदार महाराजा के शासन के प्रारंभ में बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त हुए, और ये तथा इनके वंशज महाराजा के ऐसे राजभक्त प्रमाणित हुए कि हमें उनमें से एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसने महाराजा के बाद उसके बंश के साथ विश्वासघात किया हो। विशेष कर सिखों और अंग्रेजों के प्रथम युद्ध के समय जब कि लाहौर के दरबार में विश्वासघात का बाज़ार गर्म था तब भी यह ख़ालसा अपनी राजभक्ति से नहीं टले।

झंग और ऊच पर अधिकार—अक्तूबर सन् १८०३ ई०

झंग का स्वतंत्र इलाका अहमद ख़ां सियाल के अधिकार में था। अहमद ख़ां बड़ा मालदार था। इसके अस्तबल में अत्यंत सुंदर और तेज़ घोड़े थे, जिनकी ख्याति चारों तरफ़ फैली हुई थी। पंजाब के शेर ने अपना दूत झंग भेजा और अहमद ख़ां से कहलाया कि अधीनता स्वीकार कर ले और कुछ घोड़े भेंट-स्वरूप दरबार में भेजे। अहमद ख़ां ने इस संदेश को अपने लिए अपमान-जनक समझा और दूत से बड़े अभिमान से मिला। महाराजा ने जब यह सुना तो शीघ्र ही लड़ाई की तैयारी कर दी। अहमद ख़ां ने भी अपने बल की परीक्षा करने के इस अवसर को खोना उचित न समझा और अपने इलाके की लड़ाकी जातियों जैसे सियाल और खरल को हज़ारों की संख्या में भरती कर लिया।

दोनों फौजों के आमने-सामने होते ही प्रत्येक ने तोपों के गोलों द्वारा अपने जी का गुबार निकाला। फिर तलवार के हाथ चलने लगे। सिख तलवार के धनी थे। इस जोश से लड़े कि कुछ घंटों में शत्रु की सेना में मृतकों के ढेर लग गए। सियालों ने भी अपनी बहादुरी खूब दर्शित

की; महाराजा घोड़े पर सवार खालसा फौज का उत्साह बढ़ाता और उन्हें उत्तेजित करता एक जगह से दूसरी जगह फिर रहा था। इतने में अहमद खां के फौजियों के पांव उखड़ गए और वह युद्ध के मैदान से निकल भागे। उन्होंने नगर में प्रवेश कर के द्वार बंद कर लिए और बाहरी दीवार पर से गोलाबारी आरंभ की। सिखों ने भी रात को ही शहर घेर लिया और तोपें चलानी आरंभ कीं। इसी बीच एक गोला महाराजा के निकट आ कर गिरा और पृथ्वी में धँस गया। सिख फ़ौज में जोश फैल गया। आन की आन में द्वार तोड़ कर सैनिक शहर में घुस गए। अहमद खां मुलतान भाग गया। बाद में अहमद खां ने प्रतिष्ठित आदमियों का एक दल महाराजा की सेवा में भेजा। अपने किए हुए पर क्षमा माँगी, और भारी कर देना स्वीकार किया। महाराजा बड़ा उदार हृदय व्यक्ति था। शीघ्र ही क्षमा प्रदान की। इस युद्ध में बहुत बड़ा खजाना, अगणित मूल्यवान घोड़े और हथियार महाराजा के हाथ आए। लौटते समय छोटी सी लड़ाई के बाद ऊच इलाक़ा भी विजय किया और रणजीतसिंह नाग सुल्तान बुखारी से भेंट-नज़र लेकर धूम से लाहौर लौटा।

श्री अमृतसर का दरबार—सन् १८०३

सन् १८०३ ई० की घटनाओं का वर्णन करते हुए दीवान अमर नाथ अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि इस साल कुछ हिंदुस्तानी सिपाही महाराजा की सेवा में उपस्थित हुए और महाराजा को अंग्रेज़ी फ़ौजी क़वायद के कुछ करतब दिखाए। यह लोग ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना से बाहर किए हुए सिपाही थे। महाराजा ने उन्हें अपने यहाँ नौकर रख लिया। आगे चल कर यही लेखक अमृतसर के बड़े सैनिक दरबार की चर्चा करता है। इस पवित्र स्थल पर तमाम सेना उपस्थित हुई। पंक्तियों में प्रदर्शन करने के बाद सिपाहियों ने अपनी क़वायद दिखाई।

फ़ौजी संगठन

इसी अवसर पर महाराजा की ओर से बड़े-बड़े सरदारों को उपाधियां दी गईं और उन्हें निम्न-लिखित प्रकार से सेना का नेतृत्व प्रदान किया गया :—

१—सरदार देसा सिंह मजीठिया—चार सौ घुड़सवारों की सरदारी।

२—सरदार हरी सिंह नलवा—आठ सौ सवार व पैदल।

३—सरदार हुकमा सिंह चिमनी—दारोग़ा छोटा तोपख़ाना और दो सौ सवार और पैदल।

४—चौधरी ग़ौस खां—दारोग़ा तोपख़ाना बड़ा और दो हज़ार सवार।

५-६—शेख इबादुल्ला और रोशन खां हिंदुस्तानी को कुमेदानी की उपाधि दी गई और दो हज़ार सिपाहियों की पलटन के वह अफ़सर नियुक्त हुए।

७—लगभग इतने ही सिपाही बाबू बाज सिंह के नेतृत्व में रक्खे गए।

८—सरदार भाग सिंह मरालीवाला—पाँच सौ सवार की सरदारी।

९—मिलखा सिंह शासक रावल पिंडी—सात सौ सवार व पैदल।

१०—सरदार नोध सिंह—चार सौ सवार व पैदल तथा परगना चैबी की जागीर प्रदान की गई।

११—सरदार अतरसिंह, बेटा सरदार फतहसिंह धारी—पाँच सौ सवार का रिसालदार नियुक्त हुआ।

१२—सरदार मित सिंह भरानिया—पाँच सौ सवार व पैदल।

१३—मान्यवाले के सरदारों को—चार सौ सवार व पैदल।

१४—सरदार करम सिंह रंगड़नंगलिया—एक सौ सवार।

१५—सरदार जोध सिंह सोढ़ियांवाला—तीन सौ सवार व पैदल।

१६—सरदार निहाल सिंह अटारीवाला—पाँच सौ सवार व पैदल।

१७—सरदार गरभा सिंह—एक हज़ार सवार व पैदल।

१८—अन्य सरदारगण को दो हज़ार की सम्मिलित कमान प्रदान हुई। इनमें से प्रत्येक को जागीर प्रदान हुई और सरदारी की प्रतिष्ठा मिली।[1]

कुल तेरह हज़ार तीन सौ सिपाही।

ताबीमी सरदारगण

इनके अतिरिक्त कुछ जागीदार 'ताबीमी सरदार' नियुक्त हुए, जिन के साथ युद्ध के समय आवश्यकता पड़ने पर महाराजा को फ़ौज पहुँचाने की शरत लगाई गई।

१—सरदार जसा सिंह वल्द करम सिंह दोलू।

२—सरदार साहब सिंह वल्द गुजर सिंह भंगी।

३—सरदार चैत सिंह वल्द लहना सिंह भंगी।

४—सरदार भाग सिंह अहलूवालिया।

५—सरदार नार सिंह चमियारीवाला।

यह सब लगभग दस हज़ार सिपाही प्राप्त करेंगे।

६—कन्हैया मिस्ल—पाँच हज़ार सवार और पैदल।

७—नकई सरदार गण—चार हज़ार सवार व पैदल।

८—पहाड़ी राजे—पाँच हज़ार सवार व पैदल।

९—जालंधर दोआबा के सरदार—सात हज़ार सवार व प्यादा।

कुल जोड़ ३१ हज़ार सिपाही

शालामार बाग़ का नाम बदलना

इसी वर्ष की घटनाओं के संबंध में दीवान अमरनाथ लिखते हैं कि एक दिन महाराजा साहब अपने दरबारियों सहित लाहौर के शालामार बाग़ में सैर कर रहे थे कि शालामार के नामकरण के विषय पर विवाद छिड़ गया। महाराजा ने कहा कि पंजाबी भाषा में 'शालामार' का अर्थ 'ईश्वर की मार' होता है। इस लिए यह नाम अच्छा नहीं। दरबारियों ने समझाने का प्रयत्न किया कि शालामार तुर्की भाषा का शब्द है जिस का अर्थ आमोद-स्थल होता है। महाराजा ने कहा कि पंजाब में तुर्क लोगों का निवास नहीं है, जो यह अर्थ समझ सकें। यहां के लिए पंजाबी शब्द होना चाहिए। अतएव इस बाग़ के लिए 'शाला बाग़' नाम प्रस्तावित हुआ और यह इसी नाम से विदित होने लगा। साधारण बोल-चाल में आज यह शाला बाग़ कहलाता है।

जसवंत राय होलकर का पंजाब में आना

सन् १८०५ ई० में एक बार महाराजा मुल्तान के दौरे में संलग्न था, और मुल्तान शहर से बीस कोस दूरी पर डेरा डाले पड़ा था। यहां से कुछ तेज़ चाल के शहसवार महाराजा की सेवा में उपस्थित हुए और यह निवेदन किया कि मरहठा सरदार जसवंत राय होलकर, इंदौर का शासक और अमीर खां रुहेला ने बड़ी भारी सेना ले कर अंग्रेज़ सेनापति लार्ड लेक से परास्त हो कर पंजाब में शरण ली है। अंग्रेज़ी सेना भी उनका पीछा करती हुई आ रही है। यह सूचना मिलते ही महाराजा अपने दौरे को स्थगित करके लाहौर की ओर लौटा।

महाराजा का निर्णय

लाहौर पहुँचते ही जसवंत राय के वकील मूल्यवान् भेंटों के साथ महाराजा से मिले और अंग्रेज़ों के विरुद्ध सहायता माँगी। महाराजा ने जसवंत राय के रहने का अमृतसर में प्रबंध कर दिया और आतिथ्य के सब सामान प्रस्तुत किए। स्वयं विश्वस्त सरदारों सहित इजलास किया; सब ने

---

[1]सरदार फ़तेह सिंह कालियानवाला उस समय सब से बड़ा सरदार था। अतएव उसकी प्रसन्नता के लिए उसके गोद लिए दल सिंह नहीरना को भी सरदारी की प्रतिष्ठा प्रदान की गई।

कहा कि यदि इस समय होलकर और अंग्रेज़ों के बीच में युद्ध हुआ तो निश्चय ही पजाब में होगा जिससे हमें ही हानि पहुँचेगी, और आज तक हमारे संबंध ब्रिटिश सरकार के साथ मित्रता के रहे हैं। इस लिए उन्हें क्यों छोड़ा जाय? परंतु शरणागत आदमी को भी हताश करना धर्म नहीं। अतएव यह तै हुआ कि जिस तरह हो सके महाराजा बीच-बचाव कर के दोनों पक्षों में संधि करा दें। महाराजा के लिए यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न था और इसी के निपटारे पर रणजीतसिंह का अपना भविष्य भी अवलम्बित था। चुनांचे यह समझने के लिए कि महाराजा ने जो निर्णय किया वह क्यों और क्या सोच कर किया, हमारे लिए आवश्यक है कि हम इन घटनाओं का पूर्ण रूप से अध्ययन करें जो कि गत् दस-बारह वर्षों से दिल्ली, सरहिंद प्रांत और हरियाना प्रांत में घटित हो रही थीं।

दिल्ली सम्राट् तो दूसरों के हाथों में कठपुतली बना हुआ था। पहले पहल रोहेला सरदार गुलाम कादिर और उस के बेटे ने सम्राट् को अपने हाथों में ले रखा था। तत्पश्चात् मरहठा सरदार महादाजी सिंधिया ने देहली और आगरा पर अपना प्रभाव जमा लिया था। इन्हीं दिनों में (सन् १७९३ से १७९८) काबुल नरेश शाह ज़मान ने भारत पर संतत आक्रमण प्रारंभ कर रखे थे और छोटे से छोटे नवाब से लेकर दिल्ली के सम्राट् तक सब की हमदर्दी उस के साथ थी वरन् प्रत्येक ने शाह ज़मान को यथाशक्ति सहायता देने का वचन दे रखा था।

सरहिंद प्रांत के मिस्लदार जिन की हालत इस समय तक काफी मजबूत हो चुकी थी, दिल्ली सरकार की दुर्बलता से लाभ उठाकर प्रति दिन यमुना नदी को लाँघ कर द्वाब के कस्बों और नगरों में लूट-खसोट किया करते थे। चुनांचे उपरोक्त दोनों बातों को दृष्टि में रखकर दौलत राव सिंधिया ने जनरल पैरन के नेतृत्व में एक चुनी हुई मरहठा सेना सरहिंद में नियुक्त कर रखी थी। संभव था कि शाह ज़मान के आक्रमण बन्द होने पर मरहठे सारे सरसिंह प्रांत पर छा जाते। इस से पहले भी सिंधिया का जनरल डो० बाइन कैथल, जीन्द तथा पटियाला से खिराज वसूल कर चुका था।

मरहठों का बढ़ता हुआ प्रभाव देख कर अंग्रेज भी अपने स्थान पर शोचवश हो रहे थे। साथ ही वे शाह ज़मान के आक्रमणों से भी भयभीत हो रहे थे। इस लिए उन्होंने वास्तविक परिस्थिति की जाँच करने के लिए अपने दूत और भेदिये लुधियाना, लाहौर, अमृतसर और रावलपिंडी इत्यादि नगरों में छोड़ रखे थे। यह इसी बात का परिणाम था कि ज्योंही रणजीतसिंह ने अपनी बढ़ती हुई शक्ति का प्रमाण दिया, अंग्रेजों ने अपना दूत मीर यूसिफ अली उसके दरबार में भेज दिया।

यह समय हमारे देश में अशांति का था। वास्तव में ही जिस की लाठी, उसी की भैंस वाली बात थी। इन्हीं दिनों (सन् १७९७) जार्ज टॉमस नामक एक अंग्रेज ने हाँसी कस्बे के पुराने दुर्ग की दीवारों की मरम्मत करवा कर वहाँ युद्ध सामग्री एकत्र कर ली। धीरे-धीरे उस ने हाँसी तथा हिस्सार के भाग में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया। इस के साथ-साथ इस की इच्छाओं में भी वृद्धि होनी आरंभ हो गई और इस के साथ-साथ उस ने सिक्ख मिस्लदारों से टक्कर लेनी शुरू कर दी। चाहे संख्या की दृष्टि से उस की सेना और तोपखाना सिक्ख मिस्लदारों की संयुक्त शक्ति से कहीं कम था परंतु टॉमस युद्ध संबंधी चालों में बहुत निपुण था। और युद्ध-विद्या में उसकी सुशिक्षित सेना सिक्ख सरदारों की घुड़सवार सेना से कहीं बेहतर थी। इस प्रकार उसने लगभग तीन वर्षों तक सिक्खों के साथ बड़ी सफलता से युद्धों का सिलसला चलाये रखा। फरवरी सन् १८०१ में जब उसका सिक्खों के साथ समझौता हो गया तो उस ने अपनी चुनी हुई सेना के साथ लाहौर की ओर प्रस्थान किया। वह लिखता है कि "जब लाहौर से

मेरी यात्रा केवल तीन चार दिनों की रह गई तो मुझे सूचना मिली कि मेरी राजधानी हाँसी संकट में है। इस लिए मैं वापस लौट गया नहीं तो एक बार लाहौर के दुर्ग पर अपना झंडा लहरा कर ही वापस आता।"

टॉमस को यह भय मौनसर पैरन की ओर से हुआ था। इस की बढती हुई शक्ति ने मरहठा सरदार को चैतन्य कर दिया था। चुनांचे उस ने सिक्ख सरदारों से बातचीत आरंभ की। सिक्ख सरदार तो टॉमस से पहले ही ऊबे हुए थे, अब दोनों ने संधि करके उस की शक्ति को समाप्त करने की ठानी। परंतु टॉमस भी घबराने वाला न था। शीघ्र ही युद्ध के लिए तत्पर हो गया। दो एक संघर्षों में तो उसका पलड़ा भारी रहा। अंत में दिसम्बर सन् १८०१ में पैरन के अधीन योरुपीय अफसर जनरल बोरकियन ने हाँसी के दुर्ग पर धावा बोल दिया। अब टॉमस हथियार डालने के अतिरिक्त और कुछ कर न सकता था। बोरकियन ने उस पर इतनी कृपा अवश्य की कि उसको अपनी संपत्ति के साथ दुर्ग से बाहर निकलने की आज्ञा दे दी। उस ने अंग्रेजों से शरण माँगी और आठ महीने बाद अगस्त सन् १८०२ में बनारस में जाकर मर गया।

अब सरहिंद प्रांत में पैरन सब से शक्तिशाली समझा जाता था। चुनांचे उस की वैयक्तिक इच्छायें भी बढ़ने लगीं। पैरन के पीछे के लेखों द्वारा पता चलता है कि उस ने सन् १८०२ में रणजीतसिंह के साथ पत्र-व्यवहार प्रारंभ किया कि दोनों मिलकर अटक तक के प्रदेश को जीतें और लाहौर के दक्षिण में स्थित भाग को आपस में आधा-आधा बाँट लें। परंतु विधाता को यह स्वीकार नहीं था। अगस्त सन् १८०३ में अंग्रेजों और मरहठों के बीच युद्ध छिड़ गया और पैरन को पंजाब से वापस बुला लिया गया। दिल्ली और आगरा सिंधिया के हाथों से निकल कर अंग्रेजों के हाथों में चले गये। तथा दिल्ली सम्राट् को भी उन्होंने अपनी शरण में ले लिया। इस प्रकार यमुना द्वाब का राजनीतिक रूप ही बदल गया।

दूसरे वर्ष अर्थात् सन् १८०४में मरहठा सरदार यशवंत राव होलकर के साथ युद्ध शुरू हुआ और वह भी अंग्रेजों के हाथों पराजित हुआ। और जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है वह भाग कर अमृतसर में रणजीत सिंह की शरण में आया।

रणजीत सिंह इन घटनाओं से अपरिचित न था। वह दूसरे सरदारों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और दूरदर्शी था। उस ने समय पर ही इस बात को भाँप लिया कि मरहट्टों के लिए दोबारा प्रभावशाली होना असभव था। तथा अब भारत की राजधानी दिल्ली पर अंग्रेजों का ही अधिकार रहेगा। चुनांचे इन परस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए उस ने अपने मन में यह सोच लिया कि अंग्रेजों के साथ मित्रता स्थापित करने में ही उसे लाभ होगा। रणजीतसिंह के मामा राजा भाग सिंह ने इस विचार को और भी पुष्ट किया। वास्तव में लार्ड लेक उसे इसी तात्पर्य के लिए अपने साथ लाया था। रणजीतसिंह ने यह भी देख लिया था कि होलकर एक लाख सेना के होते हुए भी अंग्रेज जनरल, जिस के पास उस से बहुत कम सेना और तोपखाना है, के आगे-आगे भाग रहा है। तो महाराजा इस निर्णय पर पहुँचा कि यदि वह होलकर की सहायता के लिए दस पंद्रह हजार सवार भी दे दें तो भी वह अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में सफल नहीं हो सकता। इस के अतिरिक्त रणजीत सिंह को यह विचार भी अवश्य आया होगा कि जिन खालसा सरदारों और मुसलमान नवाबों को उस ने हाल ही में जीता है वे पंजाब में मरहट्टों और अंग्रेजों के मध्य युद्ध छिड़ने पर उस से बदला लेने पर तैयार हो सकते हैं। तथा वह इस बात को भी जानता था कि अभी पंजाब में उसकी अपनी शक्ति पूर्ण रूप से दृढ़ नहीं हो सकी है, इस लिए पंजाब में युद्ध लड़े जाने पर उस की सब आशायें मिट्टी में मिल जायँगी।

सफलता और संधि

दूसरे दिन महाराजा अमृतसर पहुँचा और होलकर को समझाया। वह राजी हो गया। इसी आशय का एक पत्र लार्ड लेक को लिखा गया। इसी बीच में लार्ड वेलेस्ली गवर्नर-जनरल जिस के शासन-काल में मरहट्टों के साथ युद्ध आरंभ हुआ था बुला लिया गया था, और अंग्रेज़ी शासन की युद्ध-नीति बदल चुकी थी। नया गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस संधि के लिए प्रस्तुत था। होलकर का इलाका जो लार्ड लेक ने छीन लिया था उसे वापस मिल गया। इसी संबंध में राजा भाग सिंह और सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया ने बहुत प्रयत्न किया था। अतएव अंग्रेज़ी सरकार ने महाराजा साहब और अहलूवालिया सरदारों के साथ मैत्री के संबंध अधिक दृढ़ करने आरंभ कर दिये।[1]

श्री कटास जी का स्नान

जसवंत राव होलकर के पञ्जाब से वापस जाने के बाद महाराज़ा रणजीतसिंह ने श्री कटास जी के स्नान का इरादा किया। कटास खेवड़ा की नमक की कान के निकट एक पवित्र स्थल है, जहाँ वैसाखी के दिन बड़ा भारी मेला होता है। कटास से वापस आते समय महाराजा बीमार हो गया था, परंतु शीघ्र ही उस ने स्वास्थ्य-लाभ किया, फिर लाहौर वापस आया।

शालामार बाग़ की मरम्मत

लाहौर पहुँच कर महाराजा ने शालामार में डेरे लगाये। उसकी मरम्मत पर बहुत-सा रुपया व्यय किया। नहर हंसली या नहर अली मर्दान खाँ जो इसे सिंचित और प्रफुल्लित करती थी फिर से खुदवाई गई। फल-फूल इत्यादि से इसे वह सौंदर्य प्रदान किया जो शाहजहाँ के बाद इसे कभी प्राप्त न हुआ था।

---

[1] इसी संबंध में मुनशी सोहन लाल एक मनोरंजक घटना का वर्णन करते हैं कि एक बार बात-चीत के बीच महाराजा ने कप्तान वेड को बतलाया कि जब जसवंत राव होलकर उस के पास सहायता के लिए आया तो महाराजा ने खालसा की पवित्र पुस्तक अर्थात् ग्रंथ साहब की सहायता माँगी। दो कागज़ के टुकड़ों पर अंग्रेज़ों और होलकर का नाम लिख कर डाला। ग्रंथ साहब ने अंग्रेज़ों के पक्ष में निर्णय दिया।

सातवाँ अध्याय

सतलज पार की सिख रियासतों से संबंध और अन्य विजय

(सन् १८०६–१८०८ ई०)

प्रारंभिक कथन

लगातार सन् १८०६ से १८०८ ई० तक महाराजा रणजीतसिंह युद्धों में नितांत व्यस्त था, मानो उसका पाँव हरदम घोड़े की रिकाब में रहता था। जवानी का ज़माना था, ताक़त पूरे ज़ोरों पर थी। अतएव महाराजा ने सतलज पार किया। सिख मिस्लों के युद्ध से पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। क़सूर के बलशाली पठानों के बल को नष्ट कर दिया। पहाड़ी प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया। विजयों के जोश में अंग्रेज़ों तक के साथ मुठ-भेड़ की नौबत पहुँचा दी, परंतु अंत में उनके साथ मित्रता की संधि निश्चित पाई, जिससे महाराजा के जीवन में एक नया युग आरंभ होता है।

सतलज पार की सिख रियासतों की आपस की लड़ाइयाँ

दलादी नाम का गाँव पटियाला के राजा साहब सिंह और नाभा के राजा जसवंत सिंह की सीमा पर स्थित था, जिसे इनमें से प्रत्येक राजा अपनी संपत्ति ख़याल करता था। भाई तारा सिंह राजा पटियाला का प्रतिनिधि उस गाँव में ठहरा हुआ था। किसी ने उसकी हत्या कर दी। राजा पटियाला ने जसवंत सिंह नाभा नरेश पर संदेह किया। झगड़ा बढ़ गया। लड़ाई की नौबत पहुँच गई। जींद-नरेश राजा भाग सिंह नाभा नरेश का साथी बन गया। सरदार महताब सिंह थानेसरवाला और भाई लाल सिंह कैथलवाला पटियाला के साथ मिल गये। युद्ध आरंभ हो गया और उस युद्ध में सरदार महताब सिंह काम आया। राजा पटियाला क्रोध के मारे लाल-पीला हो गया।

रणजीतसिंह से सहायता की प्रार्थना

अतएव महाराज रणजीतसिंह से वह सहायता का प्रार्थी हुआ। अपने वकील सरदार ध्यान सिंह को महाराजा की सेवा में भेजा, जिस ने एक अत्यंत सुंदर और मूल्यवान् मोतियों का हार महाराजा की भेंट कर के अपने स्वामी का संदेश कह सुनाया। रणजीतसिंह ऐसे स्वर्ण अवसर को कहाँ खोने वाला था? अब सतलज पार की रियासतों में हस्तक्षेप का अवसर आया था। अतएव उधर जाने की फ़ौरन तैयारी कर ली।

रणजीतसिंह का प्रस्थान

रणजीतसिंह ने अपने तोपख़ाने को कूच की आज्ञा दी। अन्य सरदारों के नाम भी आज्ञा-पत्र भेजे गये कि अपनी-अपनी सेनाएं ले कर व्यास नदी के किनारे वीरुवाल में इकट्ठा हो जायँ। दशहरा समाप्त होने पर महाराजा स्वयं भी रवाना हो गया। रास्ते में फैजलपुरिया मिस्ल के सरदार बुद्ध सिंह से एक हाथी और बहुत-सा नक़द रुपया भेंट स्वरूप लिया, फिर कपूरथला के सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया के साथ करतारपुर पहुँचा। यहाँ सोढी बाबा गुलाब सिंह ने दो अच्छी तोपें महाराजा को भेंट कीं। इतने में महाराजा की सेना ने व्यास नदी पार करके इस ओर इकट्ठा होना शुरू कर दिया। इस बहुसंख्य सेना को देख कर डल्लेवाली मिस्ल का सरदार तारा

सिंह घेबा घबरा गया और पचीस हज़ार रुपया नक़द भेंट कर महाराजा की अधीनता स्वीकार कर ली। महाराजा वहाँ से फिलौर पहुँचा और सरदार धर्म सिंह हाकिम फिलौर से भेंट की। इस के बाद लुधियाना और जगराँव के क़िलों पर अधिकार जमाया। इस प्रकार दौरा करता हुआ रणजीतसिंह पटियाला के इलाक़े में जा पहुँचा।

रणजीतसिंह का निर्णय

यहाँ पटियाला, नाभा और जींद के राजाओं ने बड़े उत्साह के साथ महाराजा का स्वागत किया और आतिथ्य-सत्कार में कोई कसर उठा न रक्खी। कुछ दिनों के विश्राम के अनंतर महाराजा ने दोनों पक्षों की माँगें सुनीं और कुछ प्रयत्न के अनंतर राजा पटियाला को दलाली गाँव का हक़दार निर्णय किया। राजा नाभा को प्रसन्न करने की इच्छा से कोट-वासिया, तलवंडी और जगराँव तथा इन के साथ इकतीस देहात जिन की आय चौबीस हज़ार रुपया वार्षिक थी प्रदान किये। इसी प्रकार राजा जींद को लुधियाना और उस के आस-पास का इलाक़ा प्रदान किया। सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया को भी बहुत-सा इलाक़ा प्रदान किया गया। इस के अनंतर महाराजा जालंधर की तरफ़ लौटा, जहाँ कुछ दिन शिकार खेलने में व्यतीत किये।

काँगड़ा के राजा की सहायता के लिए प्रार्थना

महाराजा अभी जालंधर में ही ठहरा था कि राजा संसार चंद काँगड़ा नरेश का भाई मियाँ फ़तहचंद महाराजा के पास आया और बताया कि नैपाल का सेनापति अमर सिंह थापा गोरखा फ़ौज के साथ पहाड़ी प्रदेश को बड़ी तेज़ी के साथ विजय कर रहा है। कई पहाड़ी रियासतें, उदाहरणार्थ सिरमौर, गढ़वाल और नालागढ़ इत्यादि विजय कर चुका है और अब काँगड़ा पर चढ़ आया है। राजा संसारचंद क़िले में बंद है, और आपसे सहायता का प्रार्थी है।

गोरखा फ़ौज का भागना

रणजीतसिंह ने फ़ौरन इसे स्वीकार कर लिया और काँगड़ा की तरफ़ प्रस्थान किया। यह सुन कर सेनापति अमर सिंह घबराया और अपने विश्वस्त प्रतिनिधि ज़ोरावर सिंह को महाराजा के पास भेजा, जिसने रणजीतसिंह से संसारचंद की सहायता न करने की प्रार्थना की और इसके बदले में भारी रक़म भेंट-स्वरूप प्रस्तुत करने का वचन भेजा। परंतु रणजीतसिंह ने एक न सुनी। सिख फ़ौज आगे बढ़ी और ज्वालामुखी के पवित्र स्थान पर जा पहुँची। गर्मी की अधिकता से गोरखा सेना में बीमारी फैल गई थी। अतएव अमर सिंह ने रातोंरात काँगड़ा क़िले का घेरा छोड़ दिया और मंडी जा कर दम लिया। राजा संसारचंद ने दो घोड़े और तीन हज़ार रुपया भेंट स्वरूप प्रस्तुत किया। महाराज ने एक हज़ार फ़ौज का दल नादौन के क़िले में छोड़ा और साथ ही सरदार फ़तेह सिंह कालियाँवाला को अमर सिंह थापा की गति और कृतियों के निरीक्षण के लिए कुछ समय तक बिजवाड़ा में ठहरने की आज्ञा दी और स्वयं लाहौर के लिए प्रस्थान किया।

कुँवर शेर सिंह और तारा सिंह का जन्म

ज्वालामुखी के निकट रानी सदा कौर का एक तेज़ सवार ख़ुशी का संवाद लाया कि उस की बेटी महारानी महताब कौर की कुक्ष से महाराजा के दो पुत्र उत्पन्न हुए। अतएव बहुत ख़ुशियाँ मनाई गईं और धूम-धाम के जलसे हुए। शुभ लग्न के अनुसार एक का नाम कुँवर शेर सिंह और दूसरे का कुँवर तारा सिंह रक्खा गया। यही कुँवर शेर सिंह बाद में महाराज शेर सिंह हुआ।

युवराज के जन्म के संबंध में विभिन्न मत

अँग्रेज़ी इतिहास-लेखक जैसे कप्तान मरे, वेड और डाक्टर हानिगबर्गर लिखते हैं कि यह

दोनों शहज़ादे महाराजा रणजीतसिंह के बेटे नहीं थे और न महताब कौर के कुक्ष से उत्पन्न हुए थे। वरन् रानी सदा कौर ने बड़ी चालाकी के साथ यह दोनों बच्चे किसी पड़ोसी से प्राप्त करके अपनी बेटी की कुक्ष से पैदा हुए कह के प्रसिद्ध कर दिये। हिंदुस्तानी इतिहास लेखकों ने भी यह कहानी यहाँ से प्राप्त करके अपनी पुस्तकों में लिख दी। सैयद मुहम्मद लतीफ़ ने तो इसके संबंध में एक बड़ा विस्तृत क़िस्सा गढ़ दिया है। बाबा प्रेम सिंह ने अपनी पुस्तक में इस क़िस्से के प्रतिवाद का प्रयत्न किया है। यद्यपि हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते लेकिन यह अवश्य मालूम पड़ता है कि सन् १८३३ ई० के लगभग यह कहानी सच हो या झूठ लोगों में प्रसिद्ध हो चुकी थी, और वे विश्वास भी करने लग गये थे। डॉ० हानिगबर्गर भी इस समय दरबार लाहौर में रहता था। कप्तान वेड महाराजा के यहाँ बहुत आता-जाता था। दीवान अमरनाथ जो उस समय कम अवस्था का युवक था महाराजा का चरित्र लिखने में लगा था। वह भी इस घटना की ओर छिपे ढंग से संकेत करता जान पड़ता है।[1]

क़सूर पर कब्ज़ा सन् १८०७ ई०

नवाब निज़ामुद्दीन मर चुका था, और उसका भाई क़ुतुबुद्दीन ख़ाँ क़सूर का नवाब था। यह महाराजा की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार न था। वास्तव में पहले भी क़सूर का नवाब हृदय से महाराजा के वश में आने को राज़ी न था। इधर महाराजा को भी यह बात ठीक न मालूम पड़ती थी कि उससे इतने निकट पठानों की छोटी-सी स्वतंत्र रियासत बनी रहे, और उसे हर समय यह भय रहे कि क़सूर के शासक उसके वैरियों से मिल कर षड्यंत्र कर रहे हैं। अतएव कॉंगड़ा से वापस आते समय महाराजा ने क़सूर के दमन का पक्का निश्चय कर लिया, और तोपख़ाने सहित सेना को आज्ञा दी कि वह सीधे क़सूर पहुँच जाय। अन्य सरदारों के नाम भी आज्ञाएँ निकालीं, कि वह अपने सिपाहियों को लेकर क़सूर पहुँचें।

चुनाँचे फ़रवरी में क़सूर पर चढ़ाई हुई। उधर क़ुतुबुद्दीन ने भी महाराजा की इच्छा भाँपते हुए जिहादी पठानों के दल के दल इकट्ठे कर लिए और पूरी तरह युद्ध की तैयारियाँ कर लीं। महाराजा को जब इन तैयारियों का पता लगा तो उसने स्वयं भी सेना की संख्या में वृद्धि कर ली। विशेष कर बहादुर अकालियों के जत्थों को अमृतसर से बुला लिया। १० फ़रवरी के सवेरे क़सूर पर धावा बोल दिया गया। नवाब के ग़ाज़ी भी ख़ालसा सेना पर टूट पड़े। दो घोर लड़ाइयों के बाद पठानों के पाँव उखड़ गये। उनमें कोलाहल फैल गया और अव्यवस्था उपस्थित हो गई। नवाब ने भाग कर क़िले में शरण ली। सिखों ने क़िले का घेरा कर लिया। एक मास तक दोनों पक्षों में छोटी-छोटी लड़ाइयाँ होती रहीं परंतु क़िले के विजय करने का कोई उपाय दृष्टि में न आता था, क्योंकि क़िला बहुत दृढ़ था और उसमें रसद का सामान भी पर्याप्त मात्रा में था। अतएव महाराजा ने प्रस्ताव किया कि क़िले की एक ओर की दीवार को सुरंग लगा कर उड़ा दिया जाय। एक चुने हुए दल ने रातोंरात क़िले की दीवार के नीचे सुरङ्ग खोद डाली। सवेरा होने तक बारूद भर कर आग लगा दी। क़िले का पश्चिमी भाग उड़कर अलग जा पड़ा। सिखों की सेना ने क़िले में प्रवेश किया। अब तो ग़ाज़ियों ने तलवार का जवाब तलवार से देने में कोई कसर न उठा रक्खी। ख़ून की नदियाँ बह निकलीं मगर बहादुर ख़ालसा क़िले पर अधिकार करने में सफल हुआ।

नवाब से उदारता का व्यवहार

नवाब भागता हुआ पकड़ा गया और महाराजा के सामने लाया गया। उसने प्राणरक्षा की

---

[1] ज़फ़रनामा रणजीतसिंह, पृष्ठ ४०।

प्रार्थना की। सरदार फ़तेह सिंह कालियाँवाला ने बड़े ज़ोर से नवाब की सिफ़ारिश की। रणजीतसिंह ने क्षमाप्रदान की और सतलज पार 'ममदोट' का इलाक़ा, जिसकी वार्षिक आय लगभग एक लाख रुपया थी नवाब को जागीर के रूप में प्रदान किया। इस युद्ध में अकाली फूला सिंह, सरदार धनासिंह मलवई और सरदार निहाल सिंह अटारीवाला ने विशेष कारनामे दिखाये। अतएव क़सूर का इलाक़ा सरदार निहाल सिंह अटारीवाले को जागीर-रूप में प्रदान किया गया। क़सूर के क़िले से असंख्य धन, नक़द और वस्तुओं के रूप में, महाराजा के हाथों लगा। यहाँ से विजय और प्रसन्नता के बाजे बजाते हुए महाराजा साहब लाहौर में प्रविष्ट हुए।

मुल्तान पर आक्रमण

मुल्तान का नवाब गुप्त रूप से अपने सहधर्मी क़सूर के पठान नवाब को सहायता पहुँचा रहा था, इसलिए रणजीतसिंह ने उसे भी उसके किये पर दंड देने का विचार किया। पञ्जाब का शेर स्वयं न थकनेवाला और साहसी वीर था और उसने ऐसा ही अपनी ख़ालसा सेना को भी बना रक्खा था। अतएव लाहौर में केवल दो सप्ताह ठहर कर मुल्तान के लिए कूच किया। ख़ालसा सेना ने नगर की चारदीवारी से बाहर के मकानों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। नवाब मुज़फ़्फ़र ख़ाँ ने अपने आप को सामना करने के अनुपयुक्त पाया, और बहावलपूर के नवाब बहावल ख़ाँ से सहायता की प्रार्थना की। नावब ने अपना वकील मुंशी धनपत राय को महाराजा की सेवा में भेजा। उधर मुज़फ़्फ़र ख़ाँ को समझाया। अतएव दोनों पक्षों में समझौता हो गया। मुज़फ़्फ़र ख़ाँ ने सत्तर हज़ार रुपया नज़राने के रूप में प्रस्तुत किया और महाराजा लाहौर वापस आया।

पटियाला का गृह-कलह

इन्हीं दिनों राजा पटियाला और उसकी रानी आस कौर के बीच घरेलू कारणों से झगड़ा हो गया। रानी अपने बेटे कुँवर करम सिंह को युवराज नियुक्त कराना चाहती थी। लेकिन राजा अपने जीवन-काल में ऐसा करने के लिए तैयार न था। झगड़ा बढ़ गया और रियासत में दो दल बन गये। कुछ सरदार और सेना राजा की ओर हो गई; शेष ने रानी की सहायता की। युद्ध की तैयारी हो गई। परंतु कुछ राज-मंत्रियों के समझाने पर यह नीति-युक्त समझा गया कि महाराजा रणजीतसिंह को पञ्च बनाने के लिए प्रार्थना की जाय।

चुनांचे संदेशा पाते ही महाराजा एक बड़ी सेना लेकर पटियाला आ पहुँचा। राजा पटियाला ने राज-मंत्रियों सहित महाराजा का शानदार स्वागत किया और असाधारण आतिथ्य प्रदर्शित किया। कुछ दिनों के बाद रणजीतसिंह ने ख़ास विषय पर ध्यान दिया। दोनों पक्षों की माँगें बड़े ध्यानपूर्वक सुनीं और यह निर्णय किया कि साहब सिंह के जीते जी युवराज के नियुक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। रानी और उसके बेटे करम सिंह को पचास हज़ार रुपया वार्षिक आय की जागीर दिलवा दी। रानी आस कौर भी इस पर राज़ी हो गई।

भेंटों के ढेर

महाराजा के प्रस्थान के समय राजा पटियाला ने प्रथा के अनुसार रणजीतसिंह को भेंट प्रस्तुत किया जिसमें सत्तर हज़ार रुपये के मूल्य के जवाहिरात थे। इसके अतिरिक्त एक सुंदर पीतल की तोप भी भेंट की। सतलज पार के छोटे-बड़े सरदार महाराजा की बड़ी सेना देखकर भयभीत हो रहे थे। अतएव हर एक ने मूल्यवान् भेंट प्रस्तुत करके आई हुई बला को टालना उचित समझा। अतएव भाई लाल सिंह कैथलवाले ने बारह हजार रुपये और मालेरकोटला के पठान हाकिम ने चालीस हजार रुपये भेंट किये। इसी प्रकार सरदार करम सिंह शाहाबादिया, सरदार भगवान् सिंह शाहपुरिया और सरदार स्वर्गीय गुर बख़्श सिंह अंबालवी की विधवा ने भी भेंटें प्रस्तुत कीं।

क़िला नारायनगढ़ का घेरा

अंबाला पहुँचकर महाराजा को समाचार मिला कि रियासत सिरमौर का राजा किशन सिंह महाराजा की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। अतएव महाराजा ने तुरंत नारायनगढ़ को कूच किया। यह क़िला एक सुंदर स्थल पर अत्यंत सुदृढ़ बना हुआ था, जिसके ऊँचे दमदमों में बहुत-सी भारी तोपें सजी हुई थीं। किशन सिंह ने सामना करने की तैयारी कर ली। महाराजा ने क़िले का घेरा डाल दिया। सरदार फ़तेह सिंह कालियाँवाला एक दल सेना का लेकर आगे बढ़ा, कि वह वैरी की तोपों पर अधिकार कर ले। यह बहादुर बहुत निडरपन से वैरी पर टूट पड़ा और दो तोपें छीनने में सफल हुआ। अभी यह तोपें वह अपनी तरफ खिचवा ही रहा था कि सामने से एक गोली आई और सरदार फ़तेह सिंह की छाती में बैठ गई और आन की आन में यह वीर दूसरे लोक को सिधारा। रणजीतसिंह एक ऊँचे स्थल से यह सब रंग देख रहा था। अपने बहादुर सरदार की मृत्यु से उसे अत्यंत शोक हुआ।[1] उसी समय सरदार मोहन सिंह कुमेदान और दीवान सिंह भंडारी के दो दल आगे बढ़े। अभाग्यवश यह दोनों सरदार भी वहीं काम आये। यह देखकर ख़ालसा फ़ौज को बड़ा क्रोध आया। सिख बहादुर पागलपन के जोश में आगे बढ़े। गोलियों की मूसलाधार वर्षा कर दी। जिसे वैरी सहन न कर सका। परिणाम यह हुआ कि रणजीतसिंह की सेना ने क़िले पर अधिकार कर लिया। राजा किशन सिंह जान बचा कर भागा। महाराजा ने नारायनगढ़ का इलाक़ा फ़तेह सिंह अहलूवालिया को जागीर में प्रदान कर दिया। यहाँ से नौशेरा, मोरंडा, बहलोलपूर इत्यादि विजय करके महाराजा ने लाहौर की ओर प्रस्थान किया।

डलीवाली मिस्ल का महाराजा के अधिकार में आना

लाहौर आते समय महाराजा जालंधर में ठहरा ही था कि उसे समाचार मिला कि सरदार तारा सिंह घेबा, जो कुछ दिन पहले पटियाला के दौरे में महाराजा का साथी था मर गया है। महाराजा तुरंत उसके यहाँ समवेदना प्रकाशनार्थ पहुँचा। सरदार के आश्रितों के लिए उचित जागीर प्रदान करके डलीवाली मिस्ल की सेना और अधिकृत स्थलों को उसने अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार कसबा राहों, नकोदर, नौशेरा इत्यादि का सारा इलाक़ा जो सात लाख सालाना से भी अधिक आय का था महाराजा के पास आ गया और डलीवाल की प्रसिद्ध मिस्ल भी ख़तम हो गई।

दीवान मुहकम चंद का महाराजा की सेना में भरती होना

इसी वर्ष महाराजा का प्रसिद्ध सेनापति दीवान मुहकम चंद रणजीत सिंह की सेना में भरती हुआ।[2] मुहकम चंद सबसे पहले सरदार दल सिंह अकालगढ़वाले की नौकरी में दीवान के पद पर नियुक्त था। सन् १८०४ ई० में महाराजा ने दल सिंह का इलाक़ा विजय कर लिया और मुहकम चंद सरदार साहब सिंह गुजरातवाले की सेना में उच्च पद पर आसीन हुआ।

---

[1] सरदार फ़तेह सिंह कालियाँवाला महाराजा का बड़ा विश्वस्त सरदार था। फ़तेह सिंह के वंश और महाराजा के वंश में तीन पीढ़ियों से मैत्री का संबंध चला आता था। उक्त सरदार सन् १७९८ ई० में महाराजा की सेना में प्रविष्ट हुआ और लाहौर अमृतसर के दमन में उसने अपनी अच्छी कारगुज़ारी दिखाई। क़सूर और चनियोट का विजय उसी के कारण संभव हुई। अतएव महाराजा सरदार फ़तेह सिंह को बहुत प्रिय करके मानता था, और उसे लगभग साढ़े तीन लाख वार्षिक की जागीर प्रदान कर रक्खी थी। छोटे-बड़े सिख सरदार भी उसके झंडे के नीचे लड़ना अपने लिए बड़े गौरव की बात समझते थे। [2] ग्रिफ़न साहब यह तिथि कुछ मास पूर्व देते हैं।

दीवान उच्च कोटि की सैनिक योग्यता रखता था और इस बात को महाराजा ने साहब सिंह के साथ युद्ध करते समय ताड़ लिया था। सन् १८०७ ई० में साहब सिंह और दीवान में अनबन हो गई और मुहकम चंद अपनी नौकरी छोड़कर महाराजा की सेवा में उपस्थित हुआ। रणजीत-सिंह बहुत प्रसन्न हुआ और उसे उच्च सैनिक पद प्रदान किया। एक 'हाथी, ताज़ी घोड़ा और अलम व क़लम प्रदान किया'।[1] सरकारी फ़ौज के एक हज़ार सवार और दोआबा के जागीरदारों की डेढ़ हज़ार फ़ौज का नेतृत्व दिया और डलीवाली मिस्ल का प्रायः सारा इलाक़ा जागीर रूप में प्रदान किया। दीवान मुहकम चंद ने अपने इलाक़े का प्रबन्ध इस योग्यता से किया कि डली-वाली मिस्ल का हर एक सरदार अपनी सेना सहित महाराजा की फ़ौज में भरती हो गया। सर लेपल ग्रिफ़न लिखते हैं कि 'दीवान मुहकम चंद रणजीतसिंह के सेनापतियों में सबसे अधिक योग्य था। उसी की होशियारी और वीरता के कारण रणजीतसिंह छोटी-सी रियासत से आरम्भ करके पंजाब का साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुआ।'[2]

पहाड़ी इलाक़े का दमन

जनवरी सन् १८०८ ई० में रणजीतसिंह ने पहाड़ी इलाक़े के दमन की इच्छा की। दीवान मुहकम चंद सिख सेना का सेनापति नियुक्त हुआ। सबसे पहले पठानकोट का क़िला विजय किया गया और सरदार जयमलसिंह से चालीस हज़ार रुपये युद्ध के दंड-रूप में वसूल किये गये। इसके बाद क़िला जसरोटा की तरफ़ कूच किया। यहाँ का सरदार महाराजा के आगमन का समाचार सुनकर घबरा गया। अपनी सरहद पर पहुँच कर महाराजा का स्वागत किया और प्रचुर धन भेंट करके अधीनता स्वीकार की। कुछ दिन विश्राम करने के अनंतर रणजीतसिंह ने रियासत चंबा पर चढ़ाई की। चंबा का राजा भयभीत हुआ। अपने मंत्रियों को उसने महाराजा के पास भेजा और आठ हज़ार वार्षिक कर देने की स्वीकृति दी और अधीनता स्वीकार की। फिर रियासत बसोहली की बारी आई। यहाँ के राजा ने भी आठ हज़ार रुपये वार्षिक कर-रूप में देना स्वीकार किया और इस प्रकार अपनी जान छुड़ाई।

दरबार करना

पहाड़ी प्रदेश से लौट कर महाराजा ने एक विशाल दरबार किया जिसमें पञ्जाब के मैदानी और पहाड़ी प्रदेशों के सरदार, राजे और नवाब सम्मिलित हुए। प्रत्येक को उसके पद के अनु-सार खिलअतें प्रदान हुईं। इसी अवसर पर सरदार जीवन सिंह हाकिम स्यालकोट और साहब सिंह गुजरातवाले के नाम भी दरबार में हाज़िर होने के लिए आज्ञापत्र निकले। परन्तु इन दोनों ने अपने आप को महाराजा का अधीन न विचार कर दरबार में आना पसंद न किया।

स्यालकोट का दमन

इन सरदारों की अनुपस्थिति महाराजा को बहुत बुरी जान पड़ी और दरबार से छुट्टी पाते ही सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया को साथ लेकर स्यालकोट पर चढ़ाई कर दी। शहर के निकट पहुँचकर महाराजा ने अपना वकील जीवनसिंह के पास भेजा और दरबार में न उपस्थित होने का कारण पुछवाया। जीवनसिंह अपने दुर्ग को अजेय समझता था अतएव उसने कोई ठीक उत्तर न दिया। वरन् लड़ाई की तैयारियाँ करने लगा और रक्षा के लिए बाहर की दीवारों पर तोपें चढ़वा दीं। महाराजा ने भी युद्ध की आज्ञा दे दी। सरदार जीवन सिंह बड़ी बहादुरी से लड़ा और कई रोज़ तक अपने क़िले को बचाये रहा। इसी बीच में रणजीतसिंह ने आस-पास के दो-तीन दुर्ग विजय कर लिये। इन में से एक बुर्ज अटारी

[1] ज़फ़रनामा रणजीतसिंह पृष्ठ ४१। [2] लैपलग्रिफ़न पृष्ठ ५५१।

नाम का था, जो कि स्यालकोट के क़िले से डेढ़ मील की दूरी पर था। महाराजा ने ज़ंबू-रचे अर्थात् हल्की शुतरी तोपें इस बुर्ज पर स्थापित कर दीं और यहाँ से स्यालकोट के क़िले पर गोलाबारी आरंभ हुई। इसके अतिरिक्त रणजीतसिंह की सेना ने क़िले से कुछ दूरी पर सुरंग लगानी शुरू कर दी और चुने हुए बहादुर सिपाहियों का एक दस्ता ज़मीन के भीतर की राह से होकर कमन्द लगा कर क़िले की दीवार पर चढ़ गया। दूसरी ओर बहुत सी तोपें लगा कर क़िले के द्वार पर गोलाबारी आरंभ हुई। थोड़े ही समय में दरवाज़ों को खंड-खंड कर के फ़ौज क़िले में प्रविष्ट हो गई। महाराजा की आज्ञा से विजयी सिपाहियों ने दुर्ग को ख़ूब लूटा। सरदार जीवन सिंह के गुज़ारे के लिए जागीर नियत कर दी गई और स्यालकोट महाराजा के अधिकार में आ गया।

महाराजा का दौरा

स्यालकोट से महाराजा ने जम्मू पहाड़ की तरफ़ प्रस्थान किया और बारह मील की दूरी पर कलुवाल के पास खेमा डाला। अखनूर का हाकिम आलम सिंह[1] महाराजा की सेना देखकर घबराया। तेरह हज़ार रुपये सालाना कर देना स्वीकार कर के अधीनता स्वीकार की।

इसके बाद रणजीतसिंह गुजरात की तरफ़ आया। गुजरात का हाकिम स्यालकोट की लड़ाई का हाल सुन कर पहले ही भयभीत हो रहा था। इसने उसी दम महाराजा के पास अपने कर्म-चारियों को भेजा और बड़ी दीनता से अपनी ग़लती के लिए क्षमा माँगी। महाराजा ने भी बाबा साहब सिंह बेदी की सिफ़ारिश पर उसे क्षमा प्रदान की। उसे गुजरात के इलाक़े में रहने दिया और आगे के लिए कर पाने के लिए प्रतिज्ञापत्र लिखवा कर वापस लौट आया।

इसी साल महाराजा ने सरदार जयमल सिंह कन्हैया के इलाक़े का दौरा किया। इसी सरदार की बेटी के साथ कुँवर खड़क सिंह की मँगनी हो चुकी थी। उपरोक्त सरदार ने पचीस हज़ार रुपये भेंट में प्रस्तुत किये, और इसके इलाक़े का अधिकांश महाराजा ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

शेख़ूपूरा क़िले का दमन—सन् १८०८ ई०

मुनशी सोहनलाल लिखते हैं कि पंजाब में तीन क़िले—पठानकोट, स्यालकोट और शेख़ू-पूरा अपनी दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध थे और साधारण जनता द्वारा अजेय समझे जाते थे। इनमें से पहले दो तो महाराजा विजय करके अपने राज्य में मिला चुका था। तीसरा शेष था और इसकी ओर उसने अब ध्यान दिया। क़िला शेख़ूपूरा लाहौर से बीस मील की दूरी पर स्थित था। यहाँ का हाकिम सरदार अमीर सिंह इस बात पर राज़ी था कि यदि क़िले में उसी की थानेदारी बनी रहे तो वह महाराजा की आज्ञा पालन करने के लिए तैयार है। परंतु रणजीतसिंह को यह शर्त स्वीकार न थी। अतएव युवराज खड़क सिंह के नेतृत्व में एक बड़ी फ़ौज उसने शेख़ूपूरा की तरफ़ भेजी। महाराजा के तोपख़ाने ने क़िले की दीवारों पर गोलाबारी आरंभ की जिसका कुछ परिणाम न हुआ। महा-राजा के कई योद्धा सैनिक काम आये। अंत में बाहुबल के स्थान पर छल काम आया। मुनशी सोहन लाल लिखते हैं कि महाराजा इसी चिंता में था और निराश होनेवाला था कि एक रात क़िले के भीतर से एक अपरिचित मनुष्य ने महाराजा के पास आकर बताया कि दरवाज़े के बुर्ज के अत्यंत निकट ही एक बड़ा तहख़ाना है और यह क़िले में सबसे कमज़ोर जगह है, जहाँ तोप का गोला असर कर सकता है। अतएव तोपों का निशाना लगा कर उस स्थल पर एक भारी विच्छेद किया गया; फिर महाराजा की सेना भीतर घुस गई और क़िले पर अधिकार पा गई। सरदार अमीर

---

[1] सैदय मुहम्मद लतीफ़ इसका नाम आलम खां लिखते हैं। पृष्ठ ३७१

सिंह क़ैद कर लिया गया। महाराजा ने क़िले में अपना थानेदार नियुक्त कर लिया और शेख़ूपूरा का इलाक़ा कुँवर खड़क सिंह को जागीर-स्वरूप प्रदान किया।

दीवान भवानी दास—सन् १८०८ ई०

इसी वर्ष भवानी दास पेशावरी ने महाराजा के दरबार में उपस्थित होकर नौकरी की इच्छा प्रकट की। दीवान भवानी दास एक योग्य कुल का आदमी था। उसके बाप और दादा काबुल सरकार में दीवानी के पद पर रह चुके थे। दीवान भवानी दास भी काबुल-नरेश शाह शुजा के यहाँ माल-विभाग में एक उच्च पद पर नियुक्त रह चुका था। अमीर काबुल की तरफ़ से सूबा मुल्तान और डेराजात की मालगुज़ारी वसूल करने के लिए उसी वर्ष हिंदुस्तान आया था, और किसी कारण शाह शुजा से अप्रसन्न था। अतएव इस अवसर को उचित जानकर महाराजा की सेवा में उपस्थित हुआ। रणजीतसिंह ऐसे योग्य व्यक्ति की सेवा का हृदय से इच्छुक था। उसे अपना माल-विभाग सुधारने की बड़ी आवश्यकता थी। इस समय तक महाराजा के पास कोई नियत ख़जाना न था और न आय-व्यय का ठीक हिसाब रक्खा जाता था। रणजीतसिंह का कुल रुपया अमृतसर के साहूकार रामानंद के यहाँ जमा रहता था। अतएव महाराजा ने दीवान भवानी दास को तुरन्त दीवानी के पद पर नियुक्त कर दिया। भवानी दास ने इस पद पर नियुक्त होकर माल के दफ़्तरों का समुचित क्रम चलाया। यत्र-तत्र सरकारी ख़जाने खोले गये। रजिस्टर जारी किये जिनमें कौड़ी-कौड़ी का हिसाब लिखा जाता था। योग्य मुनशी नियुक्त किये गये जो हिसाब-किताब की जाँच-पड़ताल करते थे।[1]

ख़ुशहाल सिंह और नये अमीर

इन्हीं दिनों ख़ुशहाल नामक एक व्यक्ति महाराजा की सेवा में आया। यह जात का गौड़ ब्राह्मण और ज़िला मेरठ के परगना सरधना का रहनेवाला था। यह सुंदर आकृति का, शिष्ट और ऊँचे क़द का नौजवान था और आर्थिक संकट में था। महाराजा ने उसे धौंकल सिंह कुमेदान की पलटन में सिपाही के पद पर भरती कर लिया। इसका हृष्ट-पुष्ट होना और अच्छे ढंग से रहना इसके काम आया और महाराजा ने इसे 'ख़ासा बरदार' नियुक्त कर दिया। संभवतः महाराजा को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उसने सिख धर्म स्वीकार कर लिया। और अपना नाम ख़ुशहाल सिंह रक्खा। अब महाराजा उसे विशेष कृपा-दृष्टि से देखने लगा। कुछ समय के अनन्तर उसे 'जमादार' बना दिया। उसके थोड़े दिनों बाद ही 'ड्योढ़ी बरदार' नियुक्त हुआ। सिख दरबार में यह पद प्रतिष्ठित समझा जाता था क्योंकि जो व्यक्ति महाराजा से मिलने आता अवश्य ड्योढ़ी बरदार की सहायता प्राप्त करता। इस प्रकार ख़ुशहाल सिंह को तमाम बड़े-बड़े सरदारों और रईसों के साथ मैत्री-संबंध होने का अवसर मिला। इसके अतिरिक्त उसे हज़ारों रुपये इनाम और भेंट रूप में भी मिलने लगे।

कुछ समय के बाद उसने अपने भतीजे तेज राम को भी अपनी सहायता के लिए बुला भेजा और उसको भी सिख बना कर महाराजा को अधिक प्रसन्न कर लिया। उसका नाम तेजा सिंह[2] रक्खा गया। तेजा सिंह को फ़ौज में पद दिया गया। ख़ुशहाल सिंह ड्योढ़ी बरदारी के

---

[1] महाराजा के बड़े-बड़े नामी सरदारों और पदाधिकारियों के विस्तृत समाचार के लिए देखिए, सर लेपल ग्रिफ़ेन कृत 'पंजाब चीफ़्स'।

[2] यह वही तेजा सिंह है जो सन् १८४५-४६ ई० में सिख सेनाओं का कमांडर-इन-चीफ़ बनकर सतलज पार अंग्रेज़ों से लड़ने आया था, और जिस पर यह दोष लगाया जाता है कि सुबरावाँ की लड़ाई में उसने धोका देकर ख़ालसा फ़ौज को तबाह करा दिया।

अतिरिक्त कभी-कभी युद्ध-क्षेत्र में भेजा जाता था। परन्तु यह एक योग्य सैनिक के कर्तव्य का पालन नहीं कर सकता था। हाँ दूसरों की देखा-देखी युद्ध के कार्यों में अवश्य यह शौक़ से भाग लेता था। सन् १८१७ ई० में उसका छोटा भाई राम लाल भी लाहौर आ पहुँचा। परन्तु उसने सिख बनने से इन्कार कर दिया। इस कारण ख़ुशहाल सिंह भी महाराजा की दृष्टि से गिर गया। ज्यों ही उसे यह मालूम हुआ उसने अपने भाई को समझा-बुझा कर सिख धर्म की दीक्षा दिला दी। राम सिंह नाम रक्खा और महाराजा को फिर से प्रसन्न कर लिया। ख़ुशहाल सिंह उन लोगों में पहला व्यक्ति था जिन्होंने केवल महाराजा को प्रसन्न करने की इच्छा से सिख धर्म स्वीकार किया। यह उन नये अमीरों का एक उदाहरण है जो रणजीतसिंह के समय में ख़ानदानी सरदारों और मिस्लदारों के अतिरिक्त उत्पन्न हो रहे थे।

आठवाँ अध्याय

महाराजा और अंग्रेज़ी सरकार के बीच सरहद

सन् १८०८-९० ई० पर पुनर्विचार

पिछले कुछ वर्षों की घटनाओं का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हुआ होगा कि लाहौर पर अधिकार करने के दस वर्ष के भीतर-भीतर रणजीतसिंह अपनी विजयों को कितना विस्तार दे चुका था। पञ्जाब के लगभग सभी प्रसिद्ध नगरों पर उसका अधिकार हो चुका था। उदाहरण के लिए लाहौर, अमृतसर और क़सूर, होशियारपूर, पठानकोट, मंडी, सुकेत, बसोहली और जसरोटा, गुजराँवाला, रामनगर और वज़ीराबाद, स्यालकोट, जेहलम, रोहतास, पिंड दादनख़ाँ और नमकसार खेवड़ा, भेरा और मियानी, धनी, पुठोहार और रावलपिंडी। पञ्जाब के छोटे या बड़े सब सिख सरदार इसके वश में आ चुके थे। क़सूर की बलशाली पठानी रियासत नष्ट हो चुकी थी। मुल्तान और काँगड़ा के हाकिम महाराजा का बाहुबल अनुभव कर चुके थे। सारांश यह कि पंजाब का प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षा और उन्नति के लिए रणजीतसिंह की ओर देखता था, और उसकी कृपादृष्टि का इच्छुक था।

समाना का उत्सव

यद्यपि सरहिंद के सरदार अभी तक रणजीतसिंह के वंश में न हुए थे किंतु गत दो वर्षों में महाराजा ने दो बार सतलज पार कर सिख रियासतों का दौरा किया था और सरदारों से भेंटें ग्रहण की थीं। उन पर महाराजा का आतंक ख़ूब जम गया था अतएव जब सन् १८०८ ई० में तारा सिंह घेबा की मृत्यु पर डलीवाली मिस्ल के इलाक़े महाराजा के अधिकार में आये तो सतलज पार के सब रईस भयभीत हो गए। सब ने मिल कर रियासत पटियाला के समाना नामक गाँव में जलसा किया जिसमें निर्णय करना था कि अपनी रियासतें स्थायी रखने के लिए क्या कार्य किया जाय। अंग्रेजी अमलदारी जमुना नदी तक पहुँच चुकी थी, और उसके आगे बढ़ने की पूरी संभावना थी। दूसरी ओर से महाराजा अपने राज्य को बढ़ाता चला आ रहा था। अतएव सतलज पार के सिख सरदारों ने खयाल किया कि हम दो बलशाली हुकूमतों के बीच घिर गये हैं और हमें अपना अस्तित्व रखने के लिए एक या दूसरी शक्ति की शरण में जाना आवश्यक होगा। यद्यपि कुछ सरदार ब्रिटिश सरकार के संपर्क में आ कर उस की नीति और चरित्र देख चुके थे। वे बार बार इस बात पर जोर देते थे कि उन्हें अंग्रेज़ों के साथ मिल जाना चाहिए किंतु उन में कइयों को अंग्रेज़ों की दियानतदारी पर संदेह भी था। मगर वह सब के सब महाराजा के बलात्कार का अनुभव भी कर चुके थे, अतएव कुछ तर्क-वितर्क के बाद यह निर्णय किया गया कि उन्हें अंग्रेज़ी राज्य की शरण लेनी चाहिए। और इस विचार पर सब एक-मत हुए।[1]

हैज़ा और तपेदिक

इस संबंध में मुनशी सोहन लाल अपनी पुस्तक उम्दतुल्तवारीख पृष्ठ ७६ पर लिखता है कि विचार विनिमय करते हुए एक वयस्क और बुद्धिमान सरदार ने खुले शब्दों में कहा कि "भाइयो, हमारे लिए अधिक देर तक जीवित रहना तो असंभव है क्योंकि अंग्रेज़ क्षय रोग की तरह हैं जो शनैः शनैः जान लेंगे, महाराज हैज़ा अथवा सिरसाम की तरह है जो घंटों में ही जान निकाल लेगा।

---

[1] मुनशी सोहनलाल 'उम्दतुल्तवारीख़', भाग २, पृष्ठ ७६,।

इसलिये यदि कुछ अधिक देर जीवित रहने की इच्छा हो तो अंग्रेजों के साथ मिलकर ही ऐसा कर सकते हो। चुनाँचे ऐसा ही हुआ। बल्कि ईश्वर को कुछ और ही भाता था कि रणजीतसिंह का राज्य भी समाप्त हो गया और हाल ही में अंग्रेज भी देश को छोड़ गये। आज इन रियासतों का पैप्सू के रूप में चिह्न शेष है।

सिख सरदारों का भय

चुनांचे समाना के उत्सव की समाप्ति के बाद मार्च सन् १८०८ ई० में सिक्ख सरदारों के प्रतिनिधि जिनमें राजा भागसिंह जीन्द वाला, सरदार लाल सिंह कैथल वाला, राजा नाभा का वकील गुलाम हुसैन तथा पटियाले का वकील शामिल थे, ब्रिटिश रेजीडेण्ट के पास दिल्ली पहुँचे और उससे प्रार्थना की कि हमें अंग्रेज़ी रक्षा में ले लिया जाय। लेकिन रेज़िडेंट ने उन्हें कोई उत्साह-वर्धक उत्तर न दिया। केवल यह बचन दिया कि उनकी प्रार्थना गवर्नर जनरल के पास भेज दी जायगी और जैसा निर्णय होगा उनको सूचित कर दिया जायगा। इस सिलसिले में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि अभी तक अंग्रेजी सरकार ने यह निर्णय नहीं किया था कि इन राज्यों के साथ कैसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। वे अच्छी तरह जानते थे कि इन सरदारों में न तो परस्पर एकता है और न इस एकता के स्थायी होने की कोई सम्भावना ही है, इसलिये जिस समय वे चाहें उनको अपने साथ मिला सकेंगे। यह सरदार दिल्ली से उदास होकर वापस आ रहे थे कि इस मामले का समाचार रणजीतसिंह को मिल गया। महाराजा ने तुरंत अपना एजेंट उन लोगों के पास भेजा, और उन्हें अमृतसर दरबार में उपस्थित होने का निमंत्रण दिया। अतएव जब यह सब एकत्र हो गये तो महाराजा बड़ी आवभगत से उनसे मिला और उनके दिल से भय दूर करने में कोई कसर उठा न रक्खी। २४ नवंबर सन् १८०८ ई० को अखनूर में महाराजा ने राजा पटियाला से फिर भेंट की, और इसी विषय पर बात-चीत हुई। दोनों में मित्रता की प्रतिज्ञाएँ हुईं और बाबा साहब सिंह बेदी ने आपस का प्रेम बढ़ाने के लिए उनकी पगड़ियाँ भी बदलवा दीं।

ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन

इन्हीं दिनों ब्रिटिश सरकार के पास यूरोप से समाचार आया कि नैपोलियन बोनापार्ट, टर्की और ईरान के बादशाहों की सहायता से हिंद पर आक्रमण करना चाहता है। उस समय फ्रांस के साम्राट् नैपोलियन बोनापार्ट की सैनिक शक्ति चरम सीमा को पहुँची हुई थी। वह यूरोप का बहुत-सा भाग विजय कर चुका था और जून १८०७ में रूस के साथ नया संधिपत्र लिखकर लड़ाई झगड़ों से निवृत्त हो चुका था वरन् सन् १८०८ ई० के अन्त तक स्वेडन के अलावा शेष सभी योरोपीय देश अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई के लिये तैयार हो चुके थे, इसीलिए नैपोलियन के आक्रमण की भयावह ख़बर ने गवर्नर-जनरल लार्ड मिंटो को पेशबंदियां करने के लिए विवश किया, और उसे अपनी तटस्थता की नीति बदलने की आवश्यकता जान पड़ी। अतएव सतलज और जमुना नदी के बीच के इलाकों की रियासतों को विश्वास दिलाया गया कि अगर वे अंग्रेज़ों के अनुकूल रहेंगे तो अंग्रेज़ी सरकार स्वाभाविकतया उनकी सहायता करेगी। साथ ही अगस्त १८०८ में[1] एक दूत-दल मिस्टर मेटकाफ़ के साथ महाराजा के दरबार में लाहौर भी भेजा गया। इसी प्रकार दूत सिंध के अमीरों, काबुल के अमीर शाह शुजा और ईरान के बादशाह के यहाँ भी भेजे गए। इन दूतों का उद्देश्य इन प्रांतों के

[1] लार्ड मिन्टो के इससे पहले के फरवरी तथा मार्च सन् १८०८ के पत्रों से भी यह स्पष्ट है कि उसने पहलें से ही अपने मन में निश्चय कर लिया था कि यमुना तथा सतलज नदी के बीच की सिक्ख रियासतों को अपने अधीन रखेगा और उन्हें किसी रूप में भी रणजीतसिंह के अधीन न होने देगा। वह योरूप की सोचनीय स्थिति को देखते हुए रणजीतसिंह से बिगाड़ करना भी नहीं चाहता था।

शासकों में अंग्रेज़ों के प्रति मैत्रीभाव उत्पन्न करना था, जिसमें नैपोलियन के आक्रमण के समय यह उनकी सहायता करें।

मिस्टर मेटकाफ़ की महाराजा से मुलाकात

महाराजा उस समय अपनी सेना एकत्र किए हुए क़सूर के निकट डेरा डाले पड़ा था। संभवतः सतलज पार के इलाक़े का दौरा करने का निश्चय कर रहा था कि मेटकाफ़ ११ सितंबर सन् १८०८ ई० पटियाले से होता हुआ क़सूर के निकट मौज़ा खेमकरन में महाराजा की सेवा में उपस्थित हुआ। महाराजा ने सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया और दीवान मुहकम चंद को दो हज़ार के क़रीब सुंदर जवानों के साथ मेटकाफ़ के स्वागत के लिए भेजा। जब वह महाराजा के ख़ेमे के निकट पहुँचा तो महाराजा स्वयं अपने खेमे के बाहर स्वागत के लिए आया। एक हाथी, कुछ घोड़े, सोने की ज़ीन और मूल्यवान् वस्त्र उसकी भेंट किए। महाराजा का बुद्धिमान् मंत्री, फ़कीर अजीजुद्दीन मेटकाफ़ के आतिथ्य के लिए नियुक्त हुआ। दूसरे रोज महाराजा अंग्रेज़ी सफ़ीर के कैंप में गया और मेटकाफ़ ने मूल्यवान् भेंट गवर्नर-जनरल की तरफ से महाराजा की सेवा में प्रस्तुत कीं। इसके बाद मेटकाफ़ ने गवर्नर-जरनल के विचार प्रकट किए, और संधि का मसविदा महाराजा के सामने रक्खा।

संधि की शर्तें

संधि की शर्तें लगभग इस आशय की थीं —(१) अगर फ्रांस का बादशाह कभी इस देश पर आक्रमण करे तो अंग्रेजी सरकार और रणजीतसिंह सम्मिलित शक्ति से उसका सामना करे। (२) अगर कभी वैरी का सामना करने के लिए अंग्रेज़ी फौजें अटक से पार या अफ़ग़ानिस्तान के इलाक़े में ले जाने की आवश्यकता उपस्थित हो तो महाराजा अपने राज्य में से उन्हें रास्ता दे। (३) अगर काबुल के साथ अंग्रेज़ी सरकार को पत्र-व्यवहार करने की आवश्यकता अनुभव हो तो महाराजा पत्रवाहकों की रक्षा करे।

महाराजा ने तत्क्षण इन शर्तों को स्वीकार न किया, और इनके मुक़ाबले में अपनी निम्नलिखित शर्तें प्रस्तुत कीं—(१) लाहौर दरबार और काबुल के शासक के बीच लड़ाई या झगड़ा होने की अवस्था में ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप न करे। (२) अंग्रेजी सरकार और लाहौर दरबार में सदा मैत्री रहे। (३) महाराजा रणजीतसिंह के शाही अधिकार सब सिख रियासतों पर समझे जावें, जिससे महाराजा का आशय सतलज पार की सिख रियासतों से था।

अंग्रेज़ी दूत ने उत्तर दिया कि मुझे इन शर्तों को स्वीकार करने का अधिकार नहीं। हाँ, मैं दोनों मसविदे गवर्नर-जनरल के पास भेज देता हूँ।

महाराजा का सतलज पार के इलाक़े का दौरा

महाराजा के लिए यह विश्वास करना कठिन था कि अंग्रेज़ यह संधि केवल फ्रांस के आक्रमण को रोकने के लिए कर रहे हैं। वरन् उसे यह विश्वास था कि यह सब कार्यवाही सतलज पार की रियासतों के संबंध में है। अंग्रेज़ इन्हें अपनी शरण में लेना चाहते है और सत्य भी यही था।

खालसा की सम्मिलित शक्ति स्थापित करने के लिए महाराजा के हृदय में प्रबल इच्छा उत्पन्न हो चुकी थी, और यह खयाल कि लगभग आधी सिख रियासतें अंग्रेजों की शरण में चली जावें उसे बहुत कष्ट देता था। अतएव गवर्नर जनरल और उसके दूत के पत्रव्यहार के अवकाश से उसने लाभ उठाना चाहा और तुरंत एक बृहत् सेना को सतलज पार जाने की आज्ञा दी, और खाई नामक स्थल पर डेरा डाला। उस समय राजा भाग सिंह, राजा जसवंत सिंह नाभा-नरेश, भाई लाल सिंह कैथलवाला और सरदार गुरदित्त सिंह लाडवावाला और अन्य बहुत से सरदार महाराजा के साथ थे। यहाँ

पर महाराजा ने फ़ीरोज़पूर के हाकिम से भेंट वसूल की और सरदार करम सिंह चाहल को फ़रीदकोट की विजय के लिए भेजा। करम सिंह की सफलता का समाचार आने पर स्वयं आधी रात बीतने पर खाई से प्रस्थान किया, और अक्तूबर सन् १८०८ ई० में फ़रीदकोट में अपना थाना स्थापित किया। फिर नवाब मालेरकोटला से भेंट वसूल किया। इसके बाद महाराजा अंबाला पहुँचा। क़िले को विजय करके वहाँ भी अपना थाना स्थापित किया। अपने एक अफ़सर सरदार गंडा सिंह साफ़ी को दो हज़ार सवार के साथ इस किले का थानेदार नियुक्त किया। यहाँ से दौरा करता हुआ महाराजा शाहाबाद पहुँचा। यह स्थल मारकंडा नदी के किनारे एक केंद्रीय स्थिति रखता है इसके एक ओर सहारनपूर, दूसरी ओर जगाधरी, तीसरी तरफ थानेसर और चौथी तरफ जमुना नदी है। यहाँ से भेंट वसूल कर के महाराजा दिसंबर सन् १८०८ ई० में अमृतसर वापस आया।

अंग्रेज़ी सरकार के ढंग

अंग्रेज़ी सरकार ने महाराजा के इस कार्य को अत्यंत अनुचित समझा। मेटकाफ़ इस के विरुद्ध समय-समय पर आवाज़ भी उठाता रहा। परंतु अभी तक गवर्नर-जनरल ने इस बात का निश्चित निर्णय नहीं किया था कि उसे क्या व्यवहार ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि यूरोप की दशा अभी तक संदिग्ध थी। परतु जब महाराजा शाहाबाद तक पहुँच गया तो गवर्नर-जनरल घबराया और उस ने निर्णय कर लिया कि महाराजा को रोकने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। क्योंकि ऐसी स्थिति में सतलज पार के सरदारों के साथ मैत्री के संबंध स्थापित करना कठिन हो जायगा। चुनांचे गवर्नर जनरल ने यह निर्णय किया कि रणजीतसिंह से संधि पूर्ण करने से पहले ही यह बेहतर होगा कि सतलज पार की सिक्ख रियासतों को अपनी रक्षा में ले लिया जाय क्योंकि इस बात से डर कर रणजीतसिंह सीधे रास्ते पर आ जायगा। अतएव जनवरी सन् १८०९ में कर्नल अक्तरलोनी के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सेना जमुना के पार उतरी और बोड़िया, पटियाला होती हुई लुधियाने के निकट आ पहुँची। अंग्रेज़ी सेना के आगमन पर सतलज पार के सरदारों की आशाएँ उमँड़ आईं। उन्होंने अपने कर्तव्य पर पुनर्विचार किया, और यही निश्चय किया कि अंग्रेज़ों के साथ मिलना ही उन के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए आवश्यक है। अतएव अक्तरलोनी ने इस निश्चय की सूचना गवर्नर-जनरल को दी, और उस की मंज़ूरी से एक विज्ञप्ति ९ फरवरी सन् १८०९ ई० की तिथि में प्रचलित की और उस की एक प्रतिलिपि महाराजा रणजीतसिंह को भेज दी। इस विज्ञप्ति का सारांश यह था कि सतलज पार के रईसों को अंग्रेज़ी सरकार ने अपनी शरण में ले लिया है। इस लिए जो फौज महाराजा ने सतलज के इस पार स्थापित की है वह तुरंत वापस बुला ली जावे। यदि ऐसा न किया जायगा तो अंग्रेज़ी सरकार युद्ध के लिए विवश हो जायगी।

अक्तर लोनी की विज्ञप्ति

चूँकि अंग्रेज़ी फौज़ महाराजा रणजीतसिंह की सरहद के निकट डेरा डाले पड़ी है इस लिए यह उचित समझा गया है कि इस विज्ञप्ति द्वारा महाराजा की सेवा में ब्रिटिश सरकार के सदाशय का निदर्शन किया जाय, जिस से महाराजा को अंग्रेजी सरकार के भावों की जानकारी हो जाय, जिस का उद्देश्य महाराजा के साथ मैत्री-भाव बनाये रखना और उस के देश को हानि से बचाना है। दोनों राज्यों के बीच आपस का प्रेम विशेष शर्तों के कारण ही बना रह सकता है। इस लिए वह नीचे अंकित की जाती हैं।

१. खरड़, खानपूर और सतलज नदी के इस ओर के अन्य किले जो महाराजा के अधिकारियों के अधिकार में हैं गिरा दिए जावें और यह सब स्थान अपने पुराने मालिकों को लौटा दिये जावें।

२. महाराजा की जितनी पैदल और सवार सेना सतलज नदी के उस तरफ हो महाराजा के देश में वापस बुला ली जाय।

३. महाराजा की जो सेना फिलौर के घाट पर स्थित है कूच कर के नदी पार चली जाय और आगे महाराजा की सेना नदी के इस तरफ उन सरदारों के इलाके में न आये जो अंग्रेजी सरकार की शरण में आ चुके हैं। सरकार ने नदी के उस तरफ सिपाहियों की एक थोड़ी संख्या थानों में नियुक्त की है। अगर उतनी ही सेना फिलौर के घाट पर थाने में रक्खी जाय तो हमें कोई आपत्ति न होगी।

४. यदि महाराजा उपरोक्त शर्तों की पूर्ति करे जैसा कि वह कई बार मिस्टर मेटकाफ की उपस्थिति में स्वीकार कर चुका है, तो यह पूर्ति आपस को मैत्री को सुदृढ़ करेगी। यदि इन शर्तों की पूर्ति न हुई तो यह स्पष्ट प्रकट होगा कि महाराजा न केवल अंग्रेजों की मैत्री की कुछ परवा नहीं करता वरन् शत्रुता पर कटिबद्ध है। इस दशा में विजयी अंग्रेज़ी सेना अपनी रक्षा के लिए प्रत्येक ढंग जो वह उपयुक्त समझेगी काम में लावेगी।

५. इस विज्ञप्ति का आशय केवल इतना है कि गवर्नमेंट के भाव महाराजा पर प्रकट हो जावें और महाराजा के विचार हमें मालूम हो जावें। सरकार को पूरी आशा है कि महाराजा इस विज्ञप्ति की शर्तों पर विचार करेगा और उन्हें अपने पक्ष में बहुत उपयोगी पावेगा। इस से अंग्रेज़ों की मैत्री का पूर्ण परिचय मिलेगा कि वह युद्ध का पूर्ण बल रखते हुए भी शान्ति के इच्छुक हैं।

रणजीतसिंह का युद्ध की तैयारी करना

जब महाराजा को यह विज्ञप्ति प्राप्त हुई तो उसे बड़ा जोश आया और उस ने इसे स्वीकार करने में आपत्ति की। रणजीतसिंह के लिए अब दो रास्ते खुले थे। या तो अंग्रेज़ी सरकार से सदा के लिए संबंध विच्छेद कर ले या उन के साथ संधि कर के सतलज को अपनी सरहद निश्चित करे, और अपने राज्य को विस्तार देने के लिए कश्मीर, पेशावर, अफ़ग़ानिस्तान, मुलतान इत्यादि के इलाके विजय करे। महाराजा को पहला प्रस्ताव पसंद आया। तुरंत उस ने अपने सरदारों के नाम आज्ञापत्र प्रचारित किये कि संपूर्ण ख़ालसा फौज सहित लाहौर पहुँच जाओ और स्वयं अन्न के ढेर, गोला-बारूद व अन्य युद्ध के सामान बाहुल्य से एकत्रित करना आरंभ कर दिया। क़िलों पर तोपें स्थापित कर दी गईं। दीवान मुहकम चंद को आज्ञा हुई कि कांगड़ा से संपूर्ण सेना और तोपखाना लेकर तुरंत फिलौर पहुँचो और दूसरी आज्ञा मिलते ही अंग्रेज़ों से युद्ध आरंभ कर दो। इसी प्रकार समस्त जागीरदारों और मालगुज़ारों को हुक्मनामे भेजे गये, और कठिन आज्ञा दी गई कि बहुत जल्द अपनी-अपनी सेना और तोपों के साथ लाहौर पहुँच जाओ। लाहौर का दुर्ग अधिक सुदृढ़ किया गया। क़िले की दीवारों पर तोपें चढ़ा दी गईं। मुनशी सोहन लाल लिखते हैं कि कुछ दिनों में लगभग एक लाख योद्धा सैनिक लाहौर में एकत्र हो गये और उन्हें सतलज और ब्यास के पास भिन्न-भिन्न स्थलों पर नियुक्त होने की आज्ञा दे दी गई।

अंग्रेज़ी सरकार की कारवाई

अंग्रेज़ी सरकार को जब इन तैयारियों का समाचार मिला तो उस ने सर डेविड अक्तर-लोनी की सेना में बहुत वृद्धि कर दी। राजा भागसिंह जीन्द नरेश से लुधियाने का किला लेकर वहाँ अपनी छावनी स्थापित कर दी। अंग्रेजी सरकार अपनी तैयारियों में लगी हुई थी कि यूरोप से नैपोलियन बोनापार्ट की कई कठिनाइयों का समाचार मिला जिस से यह स्पष्ट जान पड़ता था कि अब नैपोलियन कई वर्ष तक हिंदुस्तान पर आक्रमण नहीं कर सकता। अब अंग्रेज़ी सरकार ने

मेटकाफ ने पहले की अपेक्षा अधिक ज़ोरदार नीति ग्रहण कर ली और यह स्पष्टतया प्रकट कर दिया कि जो कुछ भी हो अंग्रेजी सरकार महाराजा के राज्य की पूर्वीय सीमा सतलज नदी से आगे न बढ़ने देगी और सतलज के इस पार की सिख रियासतों में महाराजा का हस्तक्षेप कभी पसंद न करेगी।

रणजीतसिंह की बुद्धिमत्ता

अंग्रेजी सरकार की यह चाल महाराजा को कदापि पसंद न थी, क्योंकि वह स्पष्ट रूप से देखता था कि इन शर्तों के स्वीकार करने से उसके जीवन का उद्देश्य ही असफल हो जायगा और वह खालसा की संयुक्त शक्ति न स्थापित कर सकेगा। पाँच वर्ष पहले जब जसवन्त राव होलकर महाराजा के पास अंग्रेज़ों के विरुद्ध सहायता लेने आया था तो उस समय भी रणजीतसिंह के सम्मुख यही प्रश्न था कि वह मरहट्टों को सहायता दे कर अंग्रेजों से लड़ाई मोल ले या न ले। चुनांचे जिन कारणों को दृष्टि में रखते हुए उसने अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध नहीं तोड़ा था, उन्हीं को दृष्टि में रखते हुये उसने इस निर्णय को भी स्वीकार कर लिया।

यद्यपि कुछ सरदारों ने इस सम्मति का विरोध भी किया परन्तु रणजीतसिंह ने अंग्रेजों के साथ संधि कर लेने में ही नीति समझी। इस बात महाराजा और मेटकाफ के मसविदों से काट-छाँट कर के तैयार किया हुआ नया मसविदा कलकत्ते से आया और दोनों शक्तियों की सम्मिलित राय से स्वीकृत हो गया। यह संधि-पत्र २५ अप्रैल सन् १८०९ ई० को लिखा गया और इतिहास में मेटकाफ़ के समझौता के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

संधिपत्र

यह समझौता इस बात की चर्चा करता है कि अंग्रेजी सरकार और लाहौर-नरेश महाराजा रणजीतसिंह के बीच में जो विरोध उत्पन्न हो गया था अब वह दोनों की स्वीकृति और खुशी से दूर हो गया है। दोनों पक्षों की यह इच्छा है कि उनके आपस के मैत्री-संबंध बने रहें। इस लिए यह संधिपत्र लिखा जाता है, जिस का पालन दोनों राज्यों के उत्तराधिकारियों के लिए आवश्यक होगा। यह संधिपत्र महाराजा रणजीतसिंह (पक्ष १) तथा अंग्रेजी सरकार (पक्ष २) के एजेंट मिस्टर सी० टी० मेटकाफ की उपस्थिति में लिखा गया।

शर्तें

(१) अंग्रेजी सरकार और लाहौर रियासत में सदा के लिए मैत्री रहेगी। दूसरा पक्ष (अर्थात् अंग्रेजी सरकार) पहले पक्ष (अर्थात् लाहौर दरबार) को बहुत प्रतिष्ठित शक्तियों में गिनेगा और ब्रिटिश सरकार को राजा रणजीतसिंह के इलाके और प्रजा के साथ जो सतलज नदी के उत्तर की ओर स्थिति है कोई सरोकार न होगा।

(२) राजा अपने अधिकार में आए इलाक़े[1] या उस के निकट के इलाक़ों में जो सतलज नदी के बाएँ तरफ हैं, उस से अधिक सेना न रक्खेगा जो आंतरिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है, और न पड़ोस के रईसों और उनके इलाक़ों से कोई सरोकार रक्खेगा।

(३) उपरोक्त शर्तों में से किसी एक को तोड़ने या आपस के मैत्री-भाव के पूरा न उतरने की दशा में यह संधिपत्र रद्द समझा जायगा।

---

[1] इस इलाके से तात्पर्य उन क़स्बों और क़िलों से है जो अंग्रेज़ी दूतों के लाहौर पहुँचने से पूर्व सितम्बर सन् १८०८ ई० में महाराजा ने अपने अधिकार में कर लिए थे। और जो स्थल अंग्रेजी दूत के पहुँचने के बाद विजय हुए थे वह सब असल मालिकों को वापस कर दिए गए थे।

मेटकाफ ने इस संधिपत्र पर हस्ताक्षर अंकित कर के इस की नक़ल अंग्रेज़ी और फारसी में रणजीतसिंह को दे दी, और दूसरी नक़ल पर महाराजा ने अपनी सही और मुहर लगा कर मेटकाफ़ को दे दी। मेटकाफ ने स्वीकार किया कि वह दो मास के भीतर गवर्नर-जनरल से उस की मंजूरी मँगवा देगा और तब यह संधिपत्र पक्का और पूर्ण समझा जायगा और दोनों पक्षों पर इस की पाबंदी आवश्यक होगी। अतएव यह संधिपत्र ३० मई सन् १८०६ ई० को गवर्नर-जनरल लार्ड मिंटो ने अपनी कौंसिल सहित स्वीकार किया और उस पर अपनी मुहर और हस्ताक्षर अंकित कर के महाराजा के पास भेज दिया।

संधिपत्र के परिणाम

इस खींचातानी के समाप्त होने पर रणजीतसिंह के जीवन का एक महत्वपूर्ण और आवश्यक प्रश्न तै हुआ। इस में सदेह नहीं कि अब महाराजा के लिए खालसा की सम्मिलित शक्ति को एकत्र करने का कोई अवसर न रहा और उसे लगभग आधे सिख प्रदेशों से अलग रहना पड़ा। क्योंकि छः मिस्लें सतलज के पार स्थित थीं, और शेष छः इस तरफ। परंतु उस के लिए अब सतलज से सिंध नदी तक बल्कि उस से आगे तक मैदान साफ हो गया और अंग्रेज़ों की बढ़ती ताक़त का खटका कुछ समय के लिए दूर हो गया। दूसरी तरफ अंग्रेजी सरकार का प्रभाव, जान व माल का बिना ज़रा भी बलिदान किए हुए लेखनी के द्वारा ही एकदम जमुना नदी से हट कर सतलज नदी के किनारे तक पहुँच गया, परंतु यह सच है कि इस संधि द्वारा दोनों पक्षों ने पूरा लाभ उठाया। क्योंकि इस के बिना जल्दी ही संभवतः दोनों राज्यों में मुठभेड़ की नौबत पहुँच जाती। यह संधिपत्र रणजीतसिंह की समझदारी और योग्यता का उच्च नमूना है।

सतलज पार के रईसों के लिए विज्ञप्ति

सतलज पार की रियासतें फ़रवरी सन् १८०६ ई० में अंग्रेजी सरकार की शरण में आ चुकी थीं। परंतु यह आवश्यक था कि उन के संबंध को पूरी तरह प्रकट कर दिया जाय। अतएव ३ मई १८०६ ई० को निम्नलिखित विज्ञप्ति प्रचारित की गई, और एक दरबार कर के यह पढ़ कर सुनाया गया :—

"यह बात प्रकाश की भाँति स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेजी सेना कुछ सरदारों की प्रबल इच्छा के अनुसार सतलज नदी की ओर भेजी थी, जिस का आशय यह था कि उन की मैत्री को ध्यान में रखते हुए उन के इलाकों पर उन को स्वतंत्रता बनाई रक्खी जाय। अतएव एक अहदनामा २५ अप्रैल सन् १८०६ ई० को अंग्रेजी सरकार और महाराजा रणजीतसिंह के बीच तै हुआ है। अतएव बड़ी प्रसन्नता से अंग्रेजी सरकार मालवा और सरहद के इलाकों के सरदारों और रईसों के आश्वासन के लिए यह लेख प्रस्तुत करती है जिस की शर्तें निम्नलिखित हैं—

१—मालवा और सरहद पर स्थित इलाकों के सरदार अंग्रेजी सरकार की रक्षा में आ चुके हैं। अतएव आगे के लिए महाराजा रणजीतसिंह से उन की रक्षा की जायगी।

२ उन रईसों से जो कि अंग्रेजी सरकार की रक्षा में आ चुके हैं कोई कर नकद या अन्य रूप में न लिया जायगा।

३—उन सरदारों के जो अधिकार और हक सरकार अंग्रेजी की रक्षा में आने से पहले थे वही बने रहेंगे।

४—यदि कभी शांति बनाये रखने के उद्देश्य से अंग्रेज़ी सेना को इन रईसों के इलाकों से हो कर जाना पड़े तो प्रत्येक रईस के लिए यह आवश्यक होगा कि जब उस के इलाके से

फौज जाय तब वह सेना की प्रत्येक उचित प्रकार से सहायता करे-- अर्थात् अन्न, रहने का स्थान तथा अन्य आवश्यकताओं को पूरा करे।

५--जब कोई शत्रु इस देश पर आक्रमण करे तो मैत्री के उद्देश्य के अनुसार प्रत्येक सरदार के लिए यह आवश्यक होगा कि वह अपनी-अपनी सेना सहित अंग्रेजी सेना से आ मिले और अपने पूरे प्रयत्न के साथ बैरी को परास्त करने में सहायता दे। ऐसे अवसरों पर इन रईसों की फौज अंग्रेजी कवायद सीखी फौज के अधीन रह कर काम करेंगी।

६--किसी विलायती सामान पर जो यूरोप देश से अंग्रेजी फौजों के व्यवहार के लिए इन के इलाकों से हो कर आवे उस पर कोई कर न लिया जाय।

७--चाहे जितने घोड़े अंग्रेजी सेना के रिसाले के लिए इस इलाके से खरीदे जावें या किसी और देश से खरीदे हुए यहाँ से गुजरें, उन पर कोई महसूल इत्यादि न लिया जायगा। घोड़े लाने या खरीदने वालों के पास दिल्ली के रेजिडेंट या सरहद के अफसर के दस्तखती परवाने होंगे।

विज्ञप्ति का परिणाम

इस विज्ञप्ति का परिणाम यह हुआ कि सतलज पर के इलाके के रईसों का सदा के लिए महाराजा रणजीतसिंह से संबंध टूट गया। लुधियाना में अंग्रेजी छावनी स्थापित हो गई। सर डेविड अक्तरलोनी जो उन दिनों बड़ा योग्य सिविल तथा फौजी अफसर माना जाता था ब्रिटिश सेना का कमांडर नियुक्त हुआ और लुधियाना में रहने लगा। उस के साथ रहने के लिए बख्शी नंद सिंह भंडारी महाराजा रणजीतसिंह का दूत नियुक्त हुआ और अंग्रेजी सरकार की तरफ से खुशबख्त राय लाहौर दरबार में अखबार-नवीस नियुक्त हुआ।

मेटकाफ के शिया सिपाहियों और अकालियों में झगड़ा

अभी संधिपत्र पर महाराजा और अंग्रेजों के हस्ताक्षर नहीं हुए थे कि संयोग से मुहर्रम और होली के त्योहार इकट्ठे आ गए। मिस्टर मेटकाफ के साथ कुछ शिया सिपाही भी आए थे। उन्होंने अपने रिवाज के अनुसार ताजिया निकाला और जिस समय मुहर्रम का जलूस ताजिया समेत दरबार साहब अमृतसर के पास से निकला उस समय मुसलमानों और अकालियों में झगड़ा हो गया। प्रसिद्ध अकाली नेता बाबा फूला सिंह ने बड़े जोश से आक्रमण किया। दोनों पक्ष के कुछ आदमी काम आए परंतु मेटकाफ के कवायद सीखे सिपाहियों ने फौरन अंग्रेजी ढंग पर पंक्ति बाँध ली जिस कारण अकालियों का आक्रमण सफल न हुआ। इसी बीच में महाराजा को भी समाचार पहुँच गया। वह गोविंदगढ़ किले से तुरंत पहुँच गया और झगड़ा दूर कराने में सफल हुआ। अंग्रेजी सेना के छोटे से दल की कवायद की श्रेष्ठता उस के दिल में घर कर गई और इसके प्रभाव ने महाराजा को अंग्रेजी सरकार से संधि करने पर बाधित किया। हम यह नहीं कह सकते कि इस घटना ने कहाँ तक महाराजा को संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने पर विवश किया परंतु इस का इतना असर अवश्य हुआ कि महाराजा पश्चिमी ढंग की सैनिक शिक्षा अर्थात् कवायद पर विश्वास लाने लगा, जिसे उसने अपनी सेना में भी पूरे प्रयत्न से बाद में प्रचलित किया।

नवाँ अध्याय

विजयों की भरमार : सन् १८०९–११ ई०

काँगड़ा क़िले की विजय अगस्त सन् १८०९ ई०

इस से पूर्व यह कहा जा चुका है कि सन् १८०९ ई० में महाराजा ने दीवान मुहकम चंद के नाम यह आवश्यकीय आज्ञा भेजी थी कि काँगड़े के युद्ध का विचार छोड़ कर फिलौर पहुँच जाओ। अंग्रेजी सरकार के साथ सन्धि हो जाने के बाद महाराजा ने फिर अपना ध्यान काँगड़ा की ओर फेरा। गोरखा जनरल अमर सिंह थापा कुछ समय से लड़ाकू फ़ौज[1] के साथ काँगड़ा की घाटी में राजा संसार चंद के साथ युद्ध में संलग्न था और काँगड़ा क़िले का घेरा डाले पड़ा था। संसार चंद को तो जान के लाले पड़े हुए थे। उसने अपने भाई फतेहसिंह को महाराजा के पास सहायता के लिए भेजा। महाराजा ने बदले में काँगड़े का किला माँगा, जिसे संसार चंद ने स्वीकार कर लिया। महाराजा ने पूरी तैयारी के साथ कूच किया और मई मास के अंत में काँगड़ा पहुँचा। महाराजा के साथ इस समय भारी सेना थी। सभी जागीरदार सरदार अपनी-अपनी सेना समेत लाहौर में ही उपस्थित थे। मुनशी सोहन लाल के अनुमान के अनुसार लगभग एक लाख सवार व पैदल फौज महाराजा के साथ थी। पहाड़ी राजों के नाम जो इस देश के रास्तों से समुचित रूप से परिचित थे आज्ञा निकली कि गोरखा सेना के रसद प्राप्त करने की राह रोक दो।

यह प्रबन्ध करने के अनंतर महाराजा ने संसार चंद को क़िला ख़ाली करने और उस पर ख़ालसा फ़ौज का अधिकार प्राप्त करने को कहा। परन्तु उसने टाल-मटोल किया और कहा कि इतनी जल्दी क्या पड़ी है? जब गोरखा फ़ौज काँगड़ा से चली जायगी वह तुरंत क़िला महाराजा को सौंप देगा। परंतु रणजीतसिंह इस चाल में कब आनेवाला था? अतएव संसार चंद के बेटे अनरोद्ध चंद को, जो महाराजा की पेशी में था, नज़रबंद कर लिया गया। अब संसार चंद किला ख़ाली करने पर विवश हो गया और २४ अगस्त १८०९ ई० को महाराजा ने काँगड़ा क़िले पर अधिकार किया।

गोरखा फ़ौज से युद्ध

गोरखा फ़ौज के रसद के सामान के रास्ते कुछ समय से बंद हो चुके थे। अब महाराजा ने अवसर पाकर उन पर धावा बोल दिया और उन के सामने के मोर्चों पर जो किले से मील भर की दूरी पर थे अधिकार कर लिया। घमासान युद्ध आरंभ हो गया। गोरखों ने जान तोड़ कर सामना किया। खालसा सेना के चार-पाँच अफ़सर और कुछ सिपाही काम आए परंतु गोरखों को पीछे हटना पड़ा। फिर उन्होंने गनेश घाटी के निकट जम कर युद्ध करना आरंभ किया।[2] महाराजा ने ताज़ादम फ़ौज वहाँ भेजी। बाद में चुने हुए सवारों के दस्ते को साथ लेकर तीस वर्ष का युवक महाराजा नङ्गी तलवार लिए स्वयं भी युद्ध में भाग लेने लगा।[3] इन गोरखों ने भी पहली हार के धब्बों को मिटाने और जातीय आन को बनाये रखने के उद्देश्य से उत्साह-पूर्वक तैयारियाँ कर रखी थीं। बड़ा भयानक युद्ध हुआ। गोलियों के बाद तलवार की नौबत आई, दोनों

---

[1] दीवान अमर नाथ गोरखा फौज की संख्या पचास हजार के लगभग लिखते हैं। जफरनामा पृ० ५२। [2] पृष्ठ ५१ "शीरो शकर"। [3] सोहनलाल पृष्ठ ५५।

पक्ष वाले अपनी बहादुरी में आगे बढ़ते जाते थे, परंतु गोरखा सिपाही लंबे कद के सिखों की लंबी तलवारों के रक्तपात के सामने ठहर न सके। उन की खुखड़ियाँ ख़ालसों की चमकीली तलवारों के सामने रात के अँधेरे की तरह मंद पड़ गईं। गोरखे यकायक पीछे हटे और निकल भागे। मैदान सिखों के हाथ रहा। 'खालसा नामा' का कर्त्ता रायज़ादा रत्नचंद लिखता है कि इस अवसर पर सरदार हुकुम सिंह अटारीवाले और अत्तर सिंह धारी ने वीरता का प्रदर्शन किया जिस की प्रशंसा महाराजा ने भी की और उन्हें विशेष रूप से सम्मानित किया।

युद्ध का अंत

यद्यपि इस युद्ध में सिखों की भयानक हानि हुई लेकिन समस्त पहाड़ी प्रदेश महाराजा के अधीन हो गया।[१] २४ सितंबर सन् १८०९ ई० को महाराजा काँगड़ा के क़िले में प्रविष्ट हुआ, और उसने एक विशाल दरबार किया, जिस में काँगड़ा, चंबा, नूरपुर, कोटला, शाहपुर, जसरोटा, बसोहली, मानकोट, जसवाँ, गोलेर, मंडी, सुकेत, कुलू और दातारपुर इत्यादि के राजे सम्मिलित थे। समस्त पहाड़ी राजों ने महाराजा को भेंट प्रस्तुत की और महाराजा की ओर से सब को मूल्यवान् ख़िलअतें मिलीं। काँगड़े का क़िलेदारी और समस्त पहाड़ी रियासतों के प्रबंध के लिए महाराजा ने सरदार देसा सिंह मजीठिया को नियुक्त किया और उसके मातहत पहाड़ सिंह नायब नाज़िम नियुक्त हुआ। आवश्यकतानुसार कुछ सेना काँगड़ा में रक्खी गई।

दीवान मुहकमचंद को आज्ञा हुई कि सतलज के किनारे फिलौर किले को सुदृढ़ करे और कुछ काल तक वहीं रहे। यह प्रबंध करके महाराजा वापस आया। काँगड़ा-विजय की प्रसन्नता में लाहौर और अमृतसर में दीपावली की गई। ग़रीबों और दुखियों को दान दिया गया। रात्रि के समय महाराजा स्वयं हाथी पर सवार होकर बाज़ार की रौनक़ देखने गया।

हरियाना और गुजरात पर अधिकार

सितंबर मास के अंत में महाराजा काँगड़ा से लौटा। उन्हीं दिनों सरदार बघैल सिंह अहलूवालिया, हरियाना-नरेश मर चुका था। अतएव महाराजा ने उसके इलाके पर अधिकार कर लिया, और उसकी विधवा के लिए उचित जागीर का प्रबंध कर दिया।

काँगड़ा विजय के बाद रणजीतसिंह ने पञ्जाब के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अपना संपूर्ण अधिकार जमाने की ओर ध्यान दिया। सब से पहले गुजरात की बारी आई। गुजरात का हाकिम सरदार साहब सिंह भङ्गी यद्यपि महाराजा की अधीनता स्वीकार कर चुका था, परंतु अभी तक अपने इलाके में पूरा अधिकार रखता था। उसका देश विस्तृत था, जिस में जलालपूर, मुनावर और इस्लामगढ़ इत्यादि बहुत से सुदृढ़ किले थे। इसके अतिरिक्त उसके पास युद्ध का सामान भी पर्याप्त मात्रा में उपस्थित था और रुपये की भी कमी न थी। भाग्यवश उन्हीं दिनों साहब सिंह और उसके बेटे गुलाब सिंह में अनबन हो गई और बेटा बाप की इच्छा के बिना जलालपूर इत्यादि एक-दो किलों पर अधिकार कर बैठा। रणजीतसिंह ने इस घटना से पूरा लाभ उठाया और दो-तीन मास के समय में ही गुजरात के समस्त इलाके पर अधिकार जमा लिया। साहब सिंह देवा बटाला के पहाड़ी इलाके की तरफ भाग गया।[२] फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन का भाई फ़क़ीर नूरुद्दीन इस ज़िले का पहला नाज़िम हुआ।

---

[१] गोरखा सेना यद्यपि परास्त हो चुकी थी परंतु अभी तक काँगड़ा की घाटी में उपस्थित थी। महाराजा भी युद्ध का अंत होना ही उचित समझता था अतएव पत्र-व्यवहार के अनंतर महाराजा और अमर सिंह में यह निश्चय हुआ कि यदि महाराजा उसे बोझ लाद कर के ले जाने का सामान इकट्ठा करने में सहायता दे तो वह घाटी से चुपचाप चला जायगा। [२] एक वर्ष के बाद रणजीतसिंह ने साहब सिंह को वापस बुला लिया और गुजारे के लिए उचित जागीर प्रदान की।

छोटे-छोटे क़िलों की अधिकता

यहाँ यह बता देना आवश्यक जान पड़ता है कि उस समय पंजाब में थोड़ी-थोड़ी दूरी पर छोटे-छोटे किले बने हुए थे। और बड़े-बड़े नगरों की रक्षा के लिए फ़सीलें बनी हुई थीं। अठारहवीं सदी के आरंभ में मुग़ल शासन कमज़ोर पड़ चुका था, और नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आए दिन के आक्रमणों से देश में अव्यवस्था फैली हुई थी। अतएव लोगों ने अपनी जान व माल बचाने के लिए यह सब प्रबन्ध कर रक्खा था। कुछ मनचले लोग अवसर पाते ही एकाध किला बना लेते और आस-पास के इलाके में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे। परंतु ऐसी दशा में देश में शांति बनाए रखना कठिन था। अतएव ऐसी छोटी-छोटी शक्तियों को दूर कर देने में ही महाराजा ने देश का लाभ समझा। गुजरात के बाद उसने वर्तमान ज़िला शाहपुर का दौरा किया और मियानी और भेरा कस्बों में ठहरने के अनंतर वह ख़ुशाब गया।

ख़ुशाब, साहीवाल आदि की विजय—फ़रवरी १८१० ई०

ख़ुशाब और साहीवाल के इलाके में योद्धा बलूच क़बीले आबाद थे और उन्होंने कई जगह सुदृढ़ किले बना रक्खे थे। जब महाराजा की सेना ख़ुशाब के निकट पहुँची तब वहाँ का हाकिम ज़ाफ़र ख़ाँ बलूच सामने का सामर्थ्य न रख कर शहर छोड़ कर भाग गया और अपने सुदृढ़ दुर्ग कच्छ में जाकर रक्षा प्राप्त की। महाराजा ने ख़ुशाब पर अधिकार करके वहाँ अपना थाना स्थापित कर लिया, फिर किले का घेरा आरंभ किया। सिख सिपाही बड़े उत्साह से आगे बढ़ते परंतु थोड़ी सी देर में पस्त हो जाते। इस प्रकार सैकड़ों सिक्ख सैनिक काम आए।

अंत में महाराजा ने जाफ़र ख़ां को संदेश भेजा कि वह क़िला ख़ाली कर दे, तो उसे उचित जागीर प्रदान की जायगी। परंतु बहादुर बलूच सरदार ने उत्तर में कहला भेजा कि यदि आप ख़ुशाब हमें वापस कर दें तो अच्छा है, नहीं तो हम अपने माल और देश के लिए जान देने के लिए तैयार हैं। अतएव रणजीतसिंह ने अपना घेरा जारी रक्खा, और दो-तीन तरफ़ क़िले के नीचे सुरंग खुदवा कर उसे बारूद से भरवाया जिस से क़िला उड़ा दिया जाय। परंतु महाराजा व्यर्थ के रक्तपात का इच्छुक न था, और जहाँ तक उस का वश चलता था दोनों पक्षों के जान व माल की हानि के बिना ही अपना उद्देश्य सफल करने का प्रयत्न करता। चुनांचे एक बार फिर जाफ़र ख़ां को संदेश भेजा कि "क़िला ख़ाली कर दो। तुम्हें मूल्यवान् जागीर दी जायगी, नहीं तो कुछ ही मिनटों में क़िला ज़मीन में मिलने वाला है। विश्वास न हो तो विश्वस्त आदमी भेज कर सुरंगें दिखवा लो।"

अब जाफ़र ख़ाँ भी विवश हो चुका था, उस के लिए रसद का सामान एकत्र करना असंभव हो रहा था। अतएव क़िला ख़ाली ही करना उस ने उचित समझा। महाराजा उस के साथ बड़ी इज़्ज़त से मिला। उसे बाल-बच्चों सहित ख़ुशाब में रहने की आज्ञा दे दी और गुज़ारे के लिए समुचित जागीर प्रदान की।

फ़तेह ख़ाँ की हार

इस के बाद महाराजा ने साहीवाल की ओर ध्यान दिया। यहाँ का हाकिम फ़तेह ख़ाँ बड़ा अमीर था। उस के इलाक़े में लगभग २५० गाँव आबाद थे और दस बारह क़िले थे। उस के मुख्य स्थान साहीवाल का क़िला बहुत सुदृढ़ था, जिसकी दीवारों पर तोपें और रहकले स्थापित थे। यद्यपि एक भयानक युद्ध के बाद १० फ़रवरी सन् १८१० ई० को महाराजा ने क़िले पर विजय प्राप्त कर ली, परंतु फ़तेह ख़ां ने नगर में प्रवेश कर के कुछ देर तक फिर सामना किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि नगर को भारी हानि हुई। कई मकान तोपों की गोलाबारी से ज़मीन

में मिल गए। अंत में फ़तेह ख़ाँ और उस का बेटा मुक़ाबला करते हुए पकड़ लिए गए। उन्हें काँगड़ा के किले में बंदी कर दिया गया और साहीवाल का सारा इलाक़ा महाराजा के अधिकार में आ गया। एक वर्ष के पीछे फतेह खाँ को भी उचित जागीर दे कर मुक्त कर दिया गया।

जम्मू और वज़ीराबाद का दमन - सन् १८१० ई०

ख़ुशाब के लिए प्रस्थान करने से पूर्व महाराजा ने फ़ौज का एक दल सरदार हुकमा सिंह चिमनी के नेतृत्व में जम्मू की तरफ़ भेजा था। जम्मू के शासन की व्यवस्था इस समय बिगड़ रही थी। राजा और रानी में अनबन थी। रियासत का प्रधान सचिव मियाँ मोटा बहुत बल पकड़ चुका था। महाराजा की सेना के आक्रमण करते ही थोड़े से युद्ध के अनंतर मियाँ मोटा ने रियासत महाराजा के सुपुर्द कर दी।

सरदार जोध सिंह वज़ीराबादिया नवंबर सन् १८०९ ई० में मर गया था। महाराजा ने उसके बेटे गंडा सिंह को इलाक़े की सरदारी पर नियुक्त कर दिया और मृत्यु के तेरह दिन के बाद क्रिया के दिन अपने हाथ से सरदारी की पगड़ी और दोशाला गंडा सिंह को प्रदान किया और उस से विरासत के हक़ में उचित धन माँगा।[१] जून सन् १८१० ई० में गंडा सिंह और उस के संबंधियों में आपस में झगड़ा आरंभ हुआ। महाराजा ने ख़लीफ़ा नूरुद्दीन हाकिम गुजरात को आज्ञा भेजा कि जाकर वज़ीराबाद पर अधिकार कर लो। अतएव साधारण विरोध के अनंतर वज़ीराबाद महाराजा के अधिकार में आ गया और गंडा सिंह को गुज़ारे के लिए जागीर दी गई।

काबुल के राज्य की दशा

सन् १७९८ ई० में काबुल राज्य की दशा खराब होनी आरंभ हो गई। पंजाब प्रांत पहले ही अलग हो चुका था अब काबुल के तख़्त के लिये भी झगड़े होने लगे। शाह जमान को उस के भाई शाह महमूद ने कैद कर लिया और उस की आँखें निकलवा दीं। परंतु अधिक काल के लिए तख़्त पर बैठना शाह महमूद के भी भाग्य में न था। उस के दूसरे भाई शाह शुजाउलमुल्क ने सेना जमा कर के शाह महमूद को तख़्त पर से उतार दिया और स्वयं बादशाह बन बैठा। सितंबर सन् १८०८ ई० में लार्ड मिंटों ने मिस्टर एलफिन्स्टन के नेतृत्व में अंग्रेजी दूत को काबुल भेजा, जिस ने शाह शुजाउलमुल्क के साथ मैत्री का अहदनामा किया परन्तु अभी यह दूत कलकत्ता वापस नहीं पहुँचा था कि उसे समाचार मिला, कि शाह शुजा को तख़्त से उतार दिया गया है। उस क्रांति के युग में फतेह खां बारकज़ई काबुल का वज़ीर था। बारकज़ई कबीला बड़ा प्रभावशाली था, जिस के बहुत से व्यक्ति अफ़गानिस्तान के राज्य के प्रतिष्ठित पदों पर थे। उन में बड़ा मेल और संगठन था। अतएव वज़ीर फतेह खाँ ने शाह महमूद को कैदख़ाने से निकलवाया और शाह शुजा को तख्त से उतार कर शाह महमूद को काबुल का दोबारा बादशाह बनाया।

शाहशुजा की महाराजा से भेंट

शाह शुजाउलमुल्क इस हालत में अपने प्राणों की रक्षा के लिए पंजाब की तरफ भागा। फरवरी सन् १८१० ई० के आरंभ में महाराजा ख़ुशाब में ठहरा हुआ था। उसे समाचार मिला कि शाह शुजा अटक नदी पार कर चुका है और महाराजा से मिलने का इच्छुक है। महाराजा उस के साथ बड़ी प्रतिष्ठा से मिला। उस की बड़ी आवभगत की। वार्तालाप में महाराजा ने मुल्तान और कश्मीर पर विजय प्राप्त करने के विचार की ओर संकेत किया। यह बात याद रखने योग्य है, कि यह दोनों सूबे अभी तक काबुल के अधीन समझे जाते थे, यद्यपि यह संबंध इस

---

[१] मुनशी सोहन लाल के लेख से मालूम होता है कि गंडा सिंह से दो लाख रुपए माँगे गए। अंत में चालीस हजार पर निर्णय हुआ। दीवान अमर नाथ एक लाख लिखते हैं।

समय नाम-मात्र का था, क्योंकि दोनो प्रान्तों के गवर्नर काबुल की कमजोरियों से लाभ उठा कर अपने आप को स्वतंत्र ख़्याल करते थे। शाह शुजा महाराजा के पास अधिक ठहर न सका। तुरंत ख़ुशाब से प्रस्थान कर के रावलपिंडी चला गया और वहां से पेशावर पहुँचा।

मुलतान पर आक्रमण—फ़रवरी सन् १८१० ई०

काबुल राज्य की इस अवस्था से लाभ उठा कर रणजीत सिंह ने ख़ुशाब और साहीवाल की रियासतों पर अपना अधिकार जमा लिया था अब उस ने मुलतान प्रान्त की ओर ध्यान दिया। चुनांचे ख़ुशाब से ही सरदार फतेह सिंह अहलूवालिया और अन्य सरदारों के नाम आज्ञाएँ भेज दीं कि वह अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर महाराजा से आ मिलें। उन के पहुँचने पर २० फरवरी सन् १८१० ई० को महाराजा ने मुलतान की ओर कूच किया और चार ही दिन में लंबी यात्रा करके निर्दिष्ट स्थान पर जा पहुँचा। इस बार नवाब भी युद्ध के लिए पूर्ण रीति से तैयार था। सरदार निहाल सिंह अटारीवाले और अतर सिंह धारी के नेतृत्व में एक बहादुर दल ने नगर पर आक्रमण किया। युद्ध का बाजार गर्म हुआ। दोपहर के बाद तलवारों के दाँव चलने लगे। ऐसा घमासान युद्ध सिख नौजवानों को बहुत समय बाद नसीब हुआ। महाराजा घोड़े पर सवार युद्ध-क्षेत्र में एक जगह से दूसरी जगह उड़ता हुआ अपने बहादुरों का दिल बढ़ाता फिरता था। संध्या तक रक्तपात जारी रहा। ख़ून की नदियाँ वह निकलीं। मरे हुए लोगों के ढेर लग गए। नवाब की सेना ने पहले की अपेक्षा कई गुना जोश और पराक्रम दिखाया, परंतु अंत में उन के पैर उखड़ गए और रात की अँधेरी में पठान मैदान ख़ाली करके क़िले में जा घुसे। अतएव २५ फ़रवरी को सिखों ने नगर पर अधिकार कर लिया।

अब क़िले का घेरा डाल दिया गया। दोनों पक्षों की ओर से गोलाबारी आरंभ हुई। यद्यपि क़िले में ताज़ादम सेना बड़े उत्साह के साथ रक्षाकार्य में सन्नद्ध थी, परंतु महाराजा भी इस बार मुल्तान पर अधिकार करने पर तुला हुआ था। अतएव उस ने अपनी रसद के प्रबंध को और भी पक्का किया। कुछ दिनों के बाद ही सरदार निहाल सिंह ने क़िले के पश्चिम ओर सुरंगें खुदवानी आरंभ कीं। उन में बारूद भर कर आग लगा दी गई। संयोगवश निहाल सिंह उस समय सुरंगों से बहुत दूरी पर नहीं था। जब दीवार का एक हिस्सा बारूद के धमाके से ज़मीन पर जा पड़ा तो कुछ पत्थर सरदार के आ लगे जिस से यह बुरी तरह घायल हो गया। महाराजा का प्रिय अफ़सर सरदार अतर सिंह धारी भी उस के निकट ही खड़ा था। उसे ऐसी गहरी चोट आई कि वह वहीं मर गया। यह देख कर ख़ालसा वीरों को बहुत जोश आया। उन्हों ने गिरी हुई दीवार से आक्रमण किया और आन की आन में क़िले के भीतर आ घुसे और हाथों-हाथ तलवार चलानी आरंभ की। अब तो नवाब हतोत्साह हो गया। संधि का सफ़ेद झंडा ऊँचा किया, और भारी रक़म युद्ध के ख़र्चे के लिए भेंट-स्वरूप देने को तैयार हुआ[1]। महाराजा ने अपने सचिवों से सलाह की और इस पर राज़ी हुआ कि मुलतान का नवाब आगे के लिए अपने को काबुल का सूबेदार न कहे, और जरूरत पड़ने पर सिख शासन की सहायता करे। अतएव भेंट ले कर महाराजा लाहौर वापस आया।

अभी तक शुजाउलमुल्क हिंदुस्तान ही में था और पेशावर के संपूर्ण इलाक़े पर अधिकार कर चुका था। संभवतः इसी कारण रणजीतसिंह ने मुज़फ़्फ़र ख़ां से यह शर्त तै कराई थी कि वह आगे के लिए काबुल सरकार से कोई संबंध न रक्खे। तत्क्षण मुलतान पर अधिकार करने का निश्चय

---

[1] दीवान अमर नाथ यह रक़म एक लाख अस्सी हज़ार बताते हैं। जफ़रनामा पृ० ५५।

छोड़ देने का दूसरा कारण यह भी था कि मुज़फ़्फ़र खाँ ने इस आक्रमण के बीच गवर्नर-जनरल से भी पत्र-व्यवहार आरंभ किया था।

डस्का के इलाक़े पर विजय

मुल्तान से वापस आते समय सरदार निधान सिंह हट्टू जो डस्का के इलाक़े का स्वामी था बिना महाराजा की आज्ञा प्राप्त किए हुए अपने इलाक़े में चला गया। निधान सिंह अनुभवी और वीर सैनिक था और गर्व भी उस में था। उस का क़िला बहुत मज़बूत था। महाराजा ने फ़ौज का एक भाग भेज कर डस्का के क़िले का घेरा कर लिया। सरदार निधान सिंह ने एक मास तक बड़ी बहादुरी से सामना किया। अंत में महाराजा की अधीनता स्वीकार कर ली, और अपनी भूल का प्रतीकार किया। महाराजा ने उसे कुछ देर तक नज़रबंद रख कर मुक्त कर दिया और अपनी घोड़-चढ़ा फ़ौज में एक उच्च पद पर नियुक्त किया और अच्छी जागीर भी प्रदान की। महाराजा में यह ख़ास बात थी कि जहाँ तक संभव होता वह विजित वीर सरदारों को उच्च पद पर नियुक्त कर के उन का पद बनाए रखता था, जिस कारण वह महाराजा के प्रति पूर्ण वफ़ादार बने रहते थे और महाराजा भी उन की वीरता से लाभ उठाता था। अतएव सरदार निधान सिंह ने इस के अनंतर कई अवसरों पर अपनी वीरता दिखाई।

मंडी, सुकेत और हलोवाल

इसी वर्ष सेना का एक भाग कांगड़ा पहाड़ी के नाज़िम सरदार देसा सिंह मजीठिया के नेतृत्व में मंडी और सुकेत के प्रति भेजा गया, जिस ने वहाँ के राजों से भेंटें वसूल कीं। महाराजा ने सरदार देसा सिंह को उस की विजयों पर बहुत पुरस्कारादि दिए।

जैसा कि उपरोक्त घटनाओं के अध्ययन से प्रकट हो चुका होगा महाराजा ने उस समय छोटे-छोटे क़िलों का दमन करने की नियमित नीति बना ली थी। अतएव रावी और चिनाब के बीच का इलाक़ा हलोवाल जो सरदार बाघ सिंह के पास था घेरा गया। बाघ सिंह को गुज़ारे के लिए अच्छी जागीर दे कर उस का इलाक़ा लाहौर राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

कुसक क़िले का दमन

कुसक का दुर्ग नमकसार खेवड़ा के निकट पहाड़ी की चोटी पर स्थित है। उस समय यह क़िला चोहा सैदन शाह, कटास और नमकसार खेवड़ा की नाक ख़याल किया जाता था। महाराजा ने यहाँ अपना थाना स्थापित करना आवश्यक ख़याल कर के क़िलेदार को उसे ख़ाली करने के लिए कहला भेजा। साथ ही यह भी लालच दी कि दो आने फ़ी रुपया, पुराने तरीके के अनुसार जो तुम्हें नमक की आमदनी से मिलता है, बराबर मिलता रहेगा। परंतु युद्धप्रिय कबीले के सिपाही दुर्ग ख़ाली करने पर तैयार न हुए। अतएव क़िले का घेरा आरंभ किया गया। परंतु ख़ालसा सेना के सब साहसपूर्ण आक्रमण असफल रहे। अंत में महाराजा ने चोहा सैदन शाह जो कि क़िले की सीमा से लगभग एक मील की दूरी पर स्थित था और जहाँ से क़िले में पीने का पानी जाया करता था, अपने अधिकार में कर लिया। अतएव कुछ समय के बाद पानी की कमी के कारण क़िला ख़ाली कर दिया गया। क़िले वालों को वादे के अनुसार जागीरें प्रदान की गईं। महाराजा ने वहाँ अपना थाना क़ायम कर लिया और सरदार हुकमा सिंह चिमनी को, जो इस सेना का नायक था, प्रतिष्ठा के लिए ख़िलअत प्रदान की।

क़िला कुसक महाराजा के वश में आ जाने के कारण कटास राज का रास्ता भी खुल गया। कटास राज एक पवित्र हिन्दू तीर्थ है। इस के सरोवर का जल धरती में से अपने आप निकलता रहता है।

क़िला मंगलां की विजय

पूर्व इस बात का वर्णन हो चुका है कि सरदार साहब सिंह गुजरात से भाग कर पहाड़ी इलाक़ा देवावटाला में शरणागत हुआ था। अतएव महाराजा ने तुरंत उस के क़िलेदारों के नाम आज्ञाएँ जारी कर दीं कि वह उस की सहायता न करें। महाराजा को उस समय और युद्ध करने थे, इस लिए तत्काल उस इलाके पर विजय करने का प्रयास स्थगित रक्खा। अब कुछ अवकाश मिलने पर इस ओर अपना ध्यान दिया। क़िला मंगलां पहाड़ी क़िलों में सब से अधिक दृढ़ था जो जेहलम नदी के किनारे ऊँची पहाड़ी पर स्थित था।[1] खालसा सेना ने भी सर तोड़ कोशिश के बाद क़िले पर विजय प्राप्त की। इस के बाद ४० अन्य क़िलेदारों ने भी बिना सामना किए महाराजा की अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार जेहलम पार के पहाड़ी देश पर महाराजा का पूरा अधिकार क़ायम हो गया।[2]

फ़ैज़लपुरिया मिस्ल के प्रदेशों पर अधिकार

फ़ैज़लपुरिया मिस्ल के अधिकार के देश सतलज नदी के दोनों पार स्थित थे। इस मिस्ल का सरदार बुध सिंह बड़ा बहादुर और प्रतिष्ठित पुरुष था और अन्य सरदारों की तरह महाराजा की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार न था। अतएव महाराजा ने दीवान मुहकम चंद को बुध सिंह के अधिकार के प्रदेशों को विजय करने की आज्ञा दीं। जनरल मुहकम चंद ने तुरंत फिल्लौर से कूच किया। रामगढ़िया मिस्ल के सरदार जोध सिंह को साथ लेकर पहले कसबा जालंधर का घेरा डाल दिया। सरदार बुधसिंह अवसर पाकर सतलज पार चला गया और लुधियाना में अंग्रेज़ों की शरण में जा पहुँचा। परंतु उस की राजभक्त सेना मुक़ाबले पर डटी रही और अंत में परास्त हुई। दीवान मुहकम चंद ने फ़ैज़लपुरिया मिस्ल के क़िला जालंधर और आस-पास के इलाक़े पर अधिकार कर लिया। दूसरी तरफ़ से बुध सिंह की असली जन्मभूमि क़िला पट्टी पर जो तरनतारन के क़रीब स्थित था महाराजा के तोपख़ाने के दारोगा गोसी ख़ाँ ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार यह समस्त देश जिसकी सालाना आय लगभग तीन लाख रुपये थी लाहौर राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस के अतिरिक्त बहुत-सा धन और अस्त्र जो इन किलों में मौजूद था महाराजा के हाथ आया। दीवान मुहकम चंद को मूल्यवान् और सम्मानित खिलअत, जड़ाऊ दस्तेवाली तलवार, सोने की कलगी और एक हाथी सुनहले हौदे सहित प्रदान किया।

नकई मिस्ल के प्रदेशों पर अधिकार

ख़ालसा शासन स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि अन्य मिस्लें भी विजित की जायँ। अतएव अब नकई मिस्ल की बारी आई, जिस के प्रदेश मुल्तान से लेकर क़सूर तक फैले हुए थे, और जो लगभग नौ लाख वार्षिक की मालियत थी। इस में चूनियाँ, दीपालपुर, शरक़पुर, सतघरा, कोट कमालिया और गौगीरा इत्यादि बड़े-बड़े क़स्बे थे। महाराजा का दूसरा विवाह नकई मिस्ल के सरदार ज्ञानसिंह की बहन के साथ हुआ था और कुँवर खड़क सिंह इसी रानी के पेट से था। परंतु यह संबंध नकइयों के लिए विशेष-रूप से लाभदायक न सिद्ध हुआ। महाराजा ने उनका सारा देश शाहज़ादा खड़क सिंह को जागीर में प्रदान कर दिया। दीवान मुहकम चंद को शाहज़ादा के साथ इलाक़े पर अधिकार करने के लिए भेजा। सरदार काहन सिंह नकई जो

---

[1] जेहलम नदी यहाँ से तेज़ी से मुड़ती हुई पहाड़ी प्रदेश छोड़ कर मैदानी प्रदेश में प्रवेश करती है। संभवत: इसी जगह से महान् सिकंदर ने जेहलम नदी पार कर के महाराजा पोरस पर अचानक आक्रमण किया था।

[2] ज़फ़रनामा, पृष्ठ ५५

अपने भाई ज्ञान सिंह की मृत्यु पर उस समय मिस्ल की सरदारी के पद पर आसीन था महाराजा की ओर से मुल्तान के शासन मुज़फ़्फ़र ख़ाँ से नज़राना वसूल करने गया हुआ था। ज्योंही उस के प्रबंधकर्ता दीवान हाकिम राय को इस बात की ख़बर लगी, वह चूनियाँ से भागा हुआ महाराजा के पास लाहौर आया, और प्रार्थना की कि सरदार काहन सिंह की अनुपस्थिति में ऐसा करना अनुचित है, और यह भी प्रकट किया कि अगर उस का मुल्क सरदार के पास ही रहने दिया जाय तो वह उचित धन भेंट-स्वरूप भी उपस्थित करेगा। महाराजा ने बिना आश्वासन योग्य उत्तर दिये दीवान की बात को हँसी में उड़ा दिया और कहा कि—"हमारा इस मामले से कुछ संबंध नहीं। युवराज खड़क सिंह नकइयों का निवासा है। वह जाने और उस का काम।"[1] अतएव दीवान मुहकम चंद ने जाते ही चूनियाँ, दीपालपूर, सतघरा, इत्यादि क़िलों पर अधिकार कर लिया और कुछ दिनों बाद जेठपूर और हवेलियाँ इत्यादि के सुदृढ़ क़िलों में भी महाराजा के थाने स्थापित हो गये। सरदार काहन सिंह यह समाचार सुनते ही मुल्तान से लौटा। बहुत तिलमिलाया, परंतु अपना क्रोध दबा कर चुप हो रहा। उसमें महाराजा का सामना करने की सामर्थ्य कहाँ थी? महाराजा ने बैहड़वाल में उसे बीस हज़ार की जागीर दी। इस प्रकार इस मिस्ल का भी अंत हुआ।

कन्हैया मिस्ल पर अधिकार

सरदार जय सिंह की मृत्यु के अनंतर कन्हैया मिस्ल के अधिकार के प्रदेश दो भागों में विभक्त हो चुके थे। इस मिस्ल का अधिकांश रणजीतसिंह की सास रानी सदा कौर, गुरुबख़्श सिंह की विधवा के अधिकार में था। बाक़ी थोड़ा सा इलाक़ा जो मुकेरियाँ के आस-पास पहाड़ की तलहटी में फैला हुआ था और जिस में हाजीपूर और सोहियाँ इत्यादि के दुर्ग थे सरदार जय सिंह के दूसरे दो लड़कों, भाग सिंह और निधान सिंह के हिस्से में आया था, और वहाँ वह अपनी माता सरदारनी राजकौर के साथ जीवन-निर्वाह करते थे। निधान सिंह युवावस्था में कुचाल में पड़ गया और अपनी रियासत के प्रबंध के अयोग्य सिद्ध हुआ। अतएव महाराजा ने किसी बात पर नाराज़ होकर उसे क़ैद कर लिया और दिसम्बर, सन् १८११ ई० में ब्यास नदी के पार थोड़ी-सी सेना भेज कर उस के इलाक़े पर कब्ज़ा कर लिया। बाद में उसे तथा उस की माता को जागीरें दे दी गईं।

अफ़ग़ानिस्तान का आंतरिक कलह

शाह शुजा ने महाराजा से बिदा हो कर सीधे अटक की ओर प्रस्थान किया और वहाँ के क़िलेदार जहाँदाद ख़ाँ और कश्मीर के सूबेदार अता मुहम्मद ख़ाँ से सहायता लेकर पेशावर पर अधिकारी हो गया। यहां उस ने बहुत सी सेना एकत्र कर ली और दूसरी बार काबुल पर ध्यान दिया। अपने भाई शाह महमूद को तख़्त से उतार कर आप गद्दी पर बैठ गया। शाह महमूद और उस का मंत्री फ़तेह ख़ाँ मारे-मारे फिरने लगे। परंतु अफ़ग़ानिस्तान का शासन क्रांतियों के कारण कमज़ोर हो गया था। शाह शुजा को गद्दी पर बैठे अभी चार मास भी नहीं हुए थे कि वज़ीर फ़तेह ख़ाँ के भाई मुहम्मद अजीम ख़ाँ ने दुर्रानी सेना एकत्र कर के शुजाउलमुल्क को काबुल से निकाल दिया। शाह महमूद और अपने भाई फ़तेह ख़ाँ को काबुल के शासन पर पुनः नियुक्त कर दिया। अब शाह शुजा के फिरने की बारी आई। आरंभ में अटक के शासक जहाँदाद ख़ाँ ने इस की सहायता की। बाद में उसे संदेह हो गया कि शाह शुजा छिपे रूप से वज़ीर फ़तेह ख़ाँ से साज-बाज कर रहा है, और इस लिए कि जहाँदाद ख़ाँ की वज़ीर फ़तेह ख़ाँ से व्यक्तिगत दुश्मनी थी शाह का यह ढंग उसे पसंद न आया। शाह शुजा को बंदी करके अपने भाई अता मुहम्मद ख़ाँ के पास कश्मीर भेज दिया।

---

[1] सोहन लाल दफ़्तर २ पृ० १०८

शाह शुजा की बेगमों और शाह ज़मा का लाहौर आना

शाह शुजाउल्मुल्क एक वर्ष से अधिक समय के फेर का शिकार रहा। उस की बेगमें और शहज़ादे अपने अंधे चचा शाह ज़मां के साथ रावलपिंडी में स्थिति थे। अतएव जब रणजीतसिंह कुसक की विजय से मुक्त हुआ तो उसने शाह ज़मां से भेंट करने के उद्देश्य से उधर प्रस्थान किया। शहर रावलपिंडी से दो मील की दूरी पर शाही ख़ेमें लगाए गए। शाह जमाँ महाराजा से भेंट करने के लिए आया। महाराजा की ओर से पूरे राजसी ढङ्ग से शाह का स्वागत किया गया। दीवान भवानी दास और उसका भाई दीवान देवी दास जो शाह के यहाँ दीवानी के पद पर नियुक्त रह चुके थे और काबुल दरबार के रीति-रवाजों से भली भाँति परिचित थे आतिथ्य के लिए नियुक्त किये गये। रणजीतसिंह ने शाह ज़माँ को सब प्रकार आश्वासन दिया। उसे लाहौर में आकर रहने के लिए निमंत्रित किया, और उस के गुजारे के लिए १२००) मासिक नियुक्त किया।

शाह की भेंट से छुट्टी पाकर महाराजा लाहौर लौटा।[1] शाह ज़माँ कुछ काल तक रावल-पिंडी में रह कर भेरा में रहा। फिर नवंबर सन् १८११ में लाहौर आया और रौज़ए-दाता-गञ्ज बख़्श के निकट ठहरा। महाराजा ने उसका आवभगत से स्वागत किया। दीवान भवानी दास द्वारा एक हज़ार रुपया दावत के लिए भेजा और शहर में बड़ा हवादार मकान उसके रहने के लिए दिया। बाद में शाह शुजाउल्मुल्क की बेगम और शहज़ादे भी आ गए।

---

[1] जब महाराजा लाहौर पहुँचा तो अंग्रेज़ी सरकार का वकील मुंशी एवज़ अली ख़ाँ महाराजा के दरबार में आया और गवर्नर-जनरल की ओर से अमूल्य भेंटें साथ लाया, जिन में एक सुंदर फ़िटन थी, जिस में बैठने के लिए अत्यंत अच्छे स्प्रिंगदार गद्दे लगे थे। पंजाब में इस प्रकार की गाड़ियाँ देखने में नहीं आती थीं। अतएव उसे देख कर महाराजा बहुत प्रसन्न हुआ। उस में चार घोड़े एक-दूसरे के आगे-पीछे जोते गए और महाराजा साहब उस में सवार हुए। परंतु सड़कें ऊँची-नीची होने के कारण गाड़ी बहुत देर तक व्यवहार में न लाई जा सकी। विस्तार के लिए देखिए, मुंशी सोहन लाल लिखित 'उम्दतुत्तवारीख़', पृष्ठ १०५।

दसवाँ अध्याय

कोहनूर की घटना तथा अन्य बातें (सन् १८१२–१४ ई०)

युवराज खड़क सिंह का विवाह

जनवरी सन् १८१२ ई० के आरंभ में शाहज़ादा खड़क सिंह के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। सतलज पार की रियासतों के राजे और पंजाब के समस्त सरदारों के यहाँ मिठाई बाँटी गई और बारात में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया गया। मिस्टर मेटकाफ़ और दिल्ली के रेज़िडेंट द्वारा अंग्रेज़ी सरकार के पास भी निमंत्रण गया, अतएव अक्तरलोनी को शरीक होने की आज्ञा मिली। उस के साथ जींद-नरेश राजा भाग सिंह; नाभा-नरेश राजा जसवंत सिंह और कथैल-नरेश भाई लाल सिंह भी आए और महाराजा का उत्साह बढ़ाया। बहावलपूर, मुलतान और मनकेरा के प्रतिष्ठित प्रतिनिधि और राजा संसार चंद तथा अन्य पहाड़ी राजे भी आए।

दीवान अमर नाथ और मुनशी सोहन लाल अपनी पुस्तकों में विवाह का पूरा वर्णन लिखते हैं। उन के लेखों से मालूम होता है कि इस अवसर पर महाराजा ने बड़े उत्साह के साथ ख़र्च किया। फ़ौज के तमाम सिपाहियों और अफ़सरों को पद, नई पोशाकें, क़लग़ियाँ और सोने के कंठे इत्यादि प्रदान किये गये। और वह पूरी प्रकार से लैस हो कर बारात में सम्मिलित हुए। आतिशबाज़ी के आश्चर्यजनक प्रदर्शन हुए। महाराजा को लगभग दो लाख छत्तीस हज़ार रुपये तंबूल में प्राप्त हुए।[1]

बारात लाहौर से प्रस्थान कर के अमृतसर, फिर मजीठिया ठहरी और वहाँ से बहुत धूम-धाम के साथ हाथियों के जलूस में सरदार जैमल सिंह कन्हैया के घर क़स्बा फ़तेहगढ़ ज़िला गुरदासपूर पहुँची। तमाम बाराती अच्छे-अच्छे वस्त्र पहने हुए थे। कन्हैया सरदारों ने आतिथ्य में कोई कसर उठा न रक्खी, और रुपया पानी को तरह बहाया। दीवान अमर नाथ लिखते हैं कि सरदार जयमल सिंह ने पचास हजार रुपये महाराजा को मिलने के समय भेंट किए, और १४ हज़ार रुपया नित्य आतिथ्य के लिए महाराजा की सेवा में भेजता रहा। बिदाई के समय प्रत्येक

---

[1] तंबूल के यह अङ्क विस्तार से महाराजा रणजीतसिंह के दफ़्तर के क़ागजों में लिखे हैं, देखो खालसा दरबार रेकार्ड जि० २ पृ० १६।

१—पहाड़ी राजों से	५०,०००)
२—महाराजा के अपने इलाक़े से	३५,७७१)
३—सरदारों और रईसों की ओर से	१०६,३००)
४—फ़ौज के अफ़सरों और सिपाहियों से	२३,७०७॥)॥
५—घुड़सवारी फ़ौज के सरदारों से	१६,०००)
६—शहर के सराफ़ों की ओर से	३,०५०)
७—विविध	१,२०५)
जोड़	२,३६,०३७॥)॥

संख्या ३ में पाँच हजार की रक़म जो अंग्रेजी सरकार की ओर से करनल अक्तरलोनी द्वारा महाराजा को तंबूल में मिली थी, सम्मिलित है। मुंशी सोहन लाल ने भी तंबूल का कुछ लेखा अपनी पुस्तक में दिया है और उन सरदारों और रईसों के नाम लिखे है, जिन्होंने तंबूल की भारी रक़म महाराजा को भेंट की थी। दफ़्तरवाली रक़म और मुनशी सोहनलाल के अङ्कों का जोड़ मिलता नहीं। हमने ये रकमें महाराजा के सरकारी लेख-पत्रों से उद्धृत की हैं।

मेहमान को उस के पद के अनुकूल पगड़ी और ख़िलअत दी। मूल्यवान् दहेज दिया, जिस में हाथी, घोड़े, ऊँट, सोने-चाँदी के बहुत से बर्तन और ज़री और कमख़ाब की वर्दियाँ थीं। ६ फरवरी सन् १८१२ ई० को बारात वापस आई। रास्ते में महाराजा ने अमृतसर में पड़ाव किया, और दरबार साहब में बहुत रुपया विवाह के उपलक्ष में भेंट किया।

अंग्रेज़ी एजेंट की आव-भगत

इस अवसर पर महाराजा ने अंग्रेज़ी एजेंट करनल अक्तरलोनी की ख़ूब आवभगत की। अवसर से पूरा लाभ उठा कर मेल-जोल बढ़ाने का प्रयत्न किया। उस के दिल में महाराजा की तरफ़ से जो संदेह थे वह सब दूर कर दिये। लाहौर पहुँच कर उसे कुछ दिन और अपना अतिथि रक्खा। लाहौर का किला दिखाया और उसे फ़ौज की परेड दिखाकर प्रसन्न किया। प्रिंसेप साहब अपनी पुस्तक में लिखते हैं कि जब महाराजा अंग्रेज़ी एजेंट को अपना क़िला और अस्त्र इत्यादि दिखाता था तो दीवान मुहकम चंद और सरदार गंडा सिंह महाराजा को रोकते थे, परंतु रणजीत-सिंह अपने अच्छे स्वभाव के अनुसार जब एक बार किसी को अपना मित्र बना लेता था तो उस से कोई बात छिपा न रखता था।

काबुल सरकार का वकील लाहौर में

यह प्रकट हो चुका होगा कि दुर्रानी शासन की भाग्यलक्ष्मी नित्य विमुख होती जा रही थी। केंद्रीय शासन की नित्य की क्रांतियों के कारण पेशावर, अटक और कश्मीर के सूबेदार काबुल सरकार से विमुख हो चुके थे। अतएव जब शाह महमूद और वजीर फ़तेह ख़ाँ दूसरी बार जोर पकड़ गये तो उन्होंने अता मुहम्मद ख़ाँ सूबेदार कश्मीर को परास्त करने का निश्चय किया। परंतु उस समय रणजीतसिंह का बल बढ़ा-चढ़ा था, जिस से वह पूर्ण-रूप से परिचित हो चुके थे। जम्मू, जेहलम, और गुजरात के नाके जिन के द्वारा कश्मीर की घाटी में प्रवेश करते हैं, महाराजा के अधिकार में आ चुके थे। हजारा-मुज़फ़राबाद वाला रास्ता सरदी के दिनों में बर्फ़ से रुक जाता था। इसलिए महाराजा की इच्छा के बिना कश्मीर पर आक्रमण करना फौजी दृष्टिकोण से भय से रहित न था। अतएव वजीर फतेह खां ने अपना विश्वस्त वकील गोदड़मल महाराजा के दरबार में भेजा। दिसंबर सन् १८११ ई० में वह अफ़ग़ानिस्तान से उत्तम भेंट लेकर लाहौर दरबार में पहुँचा और अपने स्वामी का संदेश कह सुनाया। महाराजा ने हर प्रकार से उस को आश्वासन दिया और कहा कि मैं इस समय राजकुमार के विवाह के प्रबंध में लगा हूँ। इस के बाद वजीर फतेह खां की सहायता करूँगा। उक्त वकील यह जवाब लेकर लौटा।

भिंबर, राजोरी और अखनूर पर आक्रमण

ज्योंही महाराजा विवाह-कार्य से मुक्त हुआ उस ने पहाड़ी इलाक़ों—भिंबर और राजोरी—की ओर ध्यान दिया, और जम्मू और अखनूर पर भी पूर्ण-रूप से अधिकार करने का विचार कर लिया। पूर्व की ओर यह स्थल कश्मीर की घाटी के नाके हैं। कश्मीर विजय करने के लिए इन स्थलों पर महाराजा का पूर्व से ही अधिकार होना आवश्यक था। अतएव कुँवर खड़कसिंह के नेतृत्व में भैया रामसिंह एक बड़ी सेना ले कर गया। राजा सुलतान खां भिंबर वाले और राजा उगर ख़ाँ राजोरी वाले ने पूरे ज़ोर से मुकाबला किया। परंतु दीवान मुहकम चंद के नेतृत्व में फौज पहुँचने पर दोनों ने अधीनता स्वीकार कर ली। महाराजा ने कुछ दिनों के लिए उन्हें अपने पास लाहौर में नजरबंद रक्खा। अखनूर भी लाहौर साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

वफ़ा बेगम का कोहनूर देने का वचन देना

जब शुजाउलमुल्क कश्मीर में क़ैद किया गया तो उसकी बेगमें और शहज़ादे लाहौर में

आ गये थे, और महाराजा ने उन्हें अत्यंत आदर और सद्भाव से शरण दिया। जब वजीर फतेह खाँ और शाह महमूद के कश्मीर विजय करने के विचार का हाल शाह शुजा की बेगम को मालूम हुआ तो वह बहुत घबराई। शाह शुजा और शाह महमूद एक-दूसरे के प्रबल शत्रु थे। शाह महमूद स्वभाव का निर्दयी था। उस ने अपने दूसरे भाई शाह जमां की आँखें निकलवा दी थी। शाह की स्त्री वफा बेगम को यह भय हुआ कि कश्मीर विजय के बाद यह हत्याकारी कहीं शाह शुजा के साथ भी वैसा ही व्यवहार न करे। अतएव उस ने जब यह सुना कि महाराजा भी अपनी कुछ फौज फतेह खाँ के साथ कश्मीर भेजने का निश्चय कर रहा है, तो उस ने फ़क़ीर अजीजुद्दीन और दीवान भवानी दास द्वारा यह संदेश भेजा कि यदि महाराजा शाह शुजा को कैद से छुड़ा लाये और वह अपने बाल-बच्चों के पास लाहौर पहुँच जावे, तो वह प्रसिद्ध कोहनूर हीरा महाराजा को भेंट कर देगी। रणजीतसिंह ने यह बात स्वीकार कर ली, और जब उस की सेना कश्मीर जाने लगी तो महाराजा ने जनरल मुहकम चंद को यह विशेष रूप से आज्ञा दी कि जिस प्रकार हो सके वह शाह शुजा को अपने साथ लाहौर ले आये।[1]

वज़ीर फ़तेह खाँ की महाराजा से भेंट—नवंबर सन् १८१२ ई०

फ़तेह खां का वकील गोदड़ मल जब काबुल वापस पहुँचा और महाराजा का संतोष-जनक उत्तर अपने स्वामी को दिया, तो फ़तेह खां ने काश्मीर चढ़ाई की तैयारियाँ आरंभ कर दीं, और नवंबर सन् १८१२ ई० में अटक नदी पार कर के पंजाब की ओर बढ़ा। इधर महाराजा ने भी अपनी फ़ौज के साथ जेहलम नदी पार कर के रोहतास के निकट डेरे डाल दिए। अतएव महाराजा के ख़ेमे में दोनों की भेंट हुई। और सम्मिलित रूप से चढ़ाई करने का निर्णय हुआ। "समझौते की शर्तें ये थीं कि लूट के माल का आधा भाग महाराजा को मिले। इस के अतिरिक्त वज़ीर फतह खां ने काश्मीर के भू-राजस्व में से नौ लाख रुपया प्रति वर्ष 'घोड़ों की नाल बन्दी के लिये' देने का वचन दिया।"[2] महाराजा के समझाने पर वज़ीर फ़तेह खां भी राज़ी हो गया कि मुज़फ़्फ़राबाद वाले रास्ते के स्थान पर जो बर्फ़ की वजह से पार करने में कठिन था, भिंबर और राजोरी के रास्ते कूच किया जाय और पीर पंजाल पार करके कश्मीर की घाटी में प्रवेश किया जाय।

महाराजा के सम्मिलित आक्रमण का उद्देश्य

कश्मीर के सम्मिलित युद्ध के संबंध में महाराजा ने अपने मंत्रियों और अमीरों से सलाह किया। सब ने इस अवसर से लाभ उठाने का परामर्श दिया क्योंकि सहज में शाह शुजा को कश्मीर के सूबेदार के क़ैद से मुक्त कराया जा सकेगा, जिस के बदले उस की बेगम ने महाराजा को कोहनूर देने का वादा कर रक्खा था, और महाराजा इस मतलब के लिए अकेला फ़ौज भेजने वाला था। दूसरे पंजाब का शेर उचित अवसर मिलने पर कश्मीर विजय का स्वयं भी विचार रखता था। अतएव इस अवसर पर ख़ालसा फ़ौजें, दर्रों, घाटियों और मार्गों से पूर्णतया परिचित हो जायँगी जो बाद में बहुत लाभदायक सिद्ध होगा।

कश्मीर-यात्रा

चुनांचे बारह हज़ार सिख सिपाही सरदार दल सिंह, जीवन सिंह पिंडीवाला, और पहाड़ी राजे जसरोटा, बिसोहली, नूरपूर इत्यादि के नेतृत्व में कश्मीर के लिए रवाना हुए। दीवान मुहकम-

---

[1] विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—मुनशी सोहन लाल, दीवान अमर नाथ, पंडित दया राम और मैकग्रेगर के लेख। इन सब ने वफ़ा बेगम के वचन देने की स्पष्ट चर्चा की है। [2] पंडित दयाराम कृत "ग़ीरो शकर" पृष्ठ ५३।

चंद इस फौज का सेनापति था। दोनों सेनाओं ने पहली दिसंबर सन् १८१२ ई० को जेहलम से प्रस्थान किया। भिंबर, राजोरी और थन्ना के राह से होती हुई पीर पंजाल पार करके कश्मीर में प्रविष्ट हुईं।

वफ़ा बेगम को आश्वासन

रणजीतसिंह जेहलम से लाहौर वापस पहुँचा, और वफा बेगम को आश्वासन देने और उत्साहित करने के लिए फ़क़ीर अजीजुद्दीन और दीवान भवानी दास को उस के पास भेजा कि उसे बतावें कि ख़ालसा सरदारों को विशेष रूप से यह आज्ञाएँ दी गई हैं कि वह शाह शुजा को अपने साथ लाहौर ले आवें। इस पर वफा बेगम ने अपने विश्वस्त मुसाहब मीर अबुलहसन, मुल्ला जाफर और काजी शेर मुहम्मद को महाराजा की सेवा में भेजा और कहला भेजा कि मैं अपने वादे पर पक्की हूँ। जिस समय शाह शुजा लाहौर पहुँचेगा हीरा बिना किसी प्रकार के हीले-हवाले के आप की भेंट किया जायगा।[1]

दीवान मुहकम चंद की होशियारी

दोनों फौजें बड़ी शीघ्रता से रास्ता पार कर रही थीं। सिख और अफगान वीरता में एक-दूसरे से बाजी जीतना चाहते थे। प्रत्येक की यही इच्छा थी कि मेरी सेना अधिक वीर प्रमाणित हो। इसी दौड़-धूप में अफ़ग़ानी सेना जो पहाड़ी दुर्गम मार्गों को पार करने में अभ्यस्त थी दर्रा दोहराल के छोटे रास्ते से सीधे पीर पञ्जाल पर चढ़ गई। मोहकम चंद ने बहारम गलेवाला लंबा रास्ता लिया। इस लिए पठान सेना ख़ालसा सेना से बहुत आगे निकल गई। परन्तु दीवान मुहकम चन्द बड़ा चतुर व्यक्ति था। उस ने तुरंत भिंबर और राजोरी के राजों को, जो उस समय ख़ालसा सेना के साथ थे, भारी जागीर की लालच दी और उन से कहा कि ऐसा निकट का रास्ता बताओ कि जिस से ख़ालसा सेना अफ़ग़ान सेना के साथ हो कर कश्मीर की घाटी में जा पहुँचे। अतएव ऐसा ही हुआ और सिख सेना फ़तेह ख़ाँ की फ़ौज से पूर्व ही कश्मीर की घाटी में प्रविष्ट हुई।

शेरगढ़ क़िले का दमन

अता मुहम्मद ख़ाँ कश्मीर नरेश को जब इस आक्रमण का हाल मालूम हुआ तो उस ने शेरगढ़ क़िले के निकट इन फ़ौजों को रोकने का पूरा प्रबंध कर लिया। सँकरे दर्रों और दुर्गम रास्तों को पत्थरों और वृक्षों से बंद कर के और भी दुर्गम बना दिया। सर्दी का मौसम पूरे ज़ोरों पर था। बर्फ़ ख़ूब अधिकता से गिर रही थी। ख़ालसा सेना इस प्रकार की तीव्र सर्दी सहन नहीं कर सकती थी, अतएव लगभग २०० सिपाही मर गये। खाने की वस्तुएँ बड़ी महँगी हो गईं।[2] परंतु सिक्खों के जोश के सामने इन कठिनाइयों में क्या था? वह अफ़ग़ानी सेना के साथ ही साथ आगे बढ़ते रहे और शेरगढ़ का घेरा डाल दिया गया। अता मुहम्मद ने कुछ देर डट कर सामना किया, परंतु अंत में पराजित हुआ। ख़ालसा और अफ़ग़ानी फ़ौजों ने क़िले पर अधिकार कर लिया। बहुत-सा मूल्यवान् माल विजेताओं के हाथ लगा।[3] शाह शुजाउलमुल्क भी इसी क़िले में

---

[1] विस्तृत हाल जानने के लिए देखिए—मुनशी सोहन लाल की 'उम्दतुल्तवारीख़'। सिखों के प्रसिद्ध इतिहासकार दीवान अमर नाथ तो यह लिखते हैं कि महाराजा का उद्देश्य केवल शाह शुजा को मुक्त कराना था—'जफ़रनामा-रणजीतसिंह', पृष्ठ ७१। कनिंघम भी इसी का समर्थन करता है। सोहनलाल द० १ पृष्ठ १३२। [2] सोहन लाल द० २ पृष्ठ १३३। [3] प्रिंसेप और उस से नक़ल कर के बहुत से इतिहासकारों ने यह लिखा है कि वज़ीर फ़तेह ख़ाँ ने अकेले ही अता मुहम्मद ख़ाँ को परास्त किया था और ख़ालसा सेना पीछे रह गई थी। यह वर्णन नितांत अशुद्ध है। विस्तृत वर्णन के लिए मुनशी सोहन लाल द० १ पृष्ठ १३३ तथा दीवान अमरनाथ पृष्ठ ७२ देखिए।

पैरों में ज़ंजीर से बँधा हुआ क़ैद था। अतएव शाह को तुरंत मुहकम चंद के कैंप में लाया गया। उसकी ज़ंजीरें कटवा दी गईं और उसे आश्वासन दिया गया।

वज़ीर फ़तेह ख़ाँ ने भी क़िले में प्रवेश करते ही शाह शुजा की तलाश की, परन्तु वह वहाँ कहाँ था। उस ने शाह को दीवान मुहकम चंद से प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया। परन्तु दीवान बड़ा बुद्धिमान् था। उस ने शुजाउलमुल्क को अपनी रक्षा में रखने के लिए कोई उपाय शेष न छोड़ा। इसी कारण वज़ीर फ़तेह ख़ाँ और दीवान मुहकम चंद में भेद-भाव उत्पन्न हो गया। इस का कारण बताते हुए शीर-व-शकर का रचयिता लिखता है कि वज़ीर फ़तेह ख़ाँ ने लूट के अधिक भाग पर अपना अधिकार कर लिया और थोड़ा भाग दीवान मुहकम चंद को पेश किया। शाह शुजा दीवान मुहकम चंद के हाथ आ ही चुका था, जिसे वज़ीर फ़तेह ख़ाँ ने स्वाभाविक तौर पर सहन न किया। चुनांचे फ़तेह ख़ाँ के साथी अफ़ग़ानों ने दीवान मुहकम चन्द की हत्या करने का षड्यंत्र रचा। परन्तु एक काशमीरी पंडित दीवान नन्द राय को इस का पता चल गया और उसने दीवान को कश्मीर छोड़ कर लाहौर चले जाने की सम्मति दी। दीवान मुहकम चंद यहां से ही अफ़ग़ान फ़ौज से अलग हो कर ख़ालसा सेना और शाह शुजा के साथ लाहौर वापस लौट पड़ा, और वज़ीराबाद पहुँच कर उस ने महाराजा को विस्तृत समाचार लिख भेजा। फिर दो दिन बाद लाहौर जा पहुँचा। महाराजा ने शाह शुजा का सम्मान-पूर्वक स्वागत किया। एक बड़ा और अच्छा घर जो लाहौर में आज तक मुबारक हवेली के नाम से प्रसिद्ध है, शाह के रहने के लिए प्रस्तुत किया।

कोहनूर पर झगड़ा

अब महाराजा ने वादे के अनुसार शाह शुजा से कोहनूर माँगा और इस उद्देश्य से फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन और भैया राम सिंह को शाह के पास भेजा। परन्तु इस मूल्यवान् हीरे को अलग करना कोई साधारण बात न थी। अतएव शाह और उस की बेगम ने टाल-मटोल किया और अपने वकील हबीबुल्ला ख़ाँ और हाफ़िज़ रूहुल्ला ख़ाँ को महाराजा के पास किले में रवाना किया। उन्होंने प्रकट किया कि कोहनूर इस समय उनके अधिकार में नहीं है। वफ़ा बेगम ने उसे क़ंधार में एक सौदागर के यहाँ छः करोड़ रुपये पर गिरवी रक्खा है। यह रुपया शाह ने अपने युद्धों में व्यय किया था। भला रणजीत सिंह जैसा होशियार आदमी इन चकमों में कहाँ आनेवाला था? उस ने कोहनूर प्राप्त करने के लिए कश्मीर के युद्ध में दो लाख रुपया ख़र्च किया था। सैकड़ों सिख नौजवान हाथ से खोए थे। स्वयं और उसके सेनापतियों ने इतनी मेहनत की थी और इसी कारण उस ने वजीर फ़तेह ख़ाँ को अंत में अप्रसन्न किया था। क्या टाल-मटोल के दो-चार शब्द इन अनेक बलिदानों के बराबर थे? स्वाभाविक था कि महाराजा को इस वचन के तोड़ने पर क्रोध आए। अतएव शीघ्र ही शादी ख़ाँ कोतवाल को यह आज्ञा हुई कि शाह के घर पर कठिन पहरा लगाया जाए ताकि वहाँ से कोई भी बाहर न जा सके और इस तरह कोहनूर को लेकर देश से बाहर न चला जाय। कुछ दिन पीछे बादशाह के पास यह भी संदेश भेजा कि आपको कोहनूर-के उपलक्ष में तीन लाख रुपया नक़द और पचास हज़ार की जागीर दी जायगी। अंत में शाह ने इन कठिनाइयों से विवश होकर यह स्वीकार किया कि ५० दिन के भीतर-भीतर कोहनूर महाराजा को दे दिया जायगा। जब यह अवधि समाप्त होने को आई तो १८१३ ई० की जून के आरंभ में शाह शुजा के कहने पर महाराजा मुबारक हवेली में शाह के पास पहुँचा। शाह शुजा ने उठकर महाराजा का स्वागत किया और कुछ देर बात-चीत करने के बाद कोहनूर भेंट कर दिया। महाराजा

ने शाह को लिख कर दिया कि चौकी व पहरा शाह के मकान से उठा लिया जायगा और आगे उस पर बंधन न लगाया जायगा।[1]

इस घटना के संबंध में इतिहासकारों की सम्मतियाँ

इस घटना का वर्णन करते हुए कप्तान मरे ने अपनी रिपोर्ट में और उस से नक़ल करके सैयद मुहम्मद लतीफ़ ने यह प्रकट करने का प्रयत्न किया है कि महाराजा अत्यंत लालची था। उसने स्वयं जान-बूझ कर वफ़ा बेगम को उसके पति के जीवन के संबंध में डराया और यह आशा दिलाई कि यदि वह उसे कोहनूर देने का वादा करे तो महाराजा उस के पति को फ़तेह खाँ के पंजे से सुरक्षित छुड़ा लावेगा। बाद में तरह-तरह के कष्ट दे कर यह हीरा उन से छीन लिया। उसके विपरीत बाबा प्रेम सिंह ने अपनी पुस्तक में यह प्रकट किया है कि इस घटना से महाराजा रणजीत सिंह का कोई दखल न था। वफ़ा बेगम ने दीवान मुहकम चंद और फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन से कोहनूर देने का वादा किया था। अब उन्हीं दोनों ने शाह और उस की बेगम से यह हीरा निकलवाने का प्रयत्न किया, जिसमें कि वह महाराजा के सम्मुख झूठे न बनें और लज्जित न हों। हमें रणजीतसिंह को निर्दोष सिद्ध करने या उसमें दोष दिखाने से कोई सरोकार नहीं। हमारा मुख्य धर्म घटनाओं को यथार्थ रूप से उपस्थित करना है। हमारी सम्मति में उपरोक्त इतिहासकारों की सम्मति पक्षपात से रहित नहीं। घटनाओं को अतिरंजित करना या छिपाना उनकी अपनी ईजाद है। हमारा बयान मुनशी सोहनलाल और दीवान अमरनाथ की पुस्तकों पर आश्रित है। यह दोनों महाराजा के दरबार में घटना-लेखक थे और जहाँ तक मैं जानता हूँ, इन्होंने घटनाओं को ठीक प्रकार से वर्णित किया है। जहाँ उन्होंने वफ़ा बेगम के वादे का साफ़-साफ़ वर्णन किया है वहाँ खुले प्रकार से यह भी लिख दिया है कि जब शाह और उसकी बेगम ने कोहनूर देने में टाल-मटोल किया तो महाराजा की आज्ञा से इन के मकान पर पहरा बिठा दिया गया और शाह को बहुत कष्ट दिया गया।

शाह शुजा भी अपने आत्मचरित्र[2] में इस घटना का वर्णन करता है जिस के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि उसे कुछ कष्ट अवश्य दिया गया था, परन्तु जितना कि कप्तान मरे ने सुनी-सुनाई बातों का बतंगड़ बना दिया है उतना नहीं। कप्तान मरे और शाह शुजा के बयान में बहुत अंतर है।

अब देखना यह है कि इस ढंग से कोहनूर को प्राप्त करने में रणजीतसिंह कहाँ तक सत्पथ पर था। सभी घटनाओं की जाँच पड़ताल करने पर यह सिद्ध होता है कि वफ़ा बेगम ने कोहनूर देने का वचन दे रखा था। और ज्यूंही महाराजा ने शाह को कुशलपूर्वक लाकर मलका के हवाले कर दिया तो वह हीरा माँगने में सत्पथ पर अवश्य था। देखनेवाली बात यह है कि क्या महाराजा के मन में ऐसा विचार आया या नहीं कि एक स्त्री ने ऐसा वचन विवश होकर दिया है। यदि उस के मन में शाह के जीवन के विषय में भय उत्पन्न न होता तो वह इस बहुमूल्य मणि से सदा के लिए बिछुड़ने पर तैयार न होती। ऐसी दशा में क्या यह बात रणजीतसिंह जैसे वीर के लिए उचित न थी कि वह शाह तथा उसकी बेगम पर दया करके अपनी उदारता का प्रमाण देते हुए उन्हें अपने वचन को पूरा करने के लिए बाध्य न करता और उनकी शुभाकांक्षाओं का भागी बनता। परन्तु रणजीतसिंह से या उस की स्थिति में किसी दूसरे राजा तथा नीतिज्ञ से ऐसी आशा रखना स्वाभाविकता से बहुत दूर है।

साथ ही हमें यह विचार भी आता है कि रणजीतसिंह ने ऐसा अवश्य सोचा होगा कि कोहनूर शुरू से ही भारत के सम्राटों के पास रहा है और भारत की सम्पत्ति है। केवल थोड़ा

---

[1] विस्तार के लिए देखिए सोहन लाल द० २ पृष्ठ १४४। [2] अध्याय, १५।

समय ही बीता था कि नादिरशाह इसे दिल्ली के खज़ाने से बलपूर्वक उठाकर ले गया था और वहाँ से यह शाह शुजा के दादा के हाथ आया। और अब यदि फिर वह भारत में आया है तो उसे हाथ से क्यों जाने दिया जाय। यह बात अच्छी तरह से स्पष्ट है कि शाह शुजा काबुल का राज्य खो चुका था और स्थान-स्थान पर मारा-मारा फिर रहा था। सम्भव था कि निर्वासन की दशा में कोई शक्तिशाली राजा उससे यह हीरा छीन लेता या यह भी सम्भव था कि भय तथा लोभ के वश में होकर शाह स्वयं ही उसे बेच देता। तो इस दशा में इसका रणजीतसिंह के हाथ आने अथवा फिर से भारत में आने की सम्भावना न रहती। रणजीतसिंह को दोषी ठहराने से पहले हमें इन सभी पहलुओं पर विचार करना होगा।

शाह शुजा की रामकहानी

इस घटना के अनंतर शाह शुजा सकुटुंब डेढ़ साल तक लाहौर में रहा। परंतु उसके हृदय में अभी बादशाही की लालसा चुटकियाँ ले रही थी। अतएव उस ने लाहौर से भाग निकलने का पूरा इरादा कर लिया। १ नवंबर, सन् १८१४ ई० को शाह की बेगमें शहर लाहौर से भाग कर सतलज नदी को पार करके लुधियाने में शरणागत हुईं। जब महाराजा को यह भेद मालूम हुआ तो उस ने चौकी-पहरा नियुक्त किया। परन्तु अप्रैल सन् १८१५ ई० को शाह शुजा भी भेस बदल कर भाग निकला और १८३८ ई० तक अँग्रेज़ी सरकार के यहाँ पेंशन पाता रहा। इस बीच में शाह ने कई बार कश्मीर, पेशावर, सिंध और काबुल की तरफ़ प्रस्थान किया परन्तु सदा असफल रहा। अंत में सन् १८३९ ई० में अंग्रेज़ों की सहायता से काबुल के तख़्त पर बैठा, परंतु अगले वर्ष ही क़त्ल कर दिया गया। महाराजा ने शाह शुजा के संबंध में आकृति देखकर यह राय निर्धारित की थी कि यह बादशाही प्राप्त करने में सफल न होगा। वैसा ही हुआ।

अटक के क़िले पर महाराजा का अधिकार

अटक का सुदृढ़ क़िला सिंध नदी के ठीक किनारे पर स्थित है, और पश्चिमोत्तरी दर्रों की राह आने-जानेवाले आक्रमणकारियों के लिए पंजाब का द्वार समझा जाता है। उस समय यह क़िला अफ़ग़ानी सरदार जहाँदाद ख़ाँ के अधिकार में था। महाराजा रणजीतसिंह के मन में यह बात बैठ चुकी थी कि जब तक यह दुर्ग उसके अधिकार में न आएगा अफ़ग़ानी सेना की रोक-थाम बहुत कठिन होगी। सौभाग्यवश महाराजा को अवसर शीघ्र ही प्राप्त हुआ। क़िलादार जहाँदाद ख़ाँ कश्मीर के सूबेदार अता मुहम्मद ख़ाँ का भाई था। कश्मीर की हार का हाल सुनकर उसे अपने लिए भी भय उत्पन्न हो गया। वह स्पष्ट रूप से जानता था कि वह अकेला शाह महमूद और उसके वज़ीर फ़तेह ख़ाँ का सामना न कर सकेगा। अस्तु उसने रणजीतसिंह से पत्र-व्यवहार आरंभ किया, और इस शर्त पर क़िला ख़ाली करने पर तैयार हो गया, कि उसे गुज़ारे के लिए महाराजा की ओर से उचित जागीर दे दी जाय। महाराजा ने तुरंत वज़ीराबाद का परगना जहाँदाद ख़ाँ की जागीर के लिए नियुक्त कर दिया और ख़ालसा फ़ौज का एक बड़ा दस्ता अटक पर अधिकार करने के लिए दीवान भवानीदास के नेतृत्व में भेजा। अफ़ग़ानी फ़ौज ने क़िला ख़ाली करने से पूर्व लगभग एक लाख रुपया जो उनकी वेतनों का जहाँदाद ख़ाँ के यहाँ बाक़ी था महाराजा के अफ़सरों से माँगा। यह रुपया अदा कर दिया गया और ख़ालसा फ़ौज क़िले पर अधिकारी हो गई।[1] दीवान भवानीदास और फ़कीर अज़ीज़ुद्दीन का भेजा हुआ दूत चार घड़ी रात गये लाहौर पहुँचा। महाराजा को अटक के गढ़ पर अधिकार पाने की सूचना सुन कर बहुत हर्ष हुआ। इस समाचार

[1] सोहनलाल द० २ पृष्ठ १३७-९।

को नगर में शीघ्र ही फैलाने के भाव से दुर्ग पर से उसी वक्त तोपें छोड़ी गईं। साथ ही सारे नगर में दीपमाला की गई। दूसरी सुबह को स्वयं महाराजा हाथी पर सवार होकर नगर के गली-कूचों में से रुपये पैसे बिखेरता हुआ निकला।

वज़ीर फ़तेह ख़ाँ की तिलमिलाहट

वज़ीर फ़तेह ख़ाँ से यह सब व्यापार छिपा रहा, और उसे जहाँदाद ख़ाँ की कृति की कुछ ख़बर न मिली। उसकी आँखें उस समय खुलीं जब महाराजा का अटक क़िले पर अधिकार हो चुका था, अतएव वह बहुत तिलमिलाया। तुरंत कश्मीर की सूबेदारी अपने भाई अजीम ख़ाँ के हाथों में दी। स्वयं पखली और धमतौड़वाले रास्ते से होता हुआ ऊपर ही ऊपर पेशावर पहुँच गया और महाराजा को क़िला ख़ाली करने के लिए कहला भेजा। महाराजा क़िले में अपनी सेना बढ़ाने के लिए समय प्राप्त करना चाहता था और साथ ही वह चाहता था कि दीवान मुहकम चंद वापस कश्मीर से आ लेवे तब फ़तेह ख़ाँ से युद्ध किया जावे। अतएव उसने अफ़ग़ान वज़ीर के साथ समझौते की बात-चीत में कुछ समय व्यतीत कर दिया और इसी समय में अटक के क़िले की फ़ौज भी बढ़ा दी। बाद में क़िला ख़ाली करने से साफ़ इन्कार कर दिया।

सिखों और अफ़ग़ानों का युद्ध, जुलाई १८१३

फ़तेह ख़ाँ ने पेशावर से चलकर एक बड़ी अफ़ग़ानी सेना के साथ इलाक़ा छछ में डेरे डाल दिये और क़िले का घेरा आरंभ कर दिया। इधर से महाराजा का तोपख़ाना और लश्कर दीवान मुहकम चंद के नेतृत्व में जेहलम पार कर के क़िला की रक्षा के लिए पहुँच गया। दोनों फ़ौजें तीन मास तक हैदरो के मुकाम पर आमने-सामने पड़ी रहीं। इस घेरे के अवसर पर क़िले वालों को रसद पहुँचाना कठिन हो गया, इसके अलावा ग्रीष्म ऋतु भी अपने पूरे यौवन पर पहुँच चुकी थी और बड़ी सख्त गर्मी पड़नी शुरू हो गई थी, जिसमें सर्द देश के पठान लोगों के लिए लड़ना कठिन था। चुनांचे दीवान मुहकम चंद ने महाराजा से आज्ञा मँगवा कर अफ़गानी सेना पर धावा बोलने का फैसला कर दिया और शीघ्र ही अपनी सेना को व्यवस्थित करना प्रारंभ कर दिया। सवारी सेना को जिसमें जोधसिंह रामगढ़िया, हुकमसिंह अटारी वाला और हरिसिंह नलुआ जैसे बड़े अनुभवी जर-नैल शामिल थे, तीन भागों में विभक्त करके अर्धमंडल के रूप में व्यवस्थित किया गया। इसके ऐन मध्य में योरुपीय ढंग पर सुशिक्षित पलटनों को समकोण चतुर्भुज के रूप में सुसज्जित किया और सब से पीछे तोपख़ाना लगाया गया। दीवान मुहकम चंद ने स्वयं हाथी पर सवार होकर सेनाओं का निरीक्षण किया। २८ जून को फतेह ख़ाँ के भाई दोस्त मुहम्मद ख़ाँ ने सिक्खों पर एक दम तीन तरफ से रास कड़ा आक्रमण किया जिस को सहन न कर सकने के कारण खालसा की प्यादा सेना में भगदड़ मच गई। परंतु पलटन के कमाण्डर मिया सिंह पूरबी ने बड़े साहस से काम लिया और भागते हुए सैनिकों को सिर्फ रोक ही न लिया वरन् उन्हें पल की पल में फिर से व्यवस्था भी दे दी। इसी बीच में दीवान मुहकम चंद ने यह आज्ञा भी दे दी कि उसके हाथी के पाँव ज़ंजीरों से बाँध दिये जायँ ताकि वह रणभूमि से भाग न सके। दीवान मुहकम चंद की यह कार्यवाही देखकर खालसा सेना के साहस दो गुने हो गये। अब सिक्खों की ओर से गोलियों की एक न थमनेवाली बौछार प्रारंभ हुई। चुनांचे अफ़ग़ानों ने पीछे हटना आरंभ किया। ख़ालसा घुड़सवारों ने उनका पीछा किया और पल की पल में हज़ारों को खेत किया।[1] मैदान ख़ालसा के हाथों रहा। फतेह ख़ाँ ने भाग कर पेशावर में दम लिया। अफ़ग़ानी सेना का अगणित नगद रुपया व सामान,

---

[1] दीवान अमरनाथ के अनुसार दो हजार अफगान सिपाही युद्ध में काम आये। जफर-नामा पृष्ठ ७४

ख़ेमे, ऊंट, घोड़े और लगभग ७ छोटी तोपें उन के हाथ आईं। विजय का समाचार प्राप्त होने पर लाहौर में ख़ुशी के बाजे बजे। इस सुखद समाचार के लाने वाले को महाराजा ने सोने के कड़ों की एक जोड़ी और सम्मान की ख़िलअत प्रदान की।[१]

हैदरो युद्ध का महत्त्व

अफगानों और सिक्खों का यह पहला निर्णायक युद्ध था जिस में मैदान खालसा के हाथ रहा तथा आगे के लिए अटक का गढ़ महाराजा रणजीतसिंह के अधिकार में आ गया। इस गढ़ के महत्त्व के उल्लेख की आवश्यकता नहीं। इतिहास और भूगोल जानने वाले लोग यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह क़िला अटक नदी के किनारे उस मुख्य सड़क (मार्ग) पर स्थित है जो मध्य एशिया से चलकर भारत के मैदानी इलाके में दाखिल होता है। वास्तव में यह दुर्ग हमारे देश के लिए प्रहरी का काम देता है। सन् १००० ई० में जब यह गढ़ राजा जय पाल के हाथों से निकल गया, तब से लगातार आठ सौ वर्ष तक मुसलमान आक्रमणकारियों की एक न थमने वाली बाढ़ उमड़-उमड़ कर भारत की ओर आती रही। चुनांचे महाराजा ने इस दुर्ग पर अधिकार कर के न केवल इस बाढ़ को रोक ही दिया वरन् इस का रुख भी उलटा कर दिया। अर्थात् इस के दस वर्ष बाद महाराजा ने पेशावर पर भी विजय प्राप्त कर ली। और अगले दस वर्षों के बाद स्वतंत्र पंजाब की ध्वजा जमरोद की पहाड़ियों पर जा लहरायी। एक प्रकार से अटक के गढ़ का अफगानों के हाथों से निकल-जाना भारत में उनकी राजनीतिक शक्ति के लिए मृत्यु सूचक नगाड़ा बजने के समान था। अब रणजीतसिंह के लिए खैबर द्वार तक रास्ता खुल गया।

कश्मीर की चढ़ाई की तैयारियाँ—अक्तूबर सन् १८१३ ई०

ख़ालसा सेना ने कश्मीर और अटक के युद्धों में अफ़ग़ानी सेना में बल का अनुमान कर लिया था और उन्हें विश्वास हो चुका था कि ये लोग उन से किसी प्रकार अच्छे योद्धा या शूर नहीं हैं। फ़ौजी दृष्टिकोण से अटक के क़िले पर अधिकार बनाये रखने के लिए महाराजा ने यह आवश्यक समझा कि सूबा कश्मीर और उस के आस-पास का पहाड़ी इलाक़ा वज़ीर फ़तेह ख़ां के सहायकों के हाथ में अधिक समय तक नहीं रहना चाहिए। अतएव अक्तूबर मास के आरंभ में महाराजा ने कश्मीर के दमन करने का विचार किया और अपने सचिवों से परामर्श किया। चुनांचे इस युद्ध के लिए तैयारियाँ आरंभ हो गईं। महाराजा साहब ने स्वयं दशहरा से पहले नवरात्र के दिन लाहौर से प्रस्थान किया। अमृतसर होते हुए कांगड़ा में ज्वाला जी के पवित्र स्थल पर भेंट चढ़ाई।[२] फिर पठानकोट और आदीनानगर होते हुए स्यालकोट में ख़ेमा डाला। यहां संपूर्ण ख़ालसा फ़ौजें एकत्र की गईं। सरदार निहालसिंह अटारीवाला, सरदार देसासिंह मजीठा, दीवान राम दयाल, सरदार हरीसिंह नलवा, और भया राम सिंह इत्यादि के नेतृत्व में अलग-अलग सेना के भाग नियुक्त हुए। नवंबर में महाराजा रोहतास पहुँचा। यहां उसे समाचार मिला कि वज़ीर फ़तेह ख़ां पेशावर से डेराजात की तरफ आ रहा है, और मुल्तान दमन करने का विचार रखता है, और दूसरी ओर से यह समाचार मिला कि पीर पंजाल में भी बर्फ़ पड़ रही है। अतएव तत्काल कश्मीर विजय करने का विचार स्थगित करना पड़ा। फिर भी एक टुकड़ा सेना का दीवान रामदयाल (जो दीवान मुहकम चंद का पोता और बीस वर्ष की अवस्था का नवयुवक था) के नेतृत्व में राजोरी की ओर रवाना किया गया, जिसमें कि वह उस रास्ते के दर्रों पर अधिकार कर ले और अनाज

---

[१] सोहनलाल द० २ पृष्ठ १४५ [२] विस्तृत हाल के लिए देखिए मुनशी सोहनलाल की 'उम्दतुत्तवारीख़,' दफ्तर, २ पृष्ठ १४७

इत्यादि के ढेर जमा करने के उचित स्थान देख आये। महाराजा स्वयं २६ दिसंबर को लाहौर वापस पहुँच गया।

कश्मीर पर चढ़ाई—अप्रैल सन् १८१४ ई०

अब मौसम खुलने पर अप्रैल सन् १८१४ ई० में कश्मीर की चढ़ाई का पुनः निश्चय हुआ। कांगड़ा पहाड़ी के राजों के नाम आज्ञापत्र निकले कि अपनी-अपनी सेना लेकर महाराजा के साथ सम्मिलित हों। अतएव ४ जून को वज़ीराबाद के स्थल पर संपूर्ण सेना का निरीक्षण हुआ, और उसे विभिन्न भागों में बांटा गया। यहां से सेना कूच कर के गुजरात और भिंबर होती हुई ११ जुलाई को राजौरी पहुँची। यहां महाराजा ने युद्ध का उचित प्रबंध किया। तोपख़ाना का भारी असबाब यहीं पर छोड़ दिया और हल्की शुतरी तोपों को अपने साथ लिया। सेना को दो बड़े भागों में विभक्त किया। एक टुकड़ा जिसकी संख्या तीस हज़ार के लगभग थी दीवान राम दयाल, सरदार दल सिंह, ग़ोस खां दारोग़ा तोपखाना, सरदार हरी सिंह नलवा और सरदार मित सिंह पधानिया के नेतृत्व में बहराम गल्ला तथा थन्ना मंडी के रास्ते से शोपियां स्थल पर कश्मीर की घाटी में प्रवेश करने के लिए चला। फ़ौज का दूसरा भाग जिस की संख्या और अधिक थी और जिस का नेतृत्व महाराजा के हाथों में था पुनछ वाले मार्ग से होकर तोशा मैदान के दर्रे से निकल कर वादी में पहुँचने के लिए चल पड़ा।

दीवान राम दयाल अपने सेना के भाग को लेकर मंज़िल-मंज़िल पर पड़ाव करता हुआ २० जुलाई को बहराम गल्ला पहुँच गया किंतु आगे जाने के लिए मार्ग बन्द पाया। इस स्थान पर एक छोटा-सा किन्तु एक बहुत मजबूत गढ़ स्थित था। इस में पुनछ के नवाब की बहुसंख्य सशस्त्र सेना इस मार्ग को रक्षा के लिए रह रही थी। दीवान राम दयाल ने गढ़रक्षक को हर प्रकार से मनाने की चेष्टा की किंतु उसने खालसा सेना को रास्ता देने से इन्कार कर दिया। आखिर दीवान युद्ध करने पर विवश हो गया। किंतु गढ़ी तक पहुँचना कठिन था क्योंकि उस के सामने एक तीव्र गति वाला पहाड़ी नाला बह रहा था जिसको लाँघना सेना के लिये बहुत कठिन था। खालसा सेना ने बहुतेरे हाथ पाँव मारे किन्तु सब विफल सिद्ध हुये। अन्त में दीवान ने राजा उग्र खाँ राजौरी वाले को सहायता के लिये तैयार कर लिया एक पूरी प्यादा पलटन के साथ उस ने नाले के किनारे-किनारे ऊपर ऊँचाई की ओर प्रस्थान किया! ज्यों ही वह ऐसे स्थान पर पहुँचा कि जहाँ नाले का पानी न तो गहरा था और न तेज वरन् वह विशेष चौड़े स्थान पर फैला हुआ था, उसे पार कर के दूसरे तट पर पहुँच गया। और वहाँ से आँख बचा कर नाले के ढलान में नीचे की ओर कूच किया। अकस्मात् गढ़ी पर धावा बोल दिया। दूसरी ओर से दीवान राम दयाल ने नाले के बीच बड़े-बड़े बलवान् हाथी खड़े कर दिये और उनकी पीठ पर से चलकर[1] सिक्ख सैनिकों ने नाला पार करना शुरू कर दिया। भाव यह कि अब दोनों ओर से गढ़ी पर आक्रमण कर दिया गया और आन की आन में दुर्ग पर अधिकार हो गया। इस प्रकार पीछे से आने वाली खालसा सेना के लिये भी मार्ग खुल गया। अब दीवान राम दयाल ने आगे कूच करना प्रारम्भ किया। और सराय से होते हुए आमादपुर जा पहुँचे, और तुरंत हीरपुर अधिकार में कर लिया। यहाँ पर अज़ीम ख़ाँ, सूबेदार कश्मीर की फ़ौज का एक बड़ा भाग सामना करने के लिए आगे बढ़ा, और २६ जुलाई को सिखों और अफ़ग़ानों में घमासान युद्ध हुआ। अफ़ग़ान हार कर लौटे। सिख़ सेना यहाँ से शोपियाँ पहुँची। वहाँ अफ़ग़ानी सेना मुहम्मद शकूर ख़ाँ के नेतृत्व में एक बड़ी संख्या में उपस्थित थी। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। शाहज़ादा खड़क सिंह की सेना का वीर

---

[1] सोहनलाल ने इस के लिए 'जस्सरे फ़ीलान' का शब्द बर्ता है। द० २-पृष्ठ १५६।

अफ़सर मुनशी जीवनमल जो आगे की पंक्ति में तलवार लिए लड़ रहा था इसी लड़ाई में मारा गया। इधर ईश्वर को भी अभी ख़ालसा की सफलता वांछित न थी। ठीक युद्ध के अवसर पर मूसलाधार वर्षा आरंभ हो गई। अब ख़ालसा सेना को श्रीनगर की तरफ़ बढ़ने के अतिरिक्त कोई उपाय न रहा। अतएव दीवान राम दयाल कष्ट उठाता धीरे-धीरे श्रीनगर के निकट जा पहुँचा और ताज़ा सेना की आशा करने लगा। लेकिन वर्षा की अधिकता और भया राम सिंह--जिस के नेतृत्व में पाँच हज़ार सेना महाराजा की ओर से भेजी गई थी की कायरता के कारण समय पर सहायता न पहुँच सकी। इसी कारण कुछ काल के लिए राम सिंह अपने पद से हटा भी दिया गया।

महाराजा का वापस आना

ख़ालसा सेना का दूसरा भाग जो स्वयं महाराजा के साथ था वर्षा की अधिकता के कारण जून के अंत तक राजोरी में ही रुका रहा। अंत में वह जुलाई मास के मध्य में पुनछ पहुँच गया। यहाँ भी पंद्रह दिन ठहरना पड़ा, क्योंकि पुनछ का अधिकारी रुहल्ला ख़ाँ कश्मीर के सूबेदार से मिला हुआ था। और उस ने आज्ञा दे रखी थी कि सिक्ख सेना के आने पर शहर को खाली कर दिया जाय। चुनांचे ऐसा ही हुआ। अतएव महाराजा की सेना को रसद प्राप्त करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अब महाराजा ने तोशा मैदान के दर्रे से जाने का विचार किया, परंतु यहाँ भी सफलता के कोई लक्षण दिखाई न देते थे। अतएव महाराजा मूंडा की ओर बढ़ा, परन्तु ऊपर के पहाड़ से रुहल्ला ख़ाँ ने खालसा सेना को तङ्ग करना आरंभ किया। पहाड़ों की चोटियों से गोलियों की बौछार ने महाराजा के पाँव उखाड़ दिए। उधर से अज़ीम ख़ाँ ने भी मौके पर आक्रमण कर दिया। महाराजा चारों ओर से घिर गया। अतएव वापस लौटने के अतिरिक्त कोई बस न था। पाँच हजार सेना का एक सैनिक दस्ता भया राम सिंह के नेतृत्व में दीवान राम दयाल की सहायता के लिए भेजा और स्वयं लाहौर चल पड़ा। और पुनछ कोटली, मीरपुर से होता हुआ अगस्त सन् १८१४ ई० में महाराजा लाहौर वापस पहुँचा। इस आक्रमण में महाराजा के कई प्रसिद्ध सरदार जैसे फतेह सिंह छाछी, मित सिंह पधानिया, गुरु बक्श सिंह धारी तथा देसा सिंह मान इत्यादि काम आये।

दीवान राम दयाल की वीरता

दीवान राम दयाल की सेना जो श्रीनगर के निकट स्थित थी बहुत दृढ़ बनी रही और बड़ी शूरता और तत्परता से अज़ीम ख़ाँ का सामना करती रही। दीवान अमर नाथ लिखते हैं कि राम दयाल के युद्धों में लगभग दो हज़ार अफ़ग़ान काम आए।[1] संभवतः अज़ीम ख़ाँ भी इसी को नीति-युक्त समझता था कि जितनी जल्दी हो सके खालसा सेना उस की रियासत से बाहर चली जाय। अतएव राम दयाल की शूरता और दृढ़ता देख कर उस के साथ संधि कर ली और जैसा सैयद मुहम्मद लतीफ़ लिखते हैं, उस ने महाराजा के लिए मूल्यवान् भेंटें भेजीं, और दीवान रामदयाल को आश्वासन दिलाया कि वह आगे सदा महाराजा की शुभ कामना करेगा।[2]

दीवान मुहकम चंद की मृत्यु—अक्तूबर सन् १८१४ ई०

खालसा सेना का बहादुर योद्धा और महान् सेनापति दीवान मुहकम चंद कुछ काल से

---

[1] जफ़रनामा रणजीतसिंह, पृ० ८४। [2] इस के संबंध में प्रिंसेप इत्यादि का यह लिखना है कि अज़ीम ख़ाँ ने राम दयाल के दादा दीवान मुहकम चंद की मैत्री का ध्यान रख कर उसे कश्मीर से सुरक्षित निकल जाने दिया। यह बिल्कुल अयथार्थ है, और घटनाओं पर आश्रित नहीं है।

बीमार चला आता था। परंतु अच्छा न हो सका और अक्तूबर सन् १८१४ ई० में परलोक सिधारा। दीवान मुहकम चंद उन प्रसिद्ध व्यक्तियों में सब से पहला सरदार था जिसने खालसा की जी-जान से सेवा की और यही कर्तव्य पालन करता हुआ मरा। मुहकम चंद का हृदय प्रेम और स्वामिभक्ति का स्रोत था, जिसने महाराजा की सेवा में कोई कसर उठा न रक्खी। दिल की उच्चता के अतिरिक्त यह दीवान बुद्धि के और शारीरिक चमत्कारों की मूर्ति था। कड़ी से कड़ी कठिनाइयों से ज़रा भी विचलित न होता था। स्वभाव से उच्च कोटि का सेनापति था। देशभक्ति के भाव उसमें कूट-कूट कर भरे थे।

रणजीतसिंह को उक्त दीवान पर बड़ा गर्व था, और उसके मरने का महाराजा को बहुत बड़ा शोक हुआ। संपूर्ण खालसा दरबार शोक में छा गया। उस की अंतिम क्रिया बड़े आदर से फ़ौजी रीति से की गई, और फिलौर के बड़े बाग़ में दीवान की समाधि बनाई गई, जो अब तक उपस्थित है। महाराजा ने दीवान के बेटे मोतीराम को दीवानी की उपाधि प्रदान की और उसके पिता की जागीर पर उसे बनाए रक्खा। मोतीराम के होनहार नवयुवक पुत्र रामदयाल को दीवान मुहकम चंद की जागीरदारी सेना का अफसर नियुक्त किया। दीवान मुहकम चंद की सेवाओं की प्रशंसा करते हुए सर लैपल ग्रिफन लिखता है कि महाराजा के जरनैलों में दीवान मुहकम चंद सब से अधिक योग्य था। काफी हद तक यह उसी की वीरता, साहस तथा सैनिक सूझ-बूझ का परिणाम था कि रणजीतसिंह पञ्जाब में एक विशाल राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

ब्रिटिश सरकार का दूत

इस के थोड़े दिनों बाद अंग्रेजी सरकार के दूत, अब्दुलनबी खाँ और राय मंद सिंह लाहौर आए और गवर्नर-जनरल की ओर से मूल्यवान् भेंट महाराजा के सम्मुख प्रस्तुत की। महाराजा ने उन्हें अपने यहाँ अतिथि रक्खा, खूब आदर-सत्कार किया, और गवर्नर-जनरल और सर डेविट अक्तरलोनी के लिए मूल्यवान् भेंटें उन के साथ वापस भेजीं।

ग्यारहवाँ अध्याय

युद्धों का क्रम और मुल्तान विजय
(सन् १८१५—१८१८ ई०)

ब्रिटिश-गोरखा युद्ध—सन् १८१४ से १८१६ ई० तक

१८१४ से १८१६ ई० तक अंग्रेज़ों और गोरखों में लगातार युद्ध चलता रहा। आरंभ में ब्रिटिश सेना की एक-दो बार हार हुई। इस अवसर पर दरबार नैपाल का एजेंट पृथ्वी विलास महाराजा के पास अंग्रेज़ों के विरुद्ध सहायता के लिए आया, परंतु रणजीतसिंह ने स्पष्ट इन्कार कर दिया। एजेंट निराश होकर चला गया। अतएव उसी समय महाराजा ने फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन को करनल अक्तरलोनी के पास लुधियाना भेजा कि यदि आपको मेरी सहायता की आवश्यकता हो तो मैं उपस्थित हूँ। इसी आशय का संदेश गवर्नर-जनरल को भी भेजा गया।

सुधारों की आवश्यकता

कश्मीर के युद्ध में महाराजा को स्पष्ट रीति से यह मालूम हो गया कि उस की सेना में बहुत से सुधारों की आवश्यकता है। अतएव महाराजा ने तुरंत इस ओर ध्यान दिया। बहुत सी नई सेना भरती की गई, जिस में दो गोरखा पलटनें भी सम्मिलित थीं। कई और सुधार भी किये गये।

दीवान गंगाराम और पंडित दीनानाथ

पहले इस का वर्णन किया जा चुका है कि दीवान भवानी दास ने माल विभाग का अत्युत्तम प्रबंध किया था, और प्रति वर्ष की आय व व्यय के नियम-पूर्वक हिसाब का क्रम प्रचलित किया था।[1] अतएव महाराजा इस बात का बहुत इच्छुक था कि इस प्रकार के और विद्वान् लोग भी उस के यहाँ नौकर रहें। उन दिनों महाराजा का राज्य बड़े वेग से विस्तार पा रहा था। आय और व्यय के साधन नित्य वृद्धि पा रहे थे। व्यय की मदें बढ़ रही थीं। अतएव महाराजा ने दीवान गंगाराम कश्मीरी पंडित को दिल्ली से बुला भेजा। दीवान की योग्यता की ख्याति महाराजा तक पहुँच चुकी थी। दीवान गंगाराम सनीचर के दिन, ६ मई १८१३ लाहौर पहुँचा। दरबार में महाराजा की सेवा में हाजिर हुआ, सोने की एक मोहर, पाँच रुपया तथा इत्र की एक बोतल भेंट की। दीवान के पद पर नियुक्त होते ही फ़ौज-विभाग के हिसाब-किताब को सँभाला। दीवान के पास काम की इतनी भरमार थी कि वह उसे अकेला न निपटा सकता था, अतएव महाराजा ने उसे दो वर्ष बाद यह आज्ञा दी कि वह किसी आदमी को अपनी सहायता के लिए नायब के रूप में नियुक्त कर ले। दीवान गंगाराम ने पंडित दीनानाथ को बुला लिया जो बाद में बहुत योग्य और कुशल कर्मचारी प्रमाणित हुआ, और धीरे-धीरे माल-विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी नियुक्त हुआ, दीवान की उपाधि प्राप्त की और बाद में राजा के नाम से निर्वाचित हुआ।

---

[1] सिख शासन काल के १८१२ से लेकर १८४६ ई० तक के समस्त काग़ज़-पत्र पंजाब गवर्नमेंट के रेकार्ड आफ़िस में मौजूद हैं, जिन्हें लेखक ने १९१५-१९ में संपादित किया था, और उन की विस्तृत सूची अंग्रेज़ी भाषा में दो जिल्दों में प्रकाशित की थी। पंजाब के बँटवारे के बाद यह रिकार्ड अब शिमले में लाकर रखा गया है।

राजौरी व भिंबर का युद्ध—सन् १८१५ ई०

पिछले वर्ष महाराजा की सेना कश्मीर के युद्ध में विशेष सफलता न प्राप्त कर सकी थी। इस लिए पहाड़ी प्रदेशों के राजा भी विमुख होने लगे। अतएव वर्षा ऋतु के अंत में अक्तूबर मास के आरंभ होते ही सरदारों के नाम आज्ञा-पत्र निकल गए कि वह अपनी-अपनी सेना ले कर स्यालकोट में उपस्थित हों। वहाँ उन्हें राजौरी, भिंबर और पीर पंजाल के संपूर्ण पहाड़ की तलहटी के इलाक़ों को विजय करने की आज्ञाएँ मिलीं। राजौरी व भिंबर काश्मीर पर आक्रमण के लिये महत्वपूर्ण स्थान थे। महाराजा ने इन राजाओं को दण्ड देना आवश्यक समझा। इस के साथ ही यह विचार भी उत्पन्न हुआ कि यदि सम्भव हो तो उन्हें सम्पूर्णतया जीत कर उनके प्रदेशों को अपनी राजधानी लाहौर में मिला लिया जाय ताकि बाद में काश्मीर की वादी पर अधिकार करने में कठिनाई पेश न आये। सरदारों को स्यालकोट से कूच करा कर महाराजा स्वयं वज़ीराबाद के रास्ते चल पड़ा। राजौरी का राजा 'उगर ख़ाँ रणजीतसिंह के इरादे से बेख़बर न था। उस ने सर्वत्र रास्तों और दर्रों पर अपनी फ़ौज के छोटे छोटे टुकड़े नियुक्त कर दिए और आप राजौरी के क़िले में रक्षार्थ ठहरा। यह क़िला एक ऊँची चोटी पर स्थित था अतएव ख़ालसा सेना को क़िला विजय करने में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। अंत में उन्हें एक उपाय सूझा वह यह कि आठ तोपें बड़े बलवान् हाथियों पर लादकर क़िले के सामने से गोलाबारी आरंभ कर दी; और क़िले की दीवार छलनी कर दी। अब तो उगर ख़ाँ के होश उड़े और समय लाभ करने की इच्छा से संधि की बात-चीत आरंभ कर दी। इसी बीच में अवसर पाकर वहाँ से वह निकल भागा और अपने दूसरे क़िले कोटली में जा कर पनाह ले ली। महाराजा के वीर सरदारों, दीवान राम दयाल, फूला सिंह अकाली और हरी सिंह ने राजौरी के क़िले पर अधिकार कर लिया। अब सिख सेना कोटली की ओर बढ़ी, और उगर ख़ाँ को भगा दिया। इस तरह महाराजा का राजौरी के इलाके पर अधिकार हो गया। इस के बाद इसी प्रकार भिंबर के क़िलों पर भी महाराजा का अधिकार हो गया, और दोनों पहाड़ी राजाओं को लाहौर में रहने की आज्ञा मिली।[1]

नूरपूर और जसवाँ का दमन—जनवरी सन् १८१६ ई०

एक वर्ष से अंग्रेजों और गोरखों में युद्ध चल रहा था, अंग्रेजों की फौज का एक दस्ता अमर सिंह थापा का पीछा करने और उस की रसद की सामग्री के रास्ते बन्द करने के लिए बिलासपुर तक आ पहुँचा और राजा 'बिलासपुर से बात चीत आरम्भ कर दी। रणजीतसिंह ने नीति इसी में समझी कि वह अपना प्रभुत्व, यदि कांगड़ा के पहाड़ी राजाओं पर पूरी योग्यता से जमा लेवे तो उस के लिये बेहतर होगा कि अंग्रेजी-गोरखा युद्ध के बाद उसे किसी प्रकार की कठिनाई पेश न आवे चुनांचे राजा बीर सिंह नूरपुरिया से कर की रकम माँगी गई जो उस ने बहुत समय से अदा नहीं की थी। अंत में, विवश हो कर जनवरी सन् १८१६ ई० में बीरसिंह दरबार में उपस्थित हुआ और क्षमा चाही। अपने आप को नज़राने की भारी रक़म अदा कर सकने में असमर्थ प्रकट किया। महाराजा ने उसे अपनी रियासत को छोड़ देने को कहा। अतएव वह इस पर राज़ी हो गया। महाराजा ने उसे उचित जागीर प्रदान की और नूरपूर में सिक्खों का थाना स्थापित हो गया।

---

[1] इस संबंध में मुनशी सोहन लाल लिखते हैं कि क़िला कोटली पर अधिकार करने में एक राजपूत जागीरदार की स्त्री मुसम्मात बीबी से महाराजा की सेना को बड़ी सहायता मिली—'उम्दतुत्तवारीख़' द० २ पृ० १८२।

नूरपूर के बाद दूसरे पहाड़ी इलाका जसवाँ की बारी आई। इस इलाके में दो-तीन मज़बूत क़िले थे, जिन पर बहुत दिनों से महाराजा की दृष्टि थी। अतएव राजा जसवाँ को भी नज़राने की रक़म न अदा कर सकने के कारण रियासत से अलग किया गया और उसे दस हज़ार की मालियत की जागीर प्रदान हुई।

इस प्रकार धीरे-धीरे कांगड़ा की संपूर्ण छोटी-छोटी रियासतें महाराजा के अधिकार में आ गईं। कुछ राजे नियमित रूप से कर देने वाले बना लिये गये और कुछ के इलाके लाहौर सल्तनत में सम्मिलित किए गये। क़िला कांगड़ा जो घाटी की नाक था महाराजा के अधिकार में पहले आ चुका था। राजा संसार चंद जो पहले अपने राज्य को विस्तार देने में उत्साह से लगा था, इस समय तक महाराजा रणजीतसिंह का करद बन चुका था। इस प्रकार चार वर्ष के अन्दर अन्दर कांगड़ा की घाटी पर महाराजा का पूर्ण अधिकार जम गया।

बहावलपूर का दौरा – मार्च सन् १८१६ ई०

सन् १८१६ के आरम्भ में मौसम के खुलने पर महाराजा ने सेना के बख्शी के नाम आज्ञा भेजी कि एक बड़ी मात्रा में सेना के लिए रसद व ढोने की सामग्री का प्रबन्ध किया जाय। क्योंकि इस बार महाराजा स्वयं बहावलपूर, मनकेरा, मुलतान तथा झंग इत्यादि रियासतों की ठीक शक्ति का अनुमान करना चाहता था। वह इन से कर तो कई बार प्राप्त कर चुका था और इनके शासक समय की आवश्यकता का अनुभव करते हुए उस का आधिपत्य भी स्वीकार कर लेते थे, किन्तु उसके लौट जाने पर अपने वचनों से फिर भी जाते थे। अतएव इस वर्ष महाराजा ने अपना ध्यान उस ओर दिया, और एक बड़ी सेना मिश्र दीवान चंद के नेतृत्व में, जो योग्यता में दीवान मुहकम चंद का स्थान ले रहा था, बहावलपूर की तरफ़ भेजी। सिख सेना के आने का हाल सुन कर नवाब ने अपने वकील सूबा राय और किशन दास द्वारा महाराजा के साथ पत्र-व्यवहार आरंभ कर दिया और नया प्रतिज्ञापत्र लिख दिया, जिस से ७० हज़ार रुपया सालाना कर-रूप में देना स्वीकार किया और उसी समय ८० हज़ार रुपया देने का वादा किया, जिसे वसूल करने के लिए विश्वस्त अफ़सर नियुक्त किए गए।

मुल्तान का घेरा

मिश्र दीवान चंद को आज्ञा मिली कि यहाँ से मुल्तान की तरफ़ कूच करो, और तलंबा मौज़े में पड़ाव करो। उस स्थल पर महाराजा भी उस से आ मिला। मुल्तान के नवाब का वकील मूल्यवान् उपहार लेकर महाराजा के पास पहुँचा। महाराजा ने कर की कुछ पिछली रक़म माँगी, जो एक लाख से कुछ अधिक थी। वकील ने तत्काल केवल चालीस हज़ार देने का वादा किया। महाराजा ने अपनी सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दी। मिश्र दीवान चंद ने अहमदगढ़ के क़िले का घेरा डाल दिया, जिस पर ख़ालसा सेना ने अधिकार कर लिया।

इस के बाद तिरमूं घाट पर चिनाब नदी पार कर के महाराजा ने सालारवाँ के निकट ख़ेमा डाला, और फ़ौज का एक टुकड़ा मुल्तान भेजा। प्रसिद्ध अकाली सरदार फूला सिंह का निहंग सिपाहियों का दस्ता भी इस में सम्मिलित था। यह लोग नितांत निडर और योद्धा सिपाही थे। अतएव शहर के आस-पास लूट-मार और नाश का बाज़ार गर्म हुआ। एक दिन जोश में आकर फूला सिंह के दस्ते ने नगर की दीवार पर धावा बोल दिया। नवाब ने संधि करना ही नीति के अनुकूल समझा। ८० हज़ार रुपया तुरन्त दिया, और शेष दो मास के भीतर देने का वचन दिया।

मनकेरा इलाक़े का दौरा—अप्रैल सन् १८१९ ई०

मुल्तान से छुट्टी पाकर महाराजा ने मनकेरा इलाक़े की ओर ध्यान दिया। अभी राजा की सेना मनकेरा पहुँची ही थी कि नवाब मुहम्मद ख़ाँ की अचानक मृत्यु हो गई। शेर मुहम्मद ख़ाँ ने नवाबी सँभाली। चुनांचे अब नये नवाब के साथ वार्षिक कर के संबंध में बात-चीत आरम्भ हुई नवाब का वकील रायजादा पिंडी दास महाराजा की सेवा में हाज़िर हुआ। महाराजा ने एक लाख २० हज़ार रुपए की माँग की। रायजादा अपने स्वामी नवाब का हितैषी था। उस ने देखा कि इस कदर रुपया एक दम खजाने से निकलना असंभव है, अतएव नवाब को यह सम्मति दी कि इस समय तो आई बला टल जावे पीछे देखा जावेगा। चुनांचे कर की रक़म स्वीकार कर ली परन्तु इस शर्त पर कि महाराजा चालीस हज़ार लेकर वापस चले जावें और बाकी रकम दो किश्तों में तीन महीने के अन्दर अदा कर दी जावेगी। मई का महीना और गरमी का मौसम शुरू हो चुका था। चुनांचे ४०००० रुपया वसूल कर के महाराजा लाहौर वापस आया।

झंग रियासत की राज्य प्राप्ति—मई सन् १८१६ ई०

छोटी-छोटी इसलामी रियासतों में से जो कि प्रारंभ में सिख वशवर्ति स्थानों के गिर्द एक घेरा बनाये बैठी थीं, कई एक तो पराजित होकर लाहौर राज्य का अंश बन गईं, अर्थात् खुशाब, कसूर तथा साहिवाल के नवाब महाराजा के जागीरदारों में गिने जाने लगे, किन्तु मिठा टिवाना का नवाब अहमद यार खां और झंग के सियाल वंश का सरदार अहमद खाँ अभी तक अपनी सरदारी को बनाये हुए थे। चुनाँचे मनकेरा से निवृत्त होकर महाराजा ने अपना ध्यान उन की ओर फेरा। इस भावना से महाराजा ने चनाब नदी को त्रिम्मू घाट के स्थान पर पार किया और झंग के इलाके में प्रवेश किया। नवाब अहमद खाँ ने कई वर्षों से लाहौर दरबार को कर भेजना बन्द कर रखा था। चुनांचे महाराजा ने गत वर्षों के शेष धन की माँग की। किन्तु नवाब ने अपनी विवशता प्रकट की। रणजीतसिंह अवसर की ताक में था। चुनाँचे नवाब अहमद खाँ को उस की रियासत से अलग करके झंग के सम्पूर्ण इलाके को जिस की वार्षिक आय लगभग चार लाख रुपये थी, लाहौर राज्य में मिला लिया।

ऊच और दायरा दीनपनाह

जब रणजीतसिंह झंग के मामलों में फँसा हुआ था तो सरदार फ़तेहसिंह अहलूवालिया ने ऊच इलाक़े की विजय के लिए प्रस्थान किया। और नवाब रजब अली शाह को परास्त करके उस के कोट और आस-पास के इलाक़े पर अधिकार कर लिया। ऊच के सज्जादानशील को उचित जागीर लगा दी गई और वहाँ फ़तेह सिंह ने महाराज का थाना स्थापित कर दिया। महाराजा अभी इस इलाक़े के प्रबंध से छुट्टी पाकर लाहौर लौटा ही था कि दायरा दीनपनाह का सरदार अब्दुस्समद ख़ाँ, नवाब मुज़फ़्फ़र ख़ाँ के हस्तक्षेप से तंग आकर, दीवान राम दयाल के साथ महाराजा के पास आया और शरणागत हुआ। महाराजा ने बड़े उत्साह से उस का स्वागत किया और मुबारक हवेली में जहाँ शुजाउलमुल्क रहा करता था ठहराया। महाराजा चाहता था कि नवाब अब्दुस्समद ख़ाँ उस के साथ रहे, क्योंकि महाराजा का ख्याल था कि शायद मुल्तान दमन करने में यह उपयोगी सिद्ध हो।

युवराज खड़क सिंह के हिसाब-किताब की पड़ताल

भया राम सिंह युवराज खड़क सिंह का बचपन से ही शिक्षक था। महाराजा ने शाहजादा को जागीर प्रदान कर रखी थी और वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, उसकी जागीर में भी वृद्धि होती गई। भया राम सिंह युवराज की जागीर की देख-भाल किया करता था और वही नाज़िम समझा जाता था। राम सिंह युवराज के साथ हर दम रहनेवाला मुसाहिब था। इसी लिए उस का कुँवर

के साथ बहुत व्यवहार था। महाराजा को संदेह हो गया कि भया राम सिंह अपने पद का अनुचित लाभ उठा रहा है। अतएव युवराज और उस के शिक्षक को एक दिन तीसरे पहर के दरबार में बुलवाया और भया राम सिंह से आय-व्यय का पूरा हिसाब माँगा। हिसाब में बहुत गड़बड़ थी। महाराजा को कुँवर की लापरवाही पर क्रोध आया और उसे झिड़क कर दरबार से बिदा किया और भया राम सिंह को नज़रबंद कर दिया। उस का सर्राफ़ उत्तम चंद अमृतसर से बुलाया गया जिस के हिसाब-किताब से मालूम हुआ कि राम सिंह के निजी खाते में चार लाख रुपया नगद जमा है, और उस के अतिरिक्त एक जवाहिरों की थैली एक लाख रुपये की उसी सर्राफ़ के पास मौजूद है। यह सब रुपया ज़ब्त कर लिया गया और राम सिंह अपने पद से अलग कर दिया गया।[1]

युवराज खड़क सिंह का राजतिलक

नवरात्र के दिनों में, अक्तूबर सन् १८१६ ई० में, महाराजा रणजीतसिंह ने बड़ी धूम-धाम से अपने बड़े बेटे युवराज खड़क सिंह का राजतिलक किया। महाराजा बड़ा होशियार था। वह अभी-अभी युवराज पर क्रुद्ध हुआ था, और उस के दीवान भया राम सिंह को अलग कर दिया था। अतएव रणजीतसिंह उसे प्रसन्न करना चाहता था। इस के अतिरिक्त उस की यह भी इच्छा थी कि जहाँ तक जल्दी संभव हो युवराज पर राज्य का भार डाला जाय। ताकि उसे अपने कर्तव्यों के पालन की आदत हो जावे। चुनांचे उसे युवराज का पद प्रदान किया गया। अनारकली के गुंबद के निकट खुले विस्तृत मैदान में ख़ेमे लगाए गए।[2] सभी अधिकारी गण खूब तड़क-भड़क की पोशाकें पहने दरबार में उपस्थित हुए। युवराज की सेवा में भेंटें प्रस्तुत कीं, और तीसरे पहर के दरबार के समय युवराज को नियम-पूर्वक आज्ञाएँ प्रचारित करने की नियुक्ति हुई। इसके पीछे महाराजा साहब युवराज को, अपने साथ हाथी पर बिठा कर बड़े मान से क़िले में ले आये।[3]

रामगढ़िया मिस्ल के अधीनस्थ इलाक़ों की प्राप्ति

सरदार जोध सिंह रामगढ़िया सितंबर सन् १८१५ ई० में मर चुका था। उस के उत्तराधिकार के लिए उस के उत्तराधिकारियों--दीवान सिंह, वीर सिंह और कर्म सिंह इत्यादि--में झगड़ा आरम्भ हो गया। एक ने दूसरे पर हस्तक्षेप आरम्भ किया व सरदार जोध सिंह की विधवा को भी तंग करने लगे। इस मिस्ल का अन्त करने के लिए रणजीतसिंह को यह स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। सब प्रतिस्पर्द्धियों को बुला कर लाहौर में नज़रबंद कर दिया और रामगढ़िया मिस्ल के विस्तृत इलाक़े को जिस में बटाला, कादियाँ, श्री हरगोविंद पुरा, और रियाड़की इत्यादि थे लाहौर राज्य में मिला लिया। इस की वार्षिक आय लगभग ४ लाख रुपये थी, और इस इलाक़े में एक सौ से अधिक क़िले थे। रामगढ़िया सेना लाहौरी सेना में मिला ली गई। जोध सिंह के उत्तराधिकारियों को ३० हज़ार की जागीर मिली।

शाहपुर, नूरपुर और मिठा टिवाना की राज्य-प्राप्ति

मिश्र दीवान चंद और सरदार दल सिंह को सन् १८१७ ई० में मिठा टिवाना के

---

[1] सोहनलाल द० २ पृष्ठ १६१। [2] इस मैदान में बाद में महाराजा के फ्रांसीसी-जनरल विंतूरा की सेना के लिए बारिकें बनाई गईं और आजकल यहाँ पर गवर्नमेंट सेक्रेटेरियट के दफ़्तर बने हुए हैं। देखिए मुनशी सोहन लाल की 'उम्दतुल्तवारीख़', दफ़्तर २, पृष्ठ १६२। [3] सैयद मुहम्मद लतीफ़ इस दरबार की तारीख ५ माघ लिखते हैं, और बाबा प्रेम सिंह ने अपनी पुस्तक में इस की तारीख़ १ वैशाख अंकित की है। मुनशी सोहनलाल के लेख के अनुसार यह दरबार, असूज के नवरात्र में किया गया था, देखो पृष्ठ १६२।

आक्रमण की आज्ञा हुई। अतएव सेना ने कुछ तोपख़ाने के साथ उधर को कूच किया परंतु टिवाना के सरदार अहमद यार ख़ाँ ने अपने आप को नूरपूर के सुदृढ़ क़िले में बंद कर लिया और मुकाबिले के लिए तैयार हो गया। ख़ालसा सेना ने क़िले को घेर लिया पर अहमद यार ख़ाँ वहाँ से बच निकला और मनकेरा इलाक़े में जा शरण ली। सरदार जोंद सिंह मोकल क़िले का थानेदार नियुक्त हुआ। अहमद यार ख़ाँ ने क़िला वापस लेने का प्रयत्न किया परंतु असफल रहा। महाराजा ने अहमद यार खाँ को जागीदार सरदार का पद प्रदान किया और साठ टिवाना सवार रखने के लिए उसे दस हज़ार रुपये की जागीर प्रदान की।

सरदार निहाल सिंह अटारीवाले का त्याग

सन् १८१७ ई० के ग्रीष्म ऋतु में एक बार महाराजा मौज़ा वीनेकी में शिकार खेलने गया और वहाँ पर कुछ थोड़ी-सी लापरवाही की वजह से बीमार हो गया। लाहौर में आकर बीमारी बढ़ गई। एक रोज़ अचानक महाराजा के जीवन के लिए अमीरों और सचिवों को भय उत्पन्न हो गया। सर लैपेल ग्रिफ़ेन अपनी पुस्तक 'पञ्जाब चीफ़्स' में लिखते हैं कि अटारीवाले वंश में यह कहावत प्रसिद्ध है कि जिस समय महाराजा की हालत चिंताजनक थी और अमीर लोग भयभीत हो रहे थे तो सरदार निहाल सिंह अटारीवाले ने वफ़ादारी और नमकहलाली की एक अनुपम मिसाल दिखाई। महाराजा के पलँग के चारों ओर तीन बार फिरा, सच्चे दिल से प्रार्थना की और ऊँचे स्वर से कहा कि मेरी शेष उम्र सिख राज की उन्नति के लिए महाराजा को मिले और उस का रोग मुझे मिल जाय। उस की प्रार्थना स्वीकृत हुई। महाराजा का रोग घटना आरंभ हुआ और सरदार निहाल सिंह बीमार पड़ गया। कुछ दिन में रणजीतसिंह बिल्कुल अच्छा हो गया और सरदार निहाल सिंह इस संसार से बिदा हुआ।[1]

भया राम सिंह की क़ैद से मुक्ति

शाहज़ादा खड़कसिंह के शिक्षक भया राम सिंह जो पिछले साल शाहज़ादा का रुपया उड़ा देने के दण्ड में क़ैद किया गया था, इस वर्ष मुक्त कर दिया गया। ऐसे बीसों उदाहरण हैं कि महाराजा ने अपने अफ़सरों और अधिकारियों को दण्ड देकर बाद में क्षमा प्रदान किया। उस के दंड का उद्देश दोषी मनुष्य का सुधार होता था न कि किसी प्रकार का कीना। महाराजा हाथ आए योग्य व्यक्ति को खोना न चाहता था पर उस की बुरी आदतें दूर कर के उस की सेवा से लाभ उठाना चाहता था। अतएव २७ अगस्त सन् १८२७ ई० को भया राम सिंह को दरबार में बुलाया, उसे मूल्यवान ख़िलअतें दीं। उस के मकान से चौकी और पहरा हटा लिया और उसे रामगढ़िया इलाक़े का नाज़िम नियुक्त किया।

हज़ारा का युद्ध

जिस दिन से महाराजा का अधिकार अटक और उस के आस-पास के इलाके पर हुआ था उसी दिन हज़ारा का शासक मुहम्मद ख़ाँ पाँच हजार रुपये वार्षिक महाराजा को देता था, परन्तु इस साल सरदार हुकमा सिंह चमनी क़िलेदार अटक ने मुहम्मद ख़ाँ से पाँच हजार के

---

[1] यह कहानी पढ़ कर हमें बाबर और हुमायूँ वाला क़िस्सा याद आता है। जिससे हमारा तात्पर्य यह है कि ऐसी बातों में लोगों का विश्वास अवश्य था। हम नहीं कह सकते कि यह घटना कहाँ तक ठीक है क्योंकि 'उम्दतुलतवारीख़' और 'ज़फ़र नामा रणजीतसिंह' में इस की कोई चर्चा नहीं आती। मुनशी सोहन लाल और दीवान अमर नाथ दोनों महाराजा की इस बीमारी का हाल लिखते हैं और दूसरी जगह सरदार निहाल सिंह की मृत्यु का हाल भी लिखते हैं। बलिदान के ऐसे ऊँचे उदाहरण का उन से छिपा रहना संभव न था।

स्थान पर पचीस हजार रुपये माँगे। मुहम्मद खाँ ने यह रक़म देने से इन्कार कर दिया, इस कारण मुहम्मद ख़ाँ से युद्ध आरम्भ हो गया। लाहौर से सेना भेजी गई, जिसमें फूला सिंह अकाली का प्रसिद्ध निहङ्ग दस्ता भी सम्मिलित था। इस युद्ध में फूला सिंह ने बड़ी वीरता दिखाई। मुहम्मद ख़ाँ युद्ध में मारा गया। हजारा की सरदारी उस के पुत्र सैयद अहमद ख़ाँ को प्रदान की गई। वार्षिक भेंट की रक़म बढ़ा दी गई।

मुल्तान पर आक्रमण—सन् १८१७

सन् १८१७ ई० के आरंभ में महाराजा ने एक टुकड़ा सेना का मुल्तान नवाब से नज़राने का रुपया वसूल करने के उद्देश से भेजा। महाराजा यह जानता था कि नवाब नजराना अदा करने में हीला-हवाला करेगा और बाद में अधिक सेना भेजी जायगी। महाराजा इस वर्ष मुल्तान विजय करने पर तुला हुआ था। अतएव ऐसा ही हुआ। पीछे से बहुत बड़ी सेना मुल्तान भेजी गई। और रसद व शस्त्र भेजने का पूरा इंतजाम कर दिया गया। इस सेना ने मुल्तान शहर का घेरा डाल दिया, और नगर की रक्षा की दीवार पर गोलाबारी आरंभ कर दी। दीवार के दो-तीन बुर्ज भी गिरा डाले और उसमें कई स्थलों पर शिगाफ़ भी कर दिए। बराबर घेरा बना रहता तो मुल्तान पराजित हो जाता। परन्तु फ़ौज के नायकों की असावधानी से असफलता रही।[1]

सेना का प्रस्थान

परंतु महाराजा जिसे प्रकृति ने इतना बलशाली हृदय और दृढ़ निश्चय प्रदान किया था कब इन सरदारों की लापरवाही के कारण हार मानने वाला था। वह इस बार मुल्तान विजय करने का निश्चय कर चुका था और कठिन से कठिन स्थितियों को सहन करने के लिए तैयार था। तुरन्त उसने अपना सारा ध्यान मुल्तान की ओर देना आरंभ किया। २५ हजार नौजवानों की बलशाली सेना युवराज खड़क सिंह के नेतृत्व में भेजी। वास्तव में मिश्र दीवान चंद सेना के नेतृत्व में था। क्योंकि यह व्यक्ति फ़ौज-संबंधी सूक्ष्म बातों को भली-भाँति समझता था। परंतु महाराजा को संदेह था कि कहीं उस के सिख सरदार दीवान चंद की अधीनता में काम करने में आपत्ति न करें। इसी लिए नेतृत्व प्रकट रूप से युवराज खड़क सिंह को दिया था।

महाराजा की तैयारियाँ

महाराजा स्वयं युद्ध की तैयारियों में उत्साह के साथ लगा हुआ था। अस्त्रादि तथा रसद युद्ध के लिए भेजने के हेतु रावी, चेनाब, और जेहलम नदियों के विभिन्न घाटों पर तमाम नावें विशेष कार्य के लिए सुरक्षित कर ली गई थीं। उन पर सरकारी पहरेदार नियुक्त किये गये। इलाक़ों के कारिंदों के नाम ग़ल्ला और बारूद के लिए आवश्यकीय परवाने जारी कर दिए गए। बड़े-बड़े अफ़सर इस कार्य पर नियुक्त किए गए कि वह स्वयं युद्ध के सामान इकट्ठा कर के अपने निरीक्षण में नावों में भरवा कर मुल्तान भेजें। बड़ी अर्थात् भंगियों की तोप जिस में एक मन पक्के वज़न का गोला पड़ता था अमृतसर से मँगवाकर मुल्तान भेजी गई। फ़ौज के अपने बेलदारों के अतिरिक्त पाँच सौ अतिरिक्त बेलदार मोर्चा सजाने और सुरंगें खोदने के लिए मुल्तान भेजे गए। डाक भेजने का पक्का प्रबंध किया गया। सैकड़ों हरकारे थोड़ी-थोड़ी दूरी पर नियुक्त किए गए, जो मुल्तान की डाक दिन में कई बार लाहौर पहुँचाते थे। महाराजा स्वयं सेना-

---

[1] दीवान अमरनाथ 'ज़फ़रनामा रणजीतसिंह' में लिखते हैं कि दीवान भवानी दास ने, जो घेरे का नेता था, नवाब मुज़फ़्फ़र ख़ाँ से दस हजार रुपये रिश्वत लेकर काम ख़राब कर दिया था।

नायकों के लाभ के लिए विस्तृत आज्ञाएँ भेजता रहता था। इस प्रकार महाराजा को प्रति क्षण यह मालूम रहता था कि मुल्तान के घेरे का क्या हाल है, और वहाँ किस प्रकार सहायता पहुँचाई जा सकती है।

मुल्तान का घेरा

महाराजा के निर्देश के अनुसार ख़ालसा सेना ने छोटी-सी लड़ाई के अनंतर नवाब के चनाब नदी के पार के दो क़िलों, ख़ानगढ़ और मुज़फ़्फ़रगढ़, पर अपना अधिकार कर लिया और वहाँ से मुल्तान नगर की ओर मुँह किया, और शहर का घेरा डालने का प्रयत्न किया। मुल्तान का नवाब भी इस बार सामना करने के लिए पूरी तरह से तैयार था। उस ने आस-पास के इलाक़े में अपने आदमी भेज कर ख़ूब धार्मिक जोश फैलाया और बीस हजार से अधिक ग़ाज़ी नवाब के झण्डे के नीचे आकर जमा हो गए। इस के अतिरिक्त उस ने मुल्तान का दुर्ग भी ख़ूब दृढ़ कर लिया था। जब सिख सेना मुल्तान के निकट पहुँची तो नवाब सामना करने के लिए आया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। दिन भर की लड़ाई के बाद मैदान खालसा के हाथ आया और नवाब अपने दल सहित शहर की चारदीवारी के भीतर शरणागत हुआ।

दूसरे दिन दीवान मोती राम ने अपनी सेना के साथ शहर का घेरा डाल दिया। नवाब अपने बेटों सहित एक भारी सेना लिए हुए नगर को हर तरफ से बचाने के लिए तत्पर था। कई दिन तक दोनों फ़ौजों का सामना बना रहा। ख़ालसा ने शहर के चारों तरफ भिन्न-भिन्न स्थलों पर बारह मोर्चे गाड़ दिए और वहाँ से तोपों, रहकलों और घुड़नालों से शहर की दीवार पर गोलाबारी आरंभ की, जिसका परिणाम यह हुआ कि दीवार में दो स्थलों पर छोटे-छोटे दरारे हो गये। सिख जोश के साथ भीतर प्रवेश करने लगे, परंतु अफ़ग़ानों की गोलियों के सामने उन की कुछ न चली और उन्हें पीछे हटना पड़ा। इस के बाद दीवार के नीचे गड्ढे खुदवा कर उन में बारूद भर दी गई, जिस के धमाके से दीवार के एक-दो बुर्ज और ऊपर का भाग गिर गया। परंतु नवाब की सेना बड़े साहस से सामना करने पर डटी रही और किसी सिख को भीतर न प्रवेश करने दिया। अंत में कई दिनों के बाद एक दिन शहर पर गोलाबारी की गई और बड़ी रक्तपात की लड़ाई हुई जिस में नवाब को हारना पड़ा और उसने क़िले में जा कर शरण ली।[1]

क़िले का घेरा

सिखों ने अब क़िले के सामने मोर्चे लगा दिए, और क़िले की दीवार पर गोलाबारी आरंभ की। मुल्तान का क़िला अपनी दृढ़ता के लिए सुप्रसिद्ध था, और उसका पतन असंभव समझा जाता था। यह एक ऊँचे पुश्ते पर स्थित था और उस के नीचे रक्षा के भाव से एक गहरी और चौड़ी खाई बना रखी थी। आरंभ में सिख तोपों का क़िले पर कुछ असर न हुआ। ख़ालसा ने एक-दो बार धावा करने का यत्न भी किया। परंतु वह भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। मार्च का सारा महीना इसी प्रकार व्यतीत हो गया परंतु अप्रैल के आरंभ में भंगियों वाली बड़ी तोप पहुँच गई, जिससे क़िले की दीवार में दो जगहों पर दरारे हो गये।

---

[1] गनेश दास पिंगल नामक तत्कालीन कवि ने हिंदी भाषा में मुल्तान के युद्ध का वर्णन विस्तार से किया है। देखो फतहनामा गुरु खालसा जी का :—

(१) सब सिंहन मन कोप करि मोरचे लाये चौफेर।
छियापट ऊटाकरी, मुल्तान लियो बिच घेर।

(२) मोरचे लगाए, लड़े अति ही रिसाए, बड़े जोर सो अज़ाए, कहे तुर्क दियो मार के।
सुरहिंगां सो चलावे, ताँ में दारू बहुत पावे, धूर कोट को उड़ावे, करे जुद्ध बल धार के।
तोपां सों चलाये, बड़े क़ीरे तह पाये, मारे तुर्क अरराय, कहे रहे लोहा सार के।

(३) साधू सिंह जो निहंग, तिन कीनो बड़ो जंग, मारे तीर सो तोफ़ंग, कहे ऐसे ही जुझार के।

संधि की बातचीत

नवाब कुछ घबराया और संधि की बातचीत करने के लिए अपने वकील खड़क सिंह के पास भेजे। दो लाख रुपया नक़द भेंट करना चाहा और अपने बेटे के नेतृत्व में तीन सौ सवार महाराजा की सेवा में प्रस्तुत करने का वचन दिया। अतएव यह प्रस्ताव महाराजा के कानों तक पहुँचाया गया। रणजीतसिंह ने उत्तर में लिखा कि हमें तो क़िला लेना ही मंज़ूर है। यदि नवाब क़िला खाली कर दे तो उसे उचित जागीर प्रदान की जायगी और उस के रहने के लिए उस का दूसरा क़िला कोट शुजाआबाद दिया जायगा। अतएव यही समाचार नवाब को भेजा गया। नवाब ने अपनी स्वीकृत प्रकट की और जमीयत राय, सैयद मुहसन शाह, गुरु बख्श राय, और अमीन ख़ाँ नामी वकीलों को नियमानुसार संधि के लिए शाहज़ादा के पास भेजा और प्रार्थना की कि कोट शुजाआबाद और क़िला खानगढ़ उन के साथ के इलाक़ों सहित नवाब को गुज़ारे के लिए प्रदान किए जावें, तो क़िला मुल्तान और मुज़फ़्फ़रगढ़ महाराजा के अधीन कर दिये जायँगे। अतएव खड़क सिंह ने दीवान भवानी दास, पंजाब सिंह, और क़ुतुबुद्दीन को ख़ाँ के पास समझौता करने के लिए भेजा।

समझौते में अचानक परिवर्तन

जब इन सब बातों का समाचार महाराजा को लाहौर भेजा गया तो उस की ख़ुशी की कोई सीमा न रही। शहर में तोपों की सलामी सर हुई। रात को जगह-जगह पर रोशनी की गई।[1] परंतु जब समझौते का समय आया तो नवाब के सलाहकारों और भाई-बंदों ने उस कायरता के कर्म पर उसे बुरा भला कहा और कहा कि ऐसी दासता के जीवन से मृत्यु अच्छी है। साथ ही उस का हौसला बढ़ाया कि हम लड़ने मरने को तैयार हैं, और कहा कि सिखों की क्या मजाल है जो हमारे जीते जी क़िले पर अधिकार करे। अतएव नवाब ने क़िला खाली करने से इन्कार कर दिया और महाराजा के वकील असफल वापस आये।[2]

क़िले की विजय

जब महाराजा को यह समाचार मिला तो उस ने तुरंत जमादार ख़ुशहाल सिंह को मुल्तान भेजा और सेना के सरदारों से यह कहलाया कि यदि इतनी बड़ी सेना, युद्ध के सामान, और पूरी तैयारियों के होते हुए भी क़िला विजय न हो सका तो यह बात उनकी प्रतिष्ठा के बिल्कुल विपरीत होगी और मेरे लिए लज्जा का कारण होगी। इस के अतिरिक्त ख़ालसा साम्राज्य पर बड़ा कलंक लगेगा। रणजीतसिंह का यह निर्देश पहुँचते ही ख़ालसा सेना को बहुत जोश आया, और उस ने फिर घेरा डाल दिया। सिख सेना के दलों ने भिन्न-भिन्न ओर से आगे बढ़ना आरंभ किया और शत्रु की बरसती हुई आग को चीरते हुए क़िले की खाई के निकट जा पहुँचे, और वहाँ मोर्चे गाड़ दिये। इस जगह बहुत से सिख जवान मारे गये। अंत में तोपों और गुब्बारों की लगातार गोलाबारी के कारण क़िले के बाहरी दरवाज़े के साथ की दीवार में दो भारी दरारें हो गये। मगर

---

[1] सोहनलाल भाग २, पृ० २१७, क़ादिर बख्श और दीवान भवानी दास के नवाब के पास समझौते के लिए जाने के संबंध में गनेश दास अपने छंदों में लिखता है—

भवानी दास को भेजिए बड़ो सुजान वकील।
क़ादिर बख्श भी साथ तेहं, पठइये कीन दलील।

[2] अंग्रेज़ी में लिखने वाले लगभग सभी इतिहासकारों ने इस घटना को छिपाया है। देखिए सोहन लाल द० २ पृ० २१७। गनेश दास भी इस घटना की ओर संकेत करता है—

नहिं तो सुन भाई, युद्ध करांगे मचाई, सेना जोर चढ़ आई, सूईं मारेंगे बटोर के।
मेरी तलवार धार, लागै जब एक बार, मरेंगे हज़ार सिंह, देखिए सेजोर के।

बहादुर नवाब यहाँ शीघ्र ही आ पहुँचा और रेत से भरी हुई बोरियाँ चुनवा कर दरारों को भरवा दिया। परंतु बड़ी तोप के एक-दो गोलों के पड़ने पर यह बोरियाँ गिर गईं।

ख़ालसा ने इस अवसर को हाथ से न जाने दिया। ख़ालसा सेना ने इस समय में अपने मोर्चों से लेकर खाई तक एक सुरंग तैयार कर ली थी, जिस के रास्ते से कुछ शहीदी दस्ते खाई तक पहुँचने में सफल हो गये। एक ओर अकालियों का एक छोटा-सा दल अपने बहादुर सरदार साधु सिंह के नेतृत्व में और दूसरा द्राबिये सवारों का दल अपने वीर सेनापति फतह सिंह दत्त के अधीन आगे बढ़ा और खाई के पार हो कर दरार के निकट पहुँच गया।[1] वहाँ से विजय-घोष आरंभ हो गया। उनकी ऐसी वीरता देख बाकी सेना के दिल में बड़ा उत्साह उत्पन्न हुआ और सैकड़ों सिख नवयुवक खाई में कूद पड़े! और कमन्दें लगा कर दूसरे पार उतरना शुरू कर दिया। ज्योंही यह कार्य आरंभ हुआ, सैनिकों और बेलदारों ने मिलकर खाई को मिट्टी और घास-फूस से भरना शुरू कर दिया। शीघ्र ही खालसा सेना के लिए रास्ता साफ हो गया। किन्तु वीर पठानों ने साहस न छोड़ा और खाई की दूसरी ओर से सिख आक्रमणकारियों पर गोलियों की मूसलाधार वर्षा शुरू कर दी, जिस से सैकड़ों युवकों को जान से हाथ धोना पड़ा। परंतु अंत में खालसा ने खाई को पार कर ही लिया। यह लोग क़िले के भीतर प्रवेश करने ही वाले थे कि बहादुर नवाब अपने बेटों और साथियों समेत मौक़े पर आ पहुँचा। तलवार नंगी कर के दरार पर खड़ा हो गया और ऐसी शूरता प्रदर्शित की कि बैरी भी चकित रह गये। वह युद्ध करता हुआ दो बेटों और एक भतीजे समेत वहीं मारा गया।

क़िले पर अधिकार

नवाब के हत होते ही ख़ालसा सेना क़िले के भीतर प्रविष्ठ हुई, और उसने क़िले पर अधिकार कर लिया। नवाब के छोटे बेटे सरफ़राज़ ख़ां और जुल्फ़िक़ार ख़ां जीवित क़ैद कर के लाहौर लाये गये। महाराजा ने उन का आदर किया। उन्हें शरकपूर की जागीर प्रदान की, जो बहुत दिनों तक उन के अधिकार में रही। इस विजय की ख़ुशी में महाराजा ने बहुत उत्सव मनाया। सरदार फतेहसिंह अहलूवालिया का दूत महाराज के पास यह समाचार लाया था। महाराजा साहब ने उसे सोने के कड़ों की जोड़ी, पाँच सौ रुपये नक़द और ख़िलअत प्रदान की, और साहब सिंह अफ़सर हरकारा को जो मुल्तान की डाक का प्रबंधक था छः सौ रुपये नक़द प्रदान किये। स्वयं हाथी पर सवार होकर लाहौर के बाज़ार में चक्कर लगाया; रुपये-पैसे न्योछावर किये। नगर में रात के समय दीपमाला की गई।[2]

मुल्तान विजय की तिथि

मुल्तान विजय की तिथि मुनशी सोहन लाल ने इस प्रकार लिखी है—

दह हज़ार व हशत सद हफ़ताद व पंज।
फ़तेह शुद मुल्तान बाद अज़ सर्फ़ गंज।

---

[1] बाबा प्रेम सिंह ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि यह अकाली नेता साधु सिंह नहीं था वरन् प्रसिद्ध अकाली सरदार फूला सिंह था। साथ ही यह भी कहा है कि तमाम इतिहासकारों ने यह ग़लती की है। मेरी राय में बाबा प्रेम सिंह ही भूल कर रहे हैं और दूसरे इतिहास-लेखक ठीक हैं। मुनशी सोहन लाल और दीवन अमर नाथ साधु सिंह का ही नाम लिखते हैं। हमें यह बात नितांत असंभव जान पड़ती है कि सोहन लाल और अमर नाथ जो दरबार के वाकयानवीस थे किस प्रकार फूला सिंह जैसे प्रसिद्ध नेता के नाम के स्थल पर अपनी पुस्तक में साधु सिंह का नाम लिख देंगे। सच बात यह है कि इस बार फूलासिंह मुल्तान के युद्ध में सम्मिलित न था वरन् अटक की ओर नियुक्त था। हाँ, इससे पहले अवसर पर अवश्य फूला सिंह ने शूरता के चमत्कार दिखाए थे। गनेश दास भी इस संबंध में साधु सिंह के नाम की चर्चा करता है। [2] विस्तार के लिए देखिए सोहन लाल द० २, पृ० २२०। गनेश दास भी इस मुल-संवाद को लगभग इसी प्रकार लिखता है।

गनेश दास ने अपने छंदों में इसे इस प्रकार समाप्त किया है--

जेठ सुदी एकादशी फ़तेह कियो मुल्तान।
समत आठ दस जानिए और पछत्तर मान।[१]

क़िले की लूट

महाराजा जानता था कि क़िला मुल्तान में पठान बादशाहों के कई पीढ़ी के खजाने गड़े हुए हैं, जिन में अगणित दुर्लभ वस्तुएँ भी होंगी। वह नहीं चाहता था कि ऐसी अमूल्य वस्तुएँ उस के सैनिक लूट कर नष्ट कर दें। उस की इच्छा थी कि मुल्तान की तमाम अमूल्य वस्तुएँ रियासत के खजाने में रक्खी जायँ। क्योंकि इन पर रियासत का ही अधिकार है। अतएव सेना के सरदारों के नाम कठोर आज्ञाएँ प्रचारित कीं कि खजाना और तोशाखाने की प्रत्येक वस्तु महाराजा या किसी सरदार या सिपाही की संपत्ति नहीं है, वरन् लाहौर रियासत की निधि है, इस लिए कोई और व्यक्ति किसी वस्तु को अपने निजी व्यवहार में न लावे। वरन् लूट का सब माल सुरक्षित रूप में लाहौर दरबार में पहुँचाया जावे। लेकिन फौज के सिपाही अपने सरदारों की आज्ञा बिना क़िले में प्रविष्ट हो चुके थे और निर्द्वन्द्व होकर खज़ाना और तोशाखाना पर लूट-मार आरम्भ कर दी थी। विजय के उल्लास में यह नौजवान किसी के वश में आने वाले न थे, और इसी कारण सिख सेना के सरदार कुछ परीशान थे। अंत में सब ने सलाह की कि तोशाखाने और खजाने की रक्षा के लिए दीवन राम दयाल नियुक्त किया जाय।

दीवान राम दयाल २२ वर्ष का सुंदर जवान था। कश्मीर के आक्रमण में यही जवान वीर पठानों के सामने अकेला डटा रहा था। व्यक्तिगत योग्यता और वीरता के अतिरिक्त दीवान मुहकम चंद का पोता होने के कारण प्रत्येक आदमी उस का आदर-सम्मान करता था।[२] अतएव दीवान राम दयाल ने क़िले के सब दरवाज़े बंद करा कर उन पर कड़ा पहरा नियुक्त कर दिया और बड़े दरवाज़े पर स्वयं जा कर ठहरा। जो सिपाही बाहर निकलता उस की तलाशी ली जाती और समझा-बुझा कर लूट का सब माल वहीं रखवा लिया जाता। इसी प्रकार तमाम माल एकत्र हो गया जिसे लाहौर भेज दिया गया। इस लूट के माल में अगणित मुहरें, हीरे-जवाहरात, जड़ाऊ दस्तोंवाली अमूल्य तलवारें, बंदूकें, कीमती दुशाले, शाल, कालीन और ग़लीचे महाराजा के तोशाखाने में आये। दीवान अमर नाथ के अनुमान के अनुसार इन का मूल्य लगभग दो लाख रुपए था। इस के अतिरिक्त बहुत से उत्तमोत्तम घोड़े, ऊँट और पाँच बड़ी तोपें महाराजा के हाथ आईं। इसी प्रकार क़िला शुजाआबाद से भी लगभग २०,००० रुपए का माल हाथ आया।

मुल्तान का प्रबंध

तत्क्षण महाराजा ने मुल्तान में शांति स्थापित रखने के लिए छः सौ सिपाहियों का रिसाला क़िले में नियुक्त किया। उस की थानेदारी के लिए सरदार दल सिंह नहरेना, सरदार जोध सिंह कलसिया, और सरदार देवा सिंह दोआबिया नियुक्त किए गए। प्यादा फ़ौज की दो पलटनें क़िला शुजाआबाद में ठहराई गईं। ३८००० रुपए के लगभग क़िला और खंदक़ की मरम्मत में खर्च किया गया।[३]

यह प्रबंध कर के मिश्र दीवान चंद लाहौर आया। महाराजा ने उस की सेवाओं के उप-

---

[१] हिसाब के अनुसार यह तिथि दो जून है। [२] सर लैपल ग्रिफन अपनी पुस्तक के पृष्ठ ५५८ पर दीवान राम दयाल को वीरता और साहस दृष्टि से हरि सिंह नलुवा के समान बताता है। [३] देखें खालसा दरबार रेकार्ड जिलद २ पृ० ६५; वहाँ यह रकम ३८,२८४ रुपए ११ आने ६ पाई दर्ज है।

लक्ष में "ज़फरजङ्ग बहादुर" की उपाधि प्रदान की। मूल्यवान् सम्मानित खिलअतें दीं। अन्य सरदारों और अमीरों को, जिन्होंने इस युद्ध में विशेष कार्य किये थे, महाराजा ने जी खोल कर इनाम इत्यादि दिये।

मुल्तान पर विजय का महत्त्व

मुल्तान की रियासत रावी और सतलज नदियों के बीच स्थित थी और इस द्वाबा के सारे दक्षिणी भाग में फैली हुई थी। इस की वार्षिक आय सात लाख रुपये के लगभग थी।[१] अतएव इस की राज्य-प्राप्ति के कारण रणजीतसिंह के राज्य का भी विस्तार हुआ और साथ ही आगे के लिए लाहौर दरबार की वार्षिक आय में भी बहुत वृद्धि होनी आरम्भ हो गई। इसके अतिरिक्त सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से जितना लाभ सिक्ख राज्य को हुआ, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रदेश को अपने अधिकार में ले लेने के कारण महाराजा रणजीतसिंह ने बहावलपुर तथा सिंध नदी के निचले भाग में स्थित अन्य इसलामी रियासतों डेरा गाज़ी खाँ इत्यादि के बीच एक लोहे की दीवार स्थापित कर दी और इन के लिए महाराजा के विरुद्ध इकट्ठे होने का अवसर जाता रहा।

इसके अतिरिक्त मुल्तान नगर की भौगोलिक स्थिति उस के महत्त्व को और भी बढ़ाती थी। यह नगर उस प्रधान मार्ग पर स्थित था जो कि मध्य एशिया से चलकर कंधार और वहाँ से क्वेटा और फिर डेरा गाज़ी ख़ाँ और मुलतान पहुँचता था और यहाँ के बठिण्डा से रास्ते होकर देहली जाता था। अमीर तैमूर और दूसरे मुगल आक्रमणकारी इसी मार्ग से आया जाया करते थे। एशिया और भारत के बीच इसी मार्ग द्वारा व्यापार होता था। भाव यह कि मुलतान पर अधिकार कर लेने से रणजीतसिंह को फौजी दृष्टिकोण से वही लाभ हुआ जो कि उसे भारत के उत्तरी प्रधान मार्ग पर स्थित अटक के दुर्ग पर अधिकार करने के पश्चात् हुआ था। यदि अटक (हैदरो) का युद्ध सिक्खों तथा अफगानों के बीच पहला संघर्ष था तो मुलतान का युद्ध दूसरा। अटक की तरह यहाँ भी सिक्ख विजयी हुए और आगे के लिए अफगानों के दिलों में खालसा की श्रेष्ठता का आतंक छा गया।

---

[१] देखें खालसा दरबार रेकार्ड जिल्द २ पृ० ७६, यहाँ यह रकम विस्तार से दे रखी है : (i) मालियात ४,१५,५०० रु० (ii) साईरात १,४१,००० रु० (iii) बाघ त ५००० रु० (iv) इ ारा मालियात ७१००० रु० (v) इजारा साईरात ३३४७५ रु० (vi) जागीरात १५००० रु० कुल जोड़ ६,८०,६७५ रु०।

बारहवाँ अध्याय

काश्मीर और पेशावर की विजय
(सन् १८१८—२२ ई०)

फ़ौजी दृष्टि-कोण से पेशावर का महत्त्व

इस से पूर्व इस की चर्चा की जा चुकी है कि क़िला अटक के आस-पास के इलाके पर महाराजा का थोड़ा बहुत अधिकार हो चुका था। परंतु यहाँ के पठान कबीलों अभी तक पूर्ण-रूप से दमन नहीं हुआ था। उन्हें काबुल और पेशावर के अफ़ग़ान शासकों से सदा सहायता की आशा रहती थी। महाराजा भी यह भली प्रकार जानता था कि जब तक पेशावर का इलाक़ा विजय न किया जायगा अमन-चैन से बैठना उसके भाग्य में नहीं है। क्योंकि पेशावर पश्चिमी आक्रमणकारियों के लिए हिंद में प्रविष्ठ होने का द्वार है। अतएव पेशावर पर सेना ले जाने के लिए वह अवसर की प्रतीक्षा में था, और यह महाराजा को शीघ्र हाथ आ गया।

पेशावर के लिए प्रस्थान

अमीर शाह महमूद के वज़ीर फ़तेह ख़ाँ बारकज़ई और शाह के बेटे कामरान में झगड़ा हो गया। कामरान ने अवसर पाकर वजीर को क़त्ल करवा दिया, जिस से अफ़ग़ानिस्तान में हलचल मच गई। वजीर फतेह ख़ाँ के भाई जो बड़े-बड़े प्रांतों में शासक बने हुए थे, वे सब अपने अपने प्रान्तों में कार्यभार दूसरे अधिकारियों के सुपुर्द कर के स्वयं काबुल को लौट आये। महाराजा ने इस अवसर को उचित जान कर एक भारी सेना साथ लेकर अक्तूबर सन् १८१८ ई० में अटक की ओर प्रस्थान किया। रोहतास, रावलपिंडी और हसन अब्दाल ठहरता हुआ हज़रो के विस्तृत मैदान में ख़ेमा डाला। यहाँ से एक छोटा सा दल रास्ते की देख-भाल के लिए अटक पार रवाना किया। ख़तक क़बीले के पठानों को जब यह सारा हाल मालूम हुआ तो उन्हें बड़ा जोश आया। सरदार फ़ीरोज ख़ाँ ख़तक के नेतृत्व में तुरंत सात हज़ार का पठानी लश्कर इकट्ठा हो गया और यह लोग ख़ैराबाद की पहाड़ियों में मोर्चे लगा कर घात में बैठ गये। जब ख़ालसा सेना का बेख़बर दल यहां से निकला तो आनन-फ़ानन पठान पहाड़ियों से निकल कर बिजली की तरह उन पर टूट पड़े और लगभग सारे दल को तलवार के घाट उतारा।

ख़तक की हार

जब शेर पञ्जाब को यह भयानक समाचार मिला तो क्रोध के मारे उस की आँखों में ख़ून उतर आया। फ़ौरन ख़तक का दमन करने की तैयारियाँ आरंभ कर दीं। महाराजा रावी, चेनाब और जेहलम नदियों के अनुभवी मल्लाह अपने साथ लाया था। उन्हें तेज़ चाल वाली अटक नदी में पार लगने वाली जगह ढूँढने पर नियुक्त किया। मल्लाह शीघ्र ही सफल हो गये। फौज का उत्साह बढ़ाने के उद्देश्य से महाराजा सब से पहले स्वयं जंगी हाथी पर सवार हो कर नदी की

मँझदार में खड़ा हो गया।[1] और खालसा सेना के चंद दस्ते नदी के पार पहुँच गये। इन में फतह सिंह बहादुर नगरिया, गुरुमुख सिंह लम्मा और बाबा फूला सिंह के दल भी सम्मिलित थे। इसी बीच में पठान भी मौके पर आ पहुँचे और घमासान युद्ध आरम्भ हो गया। पठानों ने पहली बार जाना कि खालसा वास्तव में बहादुरी में उन से बाजी ले जा सकते हैं। हज़ारों पठान खेत रहे शेष सिखों के घेरे में फँस गये। उन्हों ने जब देखा कि अब जान बचा कर भागना भी असंभव है तो तुरंत संधि का सफ़ेद झंडा ऊँचा किया, और फीरोज़ खां तथा नजीबुल्ला खाँ खतक, दोनों ने महाराजा की अधीनता स्वीकार की। इस बार फिर सरदार फूला सिंह अकाली ने बड़ी वीरता दिखाई।

पेशावर की विजय

महाराजा ने किला ख़ैराबाद और किला जहाँगीरा में अपने थाने स्थापित करके आगे प्रस्थान किया। इसी बीच में दीवान शाम सिंह ने, जिसे महाराजा ने पेशावर की तरफ़ भेज रक्खा था सूचना भेजी कि दोस्त मुहम्मद और यार मुहम्मद खाँ महाराजा के किला जहाँगीरा पर अधिकार होने का हाल सुन कर पेशावर खाली करके हश्त नगर की तरफ़ चले गये हैं। महाराजा ने सेना के आगे बढ़ने की आज्ञा दी, और शीघ्रता से कूच करके पेशावर शहर पर कब्जा कर लिया। शहर का उचित प्रबन्ध किया गया। मुनादी कर के शहर में शांति स्थापित की। सरदार जहाँदाद खां, जिस से महाराजा ने किला अटक लिया था, और जो उस समय जागीरदार के रूप में महाराजा के पास रहता था, पेशावर का गवर्नर नियुक्त किया गया। दो-चार दिन ठहर कर महाराजा अटक वापस आया।

दोस्त मुहम्मद खाँ की धूर्तता

ज्यों ही शेर पंजाब पेशावर से अटक पहुँचा, दोस्त मुहम्मद ख़ाँ ने हश्त नगर से वापस आकर पेशावर पर अपना अधिकार जमा लिया। जहाँदाद ख़ाँ और दीवान शाम सिंह को वहाँ से निकाल दिया। मगर साथ ही अपने दो वकील दीवान दामोदर मल और हाफ़िज़ रुहुल्ला ख़ाँ महाराजा के पास अटक भेजे और प्रार्थना की कि यदि पेशावर का शासन आप की ओर से मुझे प्रदान किया जाय तो मैं आप का करद होकर रहूँगा और एक लाख रुपया साल लाहौर भेजता रहूँगा,[2] व लाहौर दरबार की प्रत्येक आज्ञा का प्रसन्नता से पालन करूँगा। अभी महाराजा का विचार पेशावर पर अधिकार करने का नहीं था और यही कारण था कि वह जहाँदाद ख़ाँ को खालसा सेना की सहायता दिये बिना उसे अपने व्यक्तिगत साधनों पर अवलम्बित छोड़ कर ही लौट आया था। चुनांचे महाराजा ने दोस्त मुहम्मद ख़ाँ की यह शर्तें स्वीकार कर लीं, और दोस्त मुहम्मद ख़ाँ करद शासक के रूप में पेशावर में रहने लगा। पेशावर के युद्ध में १४ बड़ी तोपें, बहुत से घोड़े, मूल्यवान् वस्तुएँ, और नक़द रुपए महाराजा के हाथ आये थे, जिसे साथ लेकर रणजीतसिंह बड़े समारोह के साथ, विजय-दुन्दुभी बजाता हुआ लाहौर वापस आया।

---

[1] देखिए सोहनलाल द० २, पृष्ठ २३६ और २३७। पञ्जाब में अभी तक यह कहावत प्रचलित है कि महाराजा ने अटक पार करते समय पहले अपनी ऊँची आवाज से यह पद पढ़ा—"जां के मन में अटक है, तां को अटक रहे।" और बाद में सोने की मुहरों का थाल नदी में भेंट किया। फिर अपना हाथी नदी में डाल दिया। नदी का पानी कई फुट नीचे उतर गया और महाराजा की सेना नदी के पार हो गई। दीवान अमर नाथ ने भी 'ज़फ़रनामा रणजीतसिंह' में पृष्ठ ११६ पर इस की चर्चा की है। शीर-व-शकर का कर्त्ता नदी में महाराजा के हाथी डालने का वर्णन तो करता है किंतु पानी के नीचे उतरने का कोई उल्लेख नहीं करता। (देखो पृष्ठ ११२-१३)। [2] देखो सोहनलाल द० २ पृष्ठ २३६।

पेशावर के युद्ध का महत्त्व

यद्यपि पेशावर-विजय यथार्थ में पेशावर-विजय नहीं कही जा सकती तो भी इस में तनिक संदेह नहीं कि यह सिख इतिहास का बड़ा महत्वपूर्ण युद्ध था। यदि हम पंजाब के पूर्व-इतिहास पर एक चलती दृष्टि डालें तो हमें इस विजय का महत्व तुरन्त मालूम पड़ जायगा। इतिहास पढ़नेवालों को ज्ञात है कि ग्यारहवीं सदी के आरम्भ में महमूद ग़ज़नवी ने राजा जयपाल और उस के बेटे अनंगपाल को परास्त करके पेशावर और पञ्जाब पर अपना अधिकार जमा लिया था। तब से लेकर ८०० वर्ष तक बराबर पश्चिमोत्तर से आक्रमणकारियों की बाढ़-सी हिंदुस्तान पर आती रही। शहाबुद्दीन ग़ोरी, अमीर तैमूर, नादिर शाह, और अहमद शाह अब्दाली इत्यादि ने हिंदुस्तान को जी खोल कर लूटा और लोगों पर वह अत्याचार किये जिन्हें याद कर के बदन के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इतने लम्बे काल के अनंतर ख़ालसा की बलशाली सेना ने न केवल इस बाढ़ को रोक दिया बल्कि उसे उतना पीछे हटा दिया जहाँ से आज तक यह वापस नहीं आया। निस्संदेह शेर पञ्जाब की इस महान् विजय ने पञ्जाब का इतिहास ही बदल डाला। सरहद के बलिष्ट, दृढ़ और लड़ाके पठानों को पहली बार यह मालूम हुआ कि अब पञ्जाब में एक ऐसी जाति पैदा हो चुकी है जिस के हाथों उन का परास्त होना असंभव न होगा। जिस प्रकार अहमद शाह अब्दाली के नाम से पञ्जाबी भयभीत होते थे, उसी प्रकार ख़ालसा के बहादुर जनरल हरीसिंह नलुवा के नाम से अब पेशावर की गलियों में पठान थर्राने लगे। वहाँ अब तक हरीसिंह का नाम हव्वा ख़याल किया जाता है।

पंडित बीरदर का आगमन

यह बताया जा चुका है कि वज़ीर फ़तेह ख़ाँ के क़त्ल किये जाने पर दुर्रानी राज्य में अव्यवस्था फैल रही थी अतएव उससे लाभ उठाने के उद्देश्य से काश्मीर के शासक मुहम्मद अज़ीम ख़ाँ ने जो फ़तेह ख़ाँ का छोटा भाई था, एक बड़ी सेना लेकर काबुल के लिए प्रस्थान किया और अपने छोटे भाई जब्बार ख़ाँ को कश्मीर का गवर्नर नियुक्त कर के छोड़ दिया। जब्बार ख़ाँ बड़ा अत्याचारी मनुष्य था। विशेष कर अपनी हिंदू प्रजा को बड़ा दुःख पहुँचाया। इसी वजह से उस के माल-विभाग का वज़ीर पंडित बीरदर अवसर पा कर जान बचाने की इच्छा से कश्मीर छोड़ कर भाग निकला और महाराजा के यहाँ लाहौर में शरणागत हुआ। रणजीतसिंह ने पण्डित बीरदर का बहुत आदर-सत्कार किया और पण्डित ने महाराजा को कश्मीर के संबंध में हर प्रकार की जानकारी प्राप्त कराई विशेष कर रक्षा के स्थलों पर फ़ौजी बल की सूचना दी और कश्मीर विजय करने में महाराजा को सहायता देने का वचन दिया।

काश्मीर पर चढ़ाई की तैयारियाँ

महाराजा बहुत समय से काश्मीर विजय करने का इच्छुक था। इस समय परिस्थितियाँ भी ऐसी थीं कि वह कार्य सफलतापूर्वक हो सकता था। अटक का दुर्ग महाराजा के अधिकार में आ चुका था। हज़ारा का नवाब लाहौर दरबार का करद बन चुका था। खतक के सरदार ने हाल ही में रणजीतसिंह की अधीनता मानी थी और इसके साथ ही पेशावर की वादी के दोनों सरदारों दोस्त मुहम्मद ख़ाँ और यार मुहम्मद ख़ाँ ने महाराजा का करद रहना स्वीकार कर लिया था। भाव यह कि काबुल तथा काश्मीर के बिचले भाग के लोग महाराजा के साथ अपना बल अज़मा चुके थे और किसी सीमा तक काबुल और काश्मीर के बीच यातायात के साधन भी अनिश्चित थे। सो काश्मीर को काबुल से किसी प्रकार की सहायता मिलने की आशा न थी। अतएव १८१९ ई० के आरम्भ में काश्मीर पर चढ़ाई की तैयारियाँ आरम्भ हुईं। मई महीने के प्रारम्भ में एक बड़ी सेना वज़ीराबाद में एकत्र हुई जो तीन बड़े भागों में विभक्त की गई। एक दल मिश्र दीवान चंद, ज़फ़र जंग और सरदार श्याम सिंह अटारीवाले के नेतृत्व में, दूसरा जत्था युवराज खड़क सिंह के

अधीन भेजा गया। तीसरा भाग स्वयं महाराजा की सरदारी में परिशिष्ट सेना के रूप में वज़ीराबाद ठहरा, जिसमें से आवश्यकता पड़ने पर ताज़ा दम सेना प्रस्तुत की जा सके। रसद और युद्ध के सामान के ढेर वज़ीराबाद में जमा किये गये, और उनको पहुँचाने का प्रबन्ध महाराजा ने स्वयं अपने हाथों में लिया।

कश्मीर की यात्रा

मुल्तान-युद्ध की भाँति इस बार भी नाम मात्र सेना की कमान राजकुमार खड़क सिंह के सपुर्द की गई किन्तु वास्तविक सैन्य संचालन का कार्य भार मिश्र दीवान चन्द के कन्धों पर था। इस अवसर पर महाराजा ने सुल्तान खां, भिंबर-नरेश को, जो सात साल से महाराजा के पास नज़रबंद था मुक्त कर दिया और अपनी सेना के साथ कश्मीर के युद्ध पर भेजा। इसने महाराजा की बहुत लाभप्रद सेवाएँ कीं। यह दोनों दल भिंबर के इलाक़े से हो कर राजोरी पहुँचे। मिश्र दीवान चंद ने अपना भारी तोपखाना भिंबर में छोड़ा। केवल हल्की तोपें अपने साथ रक्खीं। राजौरी का हाकिम राजा उगर खां[1] कुछ समय से अपने पुराने संधिपत्र के विरुद्ध कई अनुपयुक्त कार्य कर चुका था। इस कारण उस के इलाक़े को घेर लिया गया। जब उगर खां ने खालसा सेना का इतना बल देखा तो वह रात्रि के अंधकार में अवसर पाकर भाग निकला। दूसरे दिन उस का भाई रहीमुल्ला खां अपने अहलकारों सहित सिख सेना में उपस्थित हुआ।[2] और खालसा सेना के पथ-प्रदर्शन के लिए अपनी सेवा प्रस्तुत की। युवराज खड़क सिंह ने रहीमुल्ला खां को महाराजा के पास वज़ीराबाद भेज दिया। रणजीतसिंह ने उस का उत्साह-पूर्वक स्वागत किया। एक हाथी सुनहरे हौदा सहित और एक घोड़ा सोने के साज़ सहित और मूल्यवान् भेटें प्रदान कीं, और राजोरी का हाकिम नियुक्त कर के उसे मित्र बना लिया।

अब राजोरी से दोनों दल मिल कर आगे की तरफ़ बढ़े। वर्षा के कारण रास्ते बहुत खराब थे, इस लिए भारी बोझ और फ़ालतू सामान यहीं छोड़ना पड़ा, घास-दाने के अभाव और पथरीले मार्ग का विचार करते हुए घुड़सवारों ने घोड़े भी छोड़ दिये और पैदल कूच आरम्भ की। सीधी सड़क छोड़ कर पहाड़ी पगडंडियों की राह प्रस्थान किया। शहज़ादा खड़क सिंह वाला दल पोशाना से होता हुआ बहरामगल्ला पहुँच गया। यहीं पर भिंबर-नरेश सुल्तान खां के समझाने पर क़िला शुपीन के थानेदार ने खालसा की अधीनता स्वीकार कर ली। युवराज ने उसे खिलअत प्रदान कर के उस का आदर किया। यहाँ युवराज को मालूम हुआ कि ज़बर्दस्त खां पुंछ का हाकिम, बहुत सी सेना एकत्र करके युद्ध की तैयारियां कर रहा है। अतएव उसे सीधा रास्ता छोड़ कर पेचीदा मार्ग ग्रहण करने की आवश्यकता हुई। ज़बर्दस्त खां ने आस-पास के समस्त दर्रों और रास्तों में कटे हुए वृक्ष और पत्थर भरवा कर उन्हें दुर्गम बना दिया था। परन्तु युवराज के दल ने इन कठिनाइयों की परवाह न करते हुए उस पर धावा बोल दिया और एक छोटी-सी लड़ाई के अनंतर सब दर्रे अपने अधिकार में कर लिए। ज़बर्दस्त खाँ ने आधीनता स्वीकार की। इस युद्ध में भिंबर वाले सुल्तान खाँ ने खालसा को बहुत सहायता पहुँचाई और रणजीतसिंह की नीति अपना फल लाई।

रणजीतसिंह की उपस्थिति

इस बीच में महाराजा स्वयं अपने दल सहित गुजरात, भिंबर और राजोरी होता हुआ शाहाबाद आ पहुँचा। रास्ते में विभिन्न स्थलों पर ढेर जमा करने के लिए गोदामघर स्थापित

---

[1] सैयद मुहम्मद लतीफ़ ने भूल से उसका नाम अजीज़ खाँ लिखा है। [2] सैयद मुहम्मद लतीफ़ ने रहुल्ला खाँ को अजीज़ खाँ का बेटा लिखा है। हम ने इस विषय में मुंशी सोहनलाल और दीवान अमर नाथ तथा पंडित दया राम कर्त्ता शीर-व-शकर का समर्थन किया है।

करता गया। थोड़ी-थोड़ी दूर पर हरकारे नियुक्त किये जो प्रतिदिन के समाचार महाराजा को पहुँचाते थे। अब दो दस्ते पीर पंजाल की पहाड़ियों को अधिकार में रखने के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों से चले, और दस हज़ार सिपाहियों का एक दल महाराजा ने पीछे सहायता के रूप में भेजा जो मिश्र दीवानचद को पीर पंजाल पर आ मिला।[1] यहाँ सिखों और पठानों के बीच एक घोर युद्ध हुआ जिस में ख़ालसा जीते। अब यह दोनों दल इन कठिन घाटियों को पार करते हुए सराय आलियाबाद में आ मिले।

जब्बार खां की हार

यहाँ उन्हें समाचार मिला कि शोपियाँ के मैदान में जब्बार ख़ाँ बारह हज़ार अफ़ग़ानी फ़ौज के साथ रास्ता रोके पड़ा है। सिख सेना की कमान मिश्र दीवान चन्द के हाथ में थी। यह एक बहुत ही अनुभवी और बुद्धिमान जरनैल था। गत वर्ष ही मुलतान की विजय का श्रेय इसे हुआ था। अब इस ने भी निश्चय कर लिया कि उसी स्थान पर एक निर्णायक युद्ध किया जाय अतएव यहाँ डेरे डाल दिये गये। कुछ दिन आराम करने के अनन्तर २१ हाड़, अर्थात् ३ जूलाई के सवेरे ख़ालसा ने अचानक वैरियों पर धावा बोल दिया। जब अफ़ग़ानी सेना ख़ालसा की तोपों के मार में आ गई तो सिखों ने ऐसी गोलाबारी की कि मानों प्रलय आ गया परतु जब्बार ख़ाँ की अफ़ग़ान सेना ने भी जान तोड़ कर सामना किया। एक बार ख़ालसा सेना को थोड़ी दूर पीछे हटना पड़ा और उन की एक दो तोपें भी वैरी के हाथ लगीं। इतने में अकाली फूलासिंह का साहसी निहंग दल मौक़े पर आ उपस्थित हुआ। जो 'अकाल! अकाल!' का घोष करता हुआ एक दम वैरी पर टूट पड़ा और तलवार के वह दाँव चले कि आन की आन में सैंकड़ों अफ़ग़ान मौत के घाट उतारे गये। ख़ालसा तोपचियों के दूसरी बार पैर जम गये और जब्बार ख़ाँ को मैदान छोड़ कर भागना पड़ा। अफ़ग़ान अपना सारा जंगी सामान रसद के ढेर और अगणित घोड़े मैदान में छोड़ गये जो सब ख़ालसा के हाथ आए।

श्रीनगर की विजय

इस युद्ध में अफ़ग़ानों की बड़ी भारी क्षति हुई। जब्बार ख़ाँ बुरी तरह घायल हुआ। बड़ी कठिनाई से जान बचा कर भागा, और ऊड़ी तथा मुज़फ़्फ़राबाद वाले मार्ग से होता हुआ पेशावर पहुँचा और वहाँ से अफ़ग़ानिस्तान चला गया। ख़ालासा ने क़िला शेरगढ़ (श्रीनगर) और दूसरी चौकियों पर अधिकार कर लिया। २२ हाड़, तदनुसार ४ जुलाई १८१६ ई० को ख़ालसा सेना बड़ी धूम-धाम के साथ श्रीनगर में प्रविष्ठ हुई। मिश्र दीवानचंद की सलाह के अनुसार युवराज खड़क सिंह ने अपनी फ़ौज को आज्ञा दी कि शहर में किसी को त्रास न दिया जाय और लोगों के आश्वासन के लिए इस बात का ढिंढोरा भी पिटवा दिया।[2]

शेर पंजाब का वापस आना

इस विशाल विजय का समाचार महाराजा को पाँचवें दिन नौशहरा के स्थान पर मिला और सूचना लाने वाले को महाराजा ने प्रसन्न होकर सोने के कड़ों की जोड़ी बख़्शी। संपूर्ण ख़ालसा सेना में 'वाह गुरू जी की फ़तेह' का घोष होने लगा जिसे सुन कर महाराजा बहुत प्रसन्न हुआ। स्वयं हाथी पर सवार हो कर सेना के पड़ाव पर चक्कर लगाया और धन लुटाया। फिर लाहौर की ओर कूच किया। यहाँ से होकर अमृतसर पहुँचा। असंख्य सोना-चाँदी दर्बार

---

[1] मिश्र दीवानचंद कोह दोहराल के रास्ते गया था, जिस राह से जाकर २५० वर्ष पहले अकबर बादशाह ने कश्मीर विजय किया था। सोहन लाल द० २, पृ० २५६।

[2] 'जफरनामा रणजीतसिंह', पृ० १३२।

साहब की सेवा में भेंट किया और विजय के आनंद में बड़ा उत्साह और समारोह मनाया गया। तीन दिन तक सारे शहर में दीपमाला होती रही। बाजार सजाये गये और महाराजा की खुशी में रियाया ने भी जी खोल कर भाग लिया। लाहौर से वापस आने पर लोगों ने भी खुशी मनाई। महाराजा ने भी बहुत जी खोल कर हज़ारों रुपये गरीबों में बाँटे।

कश्मीर का शासन-प्रबंध

यद्यपि कश्मीर की राजधानी श्रीनगर पर महाराजा का अधिकार स्थापित हो गया था परन्तु पहाड़ी इलाके में कई दुर्गम स्थलों पर अभी तक ऐसे किले मौजूद थे जहाँ अफगानों के थाने स्थापित थे। अतएव उन्हें विजय करने के लिए लाहौर वापस आने से पूर्व ही महाराजा आज्ञाएँ प्रचारित कर चुका था, और राजौरी के निकट किला अजीमगढ़ को स्वयं विजय कर चुका था। अतएव दीवान राम दयाल को अपनी सेना सहित भिंबर में ठहरने की आज्ञा मिली। भया रामसिंह दर्राथना के निकट नियुक्त हुआ जिस में वह किला मार व अन्य स्थलों को अपनी अधीनता में ला सके। मिश्र दीवान चंद, सरदार शामसिंह अटारीवाला और सरदार ज्वाला सिंह भड़ानिया बारहमूला और श्रीनगर में नियुक्त किये गये। फकीर अजीजुद्दीन विशेष कार्य पर नियुक्त कर के लाहौर से कश्मीर भेजा गया कि वह स्वयं देखे और सुने हुए हाल महाराजा की सेवा में भेजे। दीवान मोती राम कश्मीर का गवर्नर नियुक्त हुआ और उस की अधीनता में लगभग २०,००० सेना सूबा कश्मीर की रक्षा के लिए नियुक्त हुई। पंडित बीरबर दर का उस की मूल्यवान् सेवा के उपलक्ष में बड़ी जागीर प्रदान हुई। और ५३ लाख रुपये (कश्मीरी सिक्का) के बराबर का इजारा उसे दिया गया। इस के अतिरिक्त १० लाख रुपया का इजारा शालदाग ला० जवाहर मल को प्रदान किया गया।[1] मिश्र दीवान चंद को मुल्तान की जंग में "जफरजंग" की उपाधि मिल चुकी थी। अब "फतह व नुसरत नसीब" की उच्च उपाधि भी प्रदान की गई और पचास हजार रुपये की जागीर प्रदान की गई। गत वर्ष महाराजा ने मुल्तान प्रांत को अपने राज्य में मिलाया था। इस वर्ष कश्मीर की सुन्दर और संपन्न वादी भी पंजाब राज्य का एक भाग बन गई जिस के कारण न केवल पंजाब की आय में ही पच्चीस छब्बीस लाख वार्षिक की बढ़ौतरी हुई वरन् पंजाब के व्यापारिक संबंध तिब्बत, अस्करदू, लद्दाख तथा कश्मीर जैसे पहाड़ी प्रदेशों के साथ स्थापित हो गये और हमारे प्रांत की उत्तरी सीमा हिमालय पर्वत की ऊँची-ऊँची चोटियों के साथ टकराने लगी।

मुल्तान और बहावलपूर का दौरा

कश्मीर की लड़ाई से छुट्टी पाकर महाराजा ने अपना ध्यान पश्चिमी पंजाब की ओर फेरा और सेना का एक दल लेकर उधर का दौरा आरम्भ किया। पहले पिंडी भटियाँ में पड़ाव किया और वहाँ के उद्दंड जमीदारों को यथोचित दंड दिया। वहां से चेनाब नदी के रास्ते, नाव पर सवार हो कर चनयोट पहुँचा। फिर मुल्तान में डेरा डाला।

यह बात याद रखने योग्य है कि ऐसे दौरे में महाराजा बड़े-बड़े कस्बों में सदा दरबार किया

---

[1] मुंशी सोहन लाल (द० २ पृष्ठ २६१) ने कश्मीर की कुल आय का अनुमान ६६ लाख रुपया का लगाया है। दीवान अमर नाथ (पृष्ठ १३३) का अनुमान भी लगभग यही है। डा० हरि राम गुप्ता ने अपने लेख में शाह जमान के शासनकाल (सन् १७६३) में कश्मीर की वार्षिक आय चालीस लाख अठारह हजार बतलाई है। किंतु डाक्टर साहब ने यह स्पष्ट नहीं किया कि गवर्नर कुल आय में से व्यय को काट कर यह रकम काबुल के अमीर को देता था अथवा संपूर्ण आय ही इतनी थी। उपरोक्त रकमें जमानशाही सिक्के में गिनी जाती थीं किंतु महाराजा के समय में यह आय प्रचलित सिक्के (नानकशाहि अम्रतसरया) में २५,५१,००० रु० थी।

करता था, जिस में इलाके के प्रमुख जमींदार, मुकद्दम और कस्बों के चौधरी, पंच और धनी लोग सम्मिलित होते थे। स्थानीय प्रश्नों के संबंध में महाराजा उन की रायों को ध्यान-पूर्वक सुनता था। और उस का आदर करता था अतएव इस बार मुलतान के दौरे में महाराजा को मालूम हुआ कि वहां के शासक शाम सिंह पेशावरी से प्रजा बहुत दुखी है और उस ने, कुछ सरकारी रुपया भी अनुचित प्रकार से हजम कर लिया है। चुनांचे महाराजा ने उसे पदच्युत कर के कुछ काल के लिए नजरबंद कर दिया।

कश्मीरा सिंह व मुल्ताना सिंह का जन्म

महाराजा को इस दौरे में ही यह समाचार प्राप्त हुआ कि उस की दो रानियों रतन कौर और दया कौर के यहां स्यालकोट में दो बेटे उत्पन्न हुए हैं। अतएव इस खुशी में बड़े जलसे किये गये। चूँकि हाल ही में महाराजा ने कश्मीर और मुलतान के दो बड़े सूबे विजय किये थे इस लिए इसकी स्मृति में राजकुमारों के नाम कश्मीरा सिंह और मुल्ताना सिंह रक्खे और उनके जन्म-स्थान स्यालकोट में दीपावली मनाई गई।

डेरा गाजी खाँ पर आक्रमण

रणजीतसिंह की यह प्रबल इच्छा थी कि पश्चिमोत्तर के सीमांत सूबे को विजय करे। अत-एव दुर्रानी साम्राज्य की कमजोरी से लाभ उठा कर सन् १८१८ में महाराजा रणजीतसिंह ने पेशा-वर विजय करने का प्रयत्न किया, परन्तु अंत में सरदार दोस्त मुहम्मत खां को अपना करद सूबेदार बना कर वह लौट आया था। इसी खलबली के बीच शाह शुजा ने भी काबुल की गद्दी प्राप्त करने के लिए अपना भाग्य-निर्णय करना चाहा। लुधियाने से चल कर पेशावर पहुँचा, और उसे अपने अधिकार में लाना चाहा। परन्तु दोस्त मुहम्मद खां और मुहम्मद अजीम खां ने मिल कर उसे हराया। यह वहां से भाग कर डेरा गाजी खां पहुँचा, जहां के हाकिम जमान खां ने उसे बहुत मदद पहुँचाई। परन्तु शाह शुजा के भाग्य में दूसरी बार ताज नहीं लिखा था। उसे कोई सफलता न प्राप्त हुई, और वह डेरा गाजी खां छोड़ कर सिंध के अमीरों के यहां शरणागत हुआ।

अब महाराजा ने यह आवश्यक समझा कि डेरा गाजी खां को अपने साम्राज्य में मिला लिया जाय। क्योंकि यहां का सूबेदार अभी तक अपने आप को काबुल का मातहत समझता था। चूँकि मुलतान का प्रांत इस के राज्य के साथ मिलता था इस लिए वह महाराजा के लिए किसी समय भी हानिकारक सिद्ध हो सकता था। अतएव मुल्तान से जमादार खुशहाल सिंह के नेतृत्व में फौज का एक दल उस ओर भेजा। इस ने एक साधारण युद्ध के अनंतर जमान खां को निकाल दिया और स्वयं डेरा गाजी खां पर अधिकारी हो गया। चूँकि यह सूबा लाहौर की राजधानी से दूर था और महाराजा सरहद्दी सूबे में केवल कदम जमाना चाहता था, इस लिए तीन लाख रुपये साल पर सूबा भाहवलपूर के नवाब को इजारा के रूप में दे दिया। डेरा गाजी खां के पराजित होने पर महाराजा ने सिंधु नदी के दक्षिणी भाग पर भी अधिकार कर लिया जैसा कि आज से आठ वर्ष पहले अटक के दुर्ग पर अधिकार करने से उसका प्रभाव नदी के उत्तरी प्रांत पर हो चुका था।

हजारे का विद्रोह

हजारा का ऊपर वाला भाग (तनवल, पखेली, धमतैद और स्वात) सूबा कश्मीर में सम्मि-लित था। जब सिखों ने कश्मीर की घाटी विजय की तो वहाँ के अफगान सरदारों और जागीरदारों को भय हुआ कि उन्हें भी सिख गवर्नर की अधीनता करनी पड़ेगी। अतएव उन्होंने शोर करना आरंभ किया। महाराजा कश्मीर की घाटी में अपना राज्य सुदृढ़ करने में लगा हुआ था, इस लिए कुछ काल तक समय व्यतीत करता रहा तथा सरदार हुकमा सिंह चिमनी अटक का किलेदार भी

उपद्रव को शांत करने का संतोषजनक प्रबंध न कर सका। इस लिए यह उपद्रव ज़ोर पकड़ता गया, विद्रोही सरदारों के दमन के लिए बड़ी सेना हज़ारा की तरफ भेजी गई जिसमें सरदार फतेह सिंह अहलू वालिया, सरदार शाम सिंह अटारीवाला और दीवान राम दयाल जैसे बहादुर, सचेत और प्रतिष्ठित अफसर नियुक्त किये।

यह बात वर्णन करने योग्य है कि विद्रोह किसी विशेष जगह तक सीमित न था, परंतु सारे इलाक़े में फैला हुआ था। पखली, धमतोड़, तरबेला इत्यादि इलाकों के सब ज़मींदार युद्ध के लिए प्रस्तुत थे। इसलिए ख़ालसा सेना ने एक जगह नहीं कई जगह युद्ध जारी रखना उचित समझा। दीवान रामदयाल अपनी सेना समेत गंदगढ़ की पहाड़ियों के भीतर घुस गया। एक स्थान पर दिन भर घमासान लड़ाई होती रही। जब शाम हुई तो दीवान राम दयाल और सरदार शाम सिंह के दल जो सबेरे से वैरी का सामना करने में लगे हुए थे, तनिक पीछे हटे और ज्योंहीं वैरी आगे बढ़ा इन्हों ने इस ज़ोर से धावा किया कि पठानों की सेना भाग निकली।

दीवान राम दयाल की मृत्यु

दीवान राम दयाल, जो उस समय पूरा नौजवान था और जवानी के जोश में मतवाला था, वैरी का पीछा करने निकला, और अफ़ग़ानों को मारता-भगाता हुआ एक पहाड़ी नाले तक जा पहुँचा। अचानक उस समय ज़ोर की आँधी आ गई, और दीवान राम दयाल बेबस हो गया। यकायक पास की पहाड़ियों से पठानों ने गोलाबारी आरंभ कर दी, जिस की मार से बहुत से ख़ालसा नौजवान काम आए। एक गोली दीवान राम दयाल के भी लगी और वह वहीं मर गया। ख़ालसा सेना में एक दम क्रोध की आग भड़क उठी और वह वैरी से बदला लेने के लिए तय्यार हो गई। पठानों पर ऐसे उत्साह से आक्रमण किया गया कि हज़ारों को मिट्टी में मिला कर दिल का ग़ुबार निकाला।

हज़ारे के इलाके में कुछ काल के लिये अमन तो हो गया और वहां के विद्रोही सरदारों ने अधीनता भी स्वीकार कर ली, परंतु महाराजा को दीवान राम दयाल जैसे होनहार जनरल के वध होने का बड़ा शोक हुआ। महाराजा को आशा थी कि यह युवक समय पाकर अपने दादा दीवान मुहकम चंद की तरह नाम पैदा करेगा। राम दयाल के पिता दीवान मोती राम को भी अपने होनहार और युवक पुत्र की मृत्यु का इतना भारी आघात पहुँचा कि वह संसार के विरक्त हो गया। और कश्मीर की सूबेदारी से मुक्त किए जाने की प्रार्थना की जिसे महाराजा ने अस्वीकार कर दी। परंतु उस की निरंतर और प्रबल कोशिश के बाद एक लंबी छुट्टी दे दी। दीवान मोती राम काशी अर्थात् बनारस पहुँचा और साधुओं का जीवन व्यतीत करने लगा। उसके स्थान पर सरदार हरी सिंह नलुआ कश्मीर का सूबेदार नियुक्त हुआ।

हज़ारा के इलाके का यथोचित प्रबंध करने के लिए महाराजा ने दीवान कृपा राम और सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया के नेतृत्व में चार दृढ़ क़िले ग़ाज़ीगढ़, तरबेला, दरबंद और गंदगढ़ में बनवाने आरंभ किए।

विलयम मोरक्रफ़्ट

इसी वर्ष अर्थात मई १८२० ई० में प्रसिद्ध यात्री मोरक्रफ़्ट लाहौर आया। यह ईस्ट इंडिया कंपनी के घोड़ों का दारोग़ा था और कंपनी के वास्ते घोड़े ख़रीदने के लिए तुर्किस्तान जा रहा था। महाराजा ने उसे शालामार की बारहदरी में ठहराया।[1] उस की बड़ी आवभगत की। एक सौ

---

[1]इस बारादरी की दीवार में एक पत्थर लगा हुआ है, जो इस घटना की स्मृति दिलाता है। उस पर अंग्रेज़ी भाषा में ये शब्द अंकित है—"इस बारादरी में, जो महाराजा रंजीतसिंह ने बनवाई प्रसिद्ध यात्री मोरक्राफ़्ट मई सन् १८२० ई० में ठहरा, जब वह तुर्किस्तान (जहां वह सन् १८२५ ई० में मर गया) जाता हुआ महाराजा का अतिथि रहा।"

रुपया रोज़ाना उस के आतिथ्य के लिए नियत कर दिया। विलियम मोरक्राफ़्ट महाराजा से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त करने के लिए बहुधा दरबार जाता। उस ने महाराजा के अस्तबल का भी निरीक्षण किया और अपनी यात्रा-विवरण में वह लिखता है कि महाराजा के अस्तबल में बहुत से बढ़िया और अलभ्य घोड़े थे।

रानी सदा कौर की नज़रबंदी—अक्तूबर सन् १८२१ ई०

रानी सदा कौर का नाती कुँवर शेर सिंह आयु में अच्छा बड़ा हो चुका था, और महाराजा यह चाहता था कि रानी उस के लिए अपने कन्हैया मिस्ल के इलाक़ों में से पर्याप्त जागीर दे, परंतु इस के लिए वह कदापि तैयार न थी। अतएव रणजीतसिंह और उस की सास में अनबन हो गई। मामला बढ़ते-बढ़ते बहुत बढ़ गया, और रानी सदा कौर सतलज पार जा कर अंग्रेज़ों से शरण प्राप्त करने के प्रयत्न में लगी, क्योंकि रानी सदा कौर के कुछ इलाक़े, जैसे फ़ीरोज़ापूर, वधनी इत्यादि सतलज पार स्थित थे।[1] महाराजा बड़ा बुद्धिमान था। अतएव रानी को प्रसन्न करनेवाले तथा शांति चाहने वाले पत्र लिख कर उसे लाहौर बुला लिया और नज़रबंद कर दिया। रानी एक बार अवसर पाकर फिर भाग निकली। परंतु अभी लाहौर से थोड़ी दूर ही गई थी कि गिरफ़्तार होकर वापस आई।

कन्हैया मिस्ल के इलाक़े पर अधिकार

अब महाराजा को यह संदेह हो गया कि रानी फिर अवसर पाकर अंग्रेज़ों की शरण में चली जायगी। अतएव उस ने इस भय को तत्काल नष्ट करना आवश्यक जान कर मिश्र दीवान चंद और अटारीवाले सरदारों के नेतृत्व में सेना भेजी और रानी सदा कौर के संपूर्ण इलाक़ों पर जो सतलज के इस ओर स्थित थे अधिकार कर लिया। सरदार जय सिंह कन्हैया के समय की जमा की हुई सारी दौलत, तोशाख़ाना और शस्त्रागार महाराजा के हाथ आए। बटाला क़स्बा कुँवर शेर सिंह को जागीर रूप में प्रदान किया गया, और शेष इलाक़ा सरदार देसा सिंह की सूबेदारी में सूबा काँगड़ा में सम्मिलित किया गया। रानी सदा कौर शेष आयु के लिए लाहौर के क़िले में नज़रबंद कर दी गई।

रानी सदा कौर

हिंदुस्तान की गर्ववृद्धि करने वाली स्त्रियों में रानी सदा कौर का स्थान ऊँचा है। उस का अस्तित्व ख़ालसा इतिहास में प्रायः और विशेष कर रणजीतसिंह के समय में स्मृतियोग्य है। इस महिला ने लगातार तीस साल तक पंजाब देश के इतिहास में विशेष भाग लिया। इसी की सहायता से रणजीतसिंह ने अपने पिता के समय के दीवान से अपनी मिस्ल का प्रबंध अपने हाथों में लिया। उस की सहायता से रणजीतसिंह ने लाहौर पर अधिकार किया। बाद में भी यह बुद्धिमती महिला रणजीतसिंह को सब तरह से सहायता देती रही। बड़े-बड़े नामवर जनरलों के साथ-साथ युद्ध स्थल में लड़ना इस के लिए साधारण काम था। अपनी रियासत का प्रबंध ऐसी पटुता से करती कि साम्राज्य के प्रतिष्ठित लोग ईर्ष्या करते। रणजीतसिंह के उदय के निमित्त तो रानी सदा कौर जीने की पहली सीढ़ी की भाँति थी जिसके द्वारा वह अंतिम चोटी पर पहुँच कर पंजाब में ख़ालसा साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ।

मनकेरा तथा डेरा इस्माइल ख़ाँ की विजय—सन् १८२१ ई०

अब ख़ालसा सेना के कुछ दस्ते रानी सदा कौर के इलाक़ों पर अधिकार जमाने के लिए भेजे

---

[1] ज़फ़रनामा रणजीतसिंह, पृ० १४८।

भेजे गये, तब महाराजा स्वयं एक बड़ी सेना लेकर मनकेरा का इलाक़ा विजय करने की इच्छा से उस ओर रवाना हुआ। एक-एक मंजिल आराम से पार करता हुआ अक्तूबर महीने के आरंभ में जेहलम नदी पार कर के महाराजा ख़ुशाब पहुँचा और उसने वहाँ से मलिक अहमद यार टिवाना को साथ लेकर सीधे मौज़ा कुंदियाँ की तरफ कूच किया। इस बीच में मिश्र दीवान चंद भी रानी सदा कौर वाले युद्ध से निवृत्त होकर अपनी सेना समेत महाराजा से आ मिला, व सरदार हरी सिंह नलुआ जो दीवान मोती राम के छुट्टी से वापस आने पर कश्मीर की सूबेदारी से छुट्टी पा चुका था महाराजा से इसी स्थान पर आ मिला।

रियासत मनकेरा के अधिकृत क्षेत्र सिंधु नदी के दोनों ओर स्थित थे। डेरा इस्माइल ख़ाँ, बन्नूँ और टाँक इत्यादि एक ओर तथा मनकेरा, लैया, भक्खर और कुन्दियाँ इत्यादि नदी के दूसरी ओर स्थित थे। मनकेरा का किला रेगिस्तान के ऐन बीच था और उस की रक्षा के लिए उस के चारों ओर नवाब ने बारह दूसरे दुर्ग बनवा रखे थे ताकि शत्रु के लिए केंद्रीय स्थान तक पहुँचना कठिन हो जाय।

महाराजा ने अपनी सम्पूर्ण सेना को तीन भागों में विभक्त किया। एक भाग की कमान जिस में अधिकतर तोपख़ाना सम्मिलित था, मिश्र दीवान चंद को प्रदान की गई, दूसरा भाग जिस में १५००० सैनिक थे सरदार दल सिंह नहेरना और जमादार ख़ुशहाल सिंह की कमान में था, शेष भाग को महाराजा ने अपने नेतृत्व में लिया। चुनांचे सरदार दल सिंह वाला दस्ता नदी के पार डेरा इस्माइल ख़ां की ओर रवाना हुआ। नवाब के शासक दीवान मानक राय ने मुकाबला किया परंतु हार खाई और दुर्ग दल सिंह के हवाले किया। मिश्र दीवान चंद वाले ने लैया, भक्खर, खानगढ़ और मंझगढ़ इत्यादि के किले शीघ्र ही जीत लिये। तत्पश्चात् मिश्र "जफर जंग" की सेना नवाब की राजधानी मनकेरा की ओर बढ़ी। २२ नवम्बर के दिन महाराजा स्वयं भी मनकेरा पहुँच गया। २४ नवम्बर को उसने अपनी स्थिति का निरीक्षण किया और बाद में मिश्र दीवान चन्द को आज्ञा दी कि वह दुर्ग का घेरा शुरू कर दे।

आज्ञा के अनुसार घेरा डाल दिया गया। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है मनकेरा का दुर्ग ऐन रेगिस्तान के बीच स्थित था और वहाँ जल का बहुत अभाव था। जहाँ तक पानी की प्राप्ति का संबंध था। यह कार्य महाराजा ने स्वयं अपने हाथ में लिया। सैकड़ों बेलदार लगाकर कई कच्चे कूप खुदवाये गये[1] और ऊँटों तथा खच्चरों द्वारा मंझगढ़ से भी जल की संतत प्राप्ति के लिये प्रबंध किया गया। इस प्रकार सारा प्रबंध कर लेने के बाद खालसा सेना ने दुर्ग पर गोलाबारी शुरू कर दी।

आज्ञा के अनुसार किले का घेरा डाल दिया गया और मोर्चे लगाकर खालसा सेना ने गोलाबारी आरंभ कर दी। नवाब भी युद्ध के लिए तैयार था। पंद्रह रोज़ तक सामना करता रहा, परंतु जब उस के दो तीन ऊँचे पद वाले अफ़सर महाराजा से आ मिले तो उस का हौसला टूट गया और अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया।[2] महाराजा ने नवाब की शर्तें स्वीकार कर लीं। डेरा स्माइल खां उसे जागीर रूप में और रहने के लिए प्रदान किया और उसे अपने साथियों और माल-असबाब सहित बिना हस्तक्षेप के मनकेरा क़िले से बाहर आने की आज्ञा दे दी। ज्योंही नवाब को महाराजा रणजीतसिंह का केसर के पंजे से सुसज्जित इकरारनामा मिला वह दुर्ग से बाहर निकल आया। महाराजा ने भी बड़े आदर का व्यवहार किया। अपने ख़ेमे में

---

[1] जफरनामा पृ० ११० और अहमद शाह बटावली पृ० १०५४ [2] सोहनलाल, द० २ पृ० २११

उस से भेंट की। असबाब ढोने का सामान एकत्र कर के नवाब को सिंधु नदी के पार भेज दिया और नवाब का इलाक़ा जिस की मालियत ११ लाख के करीब थी लाहौर के साम्राज्य में सम्मिलित किर लिया।

मनकेरा पर विजय का महत्व

रियासत मनकेरा के पराजित होने से महाराजा रणजीतसिंह के राज्य में काफी वृद्धि हो गई। ग्यारह लाख रुपया का तो प्रति वर्ष महाराजा के सरकारी कोष में संचय होने लगा और इस के अतिरिक्त द्वाबा सिंध सागर का लगभग संपूर्ण विस्तृत क्षेत्र अब महाराजा के अधीन हो गया। इस द्वाब का उत्तरी भाग, जिस में अटक, रावलपिण्डी, जेहलम चकवाल, खुशाब और साहीवाल इत्यादि नगर स्थित थे, पहले ही महाराजा के अधिकार में आ चुका था। इसी प्रकार दक्षिणी भाग, जिस में मुलतान प्रांत, और डेरा गाजी खां का प्रदेश सम्मिलित था, हाल ही में महाराजा जीत चुका था। अब इस द्वाबे का मध्य भाग भी (जिसमें मनकेरा की रियासत शामिल थी) पंजाब राज्य का भाग बन गया।

सिंधु नदी व्यापार के लिए प्रधान मार्ग थी। उसके ऊपर वाले भाग में मध्य एशिया से आने वाला मुख्य रास्ता अटक के पास आ मिलता था। इसके बिचले भागों में प्राचीनकाल से व्यापारी काफिले काला बाग और डेरा इस्माइल खां के घाटों को पार करके भारत में आते थे। और नदी के दक्षिणी भाग में कंधार से आने वाला प्रधान मार्ग डेरा गाजी खां के पास पहुँचता था। चुनांचे इस नदी के सम्पूर्ण बहाव मार्ग पर महाराजा का अधिकार हो जाने पर उस के राज्य की स्थिति और भी प्रबल हो गई। और खालसा राज्य के गिर्द जो फौलादी घेरा नं० २ स्थित था उस का भी अंत हो गया।

कुँवर नौनिहाल सिंह का जन्म --१४ फागुन, सन् १८७८ वि०

२३ फरवरी सन् १८२२ को युवराज खड़क सिंह के यहां पुत्र उत्पन्न हुआ जिस का नाम नौनिहाल सिंह रक्खा गया। उस समय महाराजा की ओर से बड़ी ख़ुशी मनाई गई, और हजारों रुपये दीन-दुखियों को ख़ैरात किए गए।

जनरल वंतूरा और एलार्ड लाहौर में--सन् १८२२ ई०

जनरल वंतूरा और एलार्ड १८२२ के मई महीने में लाहौर में आए। वंतूरा इटली का और एलार्ड फ्रांस का निवासी था। यह दोनों व्यक्ति जगत्प्रसिद्ध जनरल नैपोलियन बोनापार्ट की सेना में अच्छे पदों पर नियुक्त थे। वाटरलू की लड़ाई मे यूरोप की सम्मिलित शक्तियों ने नैपोलियन को परास्त कर के क़ैद कर लिया था, जिसके कारण फ्रांस के सैकड़ों नवयुवकों को जीविका की खोज में जगह-जगह मारा-मारा फिरना पड़ा था। अतएव ये अफसर भी पठानों के वेष में ईरान और अफ़गानिस्तान होते हुए लाहौर पहुँचे। कुछ टूटी-फूटी फ़ारसी भाषा बोल सकते थे। यह फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन द्वारा दरबार में पहुँचे। महाराजा ने इनकी ख़ूब आव-भगत की और नगर से बाहर अनारकली के प्रसिद्ध बुर्ज में उन के निवास का प्रबंध किया।[1] कुछ दिनों के बाद उन्होंने महाराजा की सेवा में नौकरी के लिए प्रार्थना की। महाराजा ने इस प्रश्न को विचारणीय जान कर कुछ दिन विचाराधीन रक्खा। उसे संदेह था कि केवल नौकरी की खोज में ये नौजवान इतनी दूर की भयावह यात्रा, क्यों कर सकते थे। परंतु जब उसे विश्वास हो गया तो उन्हें पचीस सौ

[1] यहाँ आज कल पञ्जाब (पाकिस्तान) गवर्नमेंट का रेकार्ड आफ़िस है।

रुपए महीने पर नौकर रख लिया। वंतूरा पैदल सेना में और एलार्ड सवार सेना में जनरल नियुक्त हुआ। उन का कर्तव्य सिख सेना को यूरोपीय रीति पर क़वायद सिखाना था।

नौकरी की शर्तें

इन दोनों अफ़सरों और बाद में जितने अंग्रेज़ या फ़्रांसीसी अफ़सर महाराज की नौकरी में आए उन सब के लिए निम्नलिखित शर्तें स्वीकार करना और उन पर अमल करने के लिए हस्ताक्षर करना आवश्यक था। (१) यदि कभी सिख सेना को यूरोप की किसी शक्ति का सामना करने की आवश्यकता उपस्थित हो तो उन्हें सिख शासन का राजभक्त अधिकारी रह कर लड़ना पड़ेगा। (२) लाहौर दरबार की आज्ञा के बिना उन्हें किसी यूरोपीय शासन से सीधे पत्र-व्यवहार करने का कोई अधिकार न रहेगा; (३) उन्हें दाढ़ी रखनी पड़ेगी और उसे मुँडवाने की मनाही होगी। (४) किसी को गाय का मांस खाने की आज्ञा न होगी। (५) तंबाकू पीना बिलकुल मना होगा। यदि संभव हो तो हिंदुस्तानी औरत के साथ विवाह करना होगा।

मियां किशोर सिंह को उपाधि देना

मियां किशोर सिंह जम्मू-नरेश राजा रणजीतदेव के वंश में से था, जो सन् १८१२ ई० में जम्मू के विजय होने पर महाराजा की सेवा में प्रविष्ट हुआ। उस के दो सुंदर और युवक बेटे, गुलाब सिंह और ध्यान सिंह, कुछ काल पूर्व महाराजा की सवारी फ़ौज में भरती हो चुके थे। इन राजपूत सिपाहियों ने महाराजा के दरबार में धीरे-धीरे वह आदर प्राप्त किया जिस का वर्णन अब जगह-जगह पर आएगा। सन् १८१९ ई० में महाराजा ने उन की सेवाओं के उपलक्ष में जम्मू का प्रदेश जो उन का ख़ानदानी अधिकार था उन्हें जागीर में प्रदान कर दिया। और उन के पिता किशोर सिंह को राजा की पदवी देकर जम्मू के प्रबंध के लिए नियुक्त कर दिया, और वहां के शासन तथा प्रबंध के लिए उसे बहुत विस्तृत अधिकार प्रदान किया।[1] सन् १८२० ई० में राजा किशोर सिंह का देहांत हो गया। इन का आदर मान बढ़ाने के भाव से महाराजा मातमपुरसी के लिये जम्मू गया, और वहां गुलाब सिंह और उस के छोटे भाई सुचेत सिंह को राजा का मनसब प्रदान किया।

---

[1] रणजीत सिंह के शासन काल के लेख-पत्रों में मियां गुलाब सिंह और उस के भाई ध्यान सिंह का नाम पहाड़ी राजपूत सवारों के वेतन-पत्र में लिखित है। इस के अतिरिक्त संवत् १८६८ वि० (सन् १८११ ई०) के पत्रों में उन का वेतन तीन रुपया प्रति व्यक्ति प्रति दिन दरज है। देखिये खालसा दरबार रिकार्ड, द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०, का फ़ुटनोट। इनके पिता मियां किशोर सिंह का नाम भी वहीं लिखित है, देखिये द्वितीय भाग, पृष्ठ १८।

तेरहवाँ अध्याय

पेशावर विजय की पूर्ति
(सन् १८२३-१८३१ ई० तक)

बदले की इच्छा

इस से पूर्व इस बात का वर्णन हो चुका है कि सरदार यार मुहम्मद खाँ, पेशावर के शासक ने महाराजा रणजीतसिंह की अधीनता स्वीकार कर ली थी, और प्रतिवर्ष लाहौर दरबार में भारी कर भेजने का वादा कर लिया था। यार मुहम्मद का भाई मुहम्मद अज़ीम खाँ, काबुल का वज़ीर था और बारकज़ई क़बीले का नेता समझा जाता था। उसे यह बात कदापि सह्य न थी कि उस के वंश का कोई आदमी सिखों के अधीन हो। अतएव पेशावर-विजय का ध्यान उस के दिल में काँटे की तरह खटक रहा था। इस के अतिरिक्त उन्हीं दिनों महाराजा रणजीतसिंह ने उस के दूसरे भाई जब्बार खाँ से कश्मीर का उर्वर और स्वर्गतुल्य सूबा छीन लिया था, और साथ ही दूसरे अफ़ग़ान शासकों से रियासत मनकेरा तथा डेरा ग़ाज़ी खाँ भी ले लिए थे, इस लिए स्वाभाविक रूप से महाराजा की शीघ्रता से बढ़ती हुई शक्ति अज़ीम खाँ के लिए भय का कारण बन रही थी, और वह रणजीतसिंह के साथ एक बार युद्ध में निपट लेने के अवसर की प्रतीक्षा में था।

पेशावर की कूच

यह अवसर उसे शीघ्र ही मिल गया। दिसंबर सन् १८२२ ई० में महाराजा ने यार मुहम्मद खाँ से कर माँगा और फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन को इस के लिए पेशावर के सूबेदार ने कुछ उत्तम घोड़े लाहौर दरबार में भेज दिए, यद्यपि इन में गौहरबार नामक वह विशेष घोड़ा न था जिस के प्राप्त करने के लिए महाराजा ने इच्छा प्रकट की थी।[1] मुहम्मद अज़ीम खाँ को अपने भाई का यह आचरण पसंद न आया। अतएव उस ने एक बलशाली सेना लेकर काबुल से पेशावर की तरफ़ कूच किया। यार मुहम्मद खाँ ने अपने भाई के संकेत पर बहाना बना कर कि वह अफ़ग़ानी सेना रोकने की सामर्थ्य नहीं रखता पेशावर खाली कर दिया और यूसुफ़ज़ई के पहाड़ों में जा छिपा।[2]

धर्मयुद्ध या जिहाद की विज्ञप्ति

मुहम्मद अजीम खाँ ने बिना किसी रोक-टोक के पेशावर पर अधिकार कर लिया और सिखों के विरुद्ध धर्म-युद्ध की विज्ञप्ति करके जिहाद की आज्ञा दे दी। सैकड़ों मौलवी, मुल्ला, और वायज़ इस की घोषणा करने के लिए आस-पास के इलाक़ों में भेजे गए जिस का परिणाम यह हुआ कि पठानों के झुंड के झुंड मुहम्मद अज़ीम खाँ के झंडे तले जमा होने लगे और कुछ ही दिनों में २५ हज़ार के लगभग ग़ाज़ी एकत्र हो गए, जिस से मुहम्मद अजीम खाँ का उत्साह दूना बढ़ गया।

---

[1] इस घोड़े के विषय में, 'जफ़रनामा रणजीतसिंह' में 'अस्प ईरानी सद करोह रफ्तार' लिखा है—पृष्ठ १५३ [2] यार मुहम्मद खाँ महाराजा रणजीतसिंह की ओर से पेशावर का सूबेदार था।

रणजीतसिंह की तैयारी

इधर रणजीतसिंह भी अचेत न था। उसे यह सारे समाचार प्रति क्षण मिल रहे थे, अतएव उस ने तुरंत दो हजार सवारों का एक दल शहज़ादा शेरसिंह और दीवान कृपा राम के नेतृत्व में जनवरी सन् १८२३ में अफ़ग़ानों की रोक-थाम के लिए अटक पार भेजा। उस के साथ महाराजा का अनुभवी जनरल तथा तोपखाना का अफ़सर मिश्र दीवान चंद भी था। तथा शेरसिंह की सहायता पर जागीरदारी अश्वारोही सेनायें अपने-अपने सरदारों के अधीन चल पड़ीं। इन में हरिसिंह नलुवा, अत्तर सिंह सिन्धावालिया और बना सिंह मलवई के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सेना में वह पाँच छै प्यादा पलटनें भी थीं जो हाल ही में योरुपीय अधिकारियों की देख-रेख में शिक्षित की गई थीं।

महाराजा के पहुँचने से पहले ही राजकुमार शेरसिंह और सरदार हरीसिंह नलुवा नावों का पुल बना कर अटक नदी पार कर चुके थे। उन्हों ने जहाँगीरा क़िले का घेरा डाल दिया, और छोटी सी लड़ाई के बाद किले पर अधिकार कर लिया और इस में अपना थाना स्थापित कर लिया। अफ़ग़ान किलेदार वहां से भाग निकला।

मुहम्मद अज़ीम ख़ाँ जो अभी तक पेशावर में ठहरा था जहाँगीरा क़िले पर महाराजा का अधिकार हो जाने का समाचार सुन कर तुरंत चौंक उठा। और अपने भाई दोस्त मुहम्मद ख़ां और जब्बार ख़ां के नेतृत्व में ग़ाज़ियों का एक दल सिक्खों के मुक़ाबले के लिए भेजा। क़िला जहाँगीरा के निकट दोनों पक्ष में ज़ोर शोर की लड़ाई आरंभ हुई। मुहम्मद ज़मां ख़ां खतक ने अवसर पाकर अटक का पुल नदी में बहा दिया ताकि महाराजा की शेष सेना नदी पार न कर सके।

महाराजा का नदी पार करना

परंतु पंजाब का शेर ऐसी कठिनाइयों पर कहा ध्यान करने वाला था? उसने नदी के किनारे डेरे डाल दिए और नए सिरे से पुल बनाने की आज्ञा दी और साथ ही अपने वफ़ादार तथा विश्वस्त मंत्री फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन को नदी पार करने के लिए किसी सुगम स्थान की तलाश करने के लिए नियुक्त किया। उसी समय एक जासूस नदी पार से समाचार लाया कि ख़ालसा सेना ग़ाज़ियों की टिड्डी दल सेना के कारण उन के वश में आ चुकी है। यदि इस समय सहायक सेना न पहुँची तो हानि पहुँचने का भय है। यह समाचार सुनते ही ख़ालसा सेना में हलचल मच गई। उसी समय नावों का पुल बनाना असंभव था, इस लिए रणजीतसिंह ने अपनी सेना को जहां कहीं भी सुगम स्थान मिला, नदी पार करने की आज्ञा दे दी। स्वयं एक घोड़े पर सवार हो कर चुने हुए सरदारों के सहित द्रुतगामिनी अटक नदी में कूद पड़ा। ख़ालसा सेना का यह दस्ता जिस की संख्या पंद्रह हजार के लगभग थी। जीवन तथा माल की थोड़ी सी हानि उठा कर नदी पार हो गया और तोपें हाथियों को पीठ पर लाद कर पार उतारी गईं। ख़ालसा सेना के नदी पार पहुँचने का समाचार सुन पठान बहुत घबराए और मैदान छोड़ कर भाग गए। नौशेरा में जाकर पड़ाव किया और घोर युद्ध की तैयारियों में लग गए। महाराजा ने जहाँगीरा के क़िले में अपने डेरे डाल दिए। फिर इसे और क़िला ख़ैराबाद को सुदृढ़ करके शेर पंजाब ने अकोड़ा के मैदान में ख़ेमे लगाए, और कई जासूस नौशेरा तथा पेशावर की तरफ़ भेजे कि वह वैरी की तैयारियों का समाचार लावें।

सरदार जय सिंह अटारीवाले का पछतावा

उसी रात सरदार जय सिंह अटारीवाला महाराजा से मिला। उक्त सरदार सन् १८२१

ई० में एक षड्यंत्र के संदेह में अपराधी ठहराया गया था। इस लिए वह पंजाब से भागकर काबुल में बारकज़ाइयों से आ मिला था, और उन दिनों अज़ीम खां के साथ, अपने सवारों सहित पेशावर आया हुआ था। एक दिन जब अफ़गान सैनिक तीस सिक्खों के सिरों को अज़ीम खां के सम्मुख लाए तो उसके एक नौकर ने अपनी घृणा प्रकट करते हुए पाव से एक सिर को ठोकर मारी। यह देखकर पंथ के प्रेम ने जय सिंह के हृदय में जोश मारा, और वह खालसा सेना में आ मिला। महाराजा ने उसे क्षमा-प्रदान की और उस के पूर्व पद पर उसे नियुक्त कर दिया।[1]

टिब्बा टीरी का युद्ध

महाराजा अभी अकोड़ा के मैदान में ठहरा हुआ था कि भेदियों ने आकर सूचना दी कि ग़ाज़ी लोग एक बड़ी संख्या में नौशहरा के समीप टीरी की पहाड़ियों में इकट्ठे हो रहे हैं, तथा उन के चुने हुए दस्ते अहमद ख़ान खतक के नेतृत्व में एक ऊँचे टिब्बे पर मोर्चे बनाए बैठे हैं। इस के साथ ही यह सूचना भी मिली कि इस मुलखिये लश्कर की सहायता के लिए अज़ीम खां की कुछ सेना तो पहुँच चुकी है और शेष उस के अपने नेतृत्व में पेशावर से बड़ी तीव्र गति से बढ़ती चली आ रही है। और अगले दिन लुंडा नदी को लाँघ कर टीरी पहुँच जायगी।

महाराजा यह जानता था कि अज़ीम खां के पहुँचने पर मुक़ाबिला कठिन हो जायगा। चुनांचे उस ने अपने सरदारों की सम्मति ली। मार्च का महीना था और दिन केवल कुछ घड़ी शेष था। कई सरदारों ने युद्ध को दूसरे दिन पर स्थगित करने की राय दी परंतु जनरल वन्तूरा ने सैनिक दृष्टिकोण से यह मत प्रकट किया कि शीघ्र युद्ध आरंभ करने में ही भलाई है। इस समय हम दस के बराबर हैं और वैरी एक के, परंतु अजीम खां के पहुँचने पर वैरी दस और हम एक के बराबर हो जावेंगे। महाराजा ने उसकी सम्मति को स्वीकार किया।

सिख सेना को व्यवस्थित करके महाराजा ने उसे तीन विभागों में बाँटा। एक दस्ते को जिस में आठ सौ सवार और सात सौ सैनिकों की एक प्यादा पलटन और अकाली निहंगों के चुने हुए डेरे बाबा फूला सिंह के नेतृत्व में सम्मिलित थे, टिब्बा पर आक्रमण करने की आज्ञा मिली। दूसरा दस्ता जिस में एक हज़ार सवार, तीन गोरखा और दो नजीब (मुसलमान) पलटनें सम्मिलित थीं सरदार देसा सिंह मजीठिया और सरदार फ़तह सिंह अहलोवालिया के नेतृत्व में टिब्बा की दूसरी ओर से आक्रमण करने के लिए तैयार किया गया। तीसरा दस्ता जिस में दो हज़ार सवार, आठ प्यादा पलटनें और कुछ हलकी तोपें थीं, जनरल वंतूरा व जनरल अलार्ड तथा सरदार हरि सिंह नलुवा की कमान में इस काम पर नियत किया गया कि मुहम्मद अज़ीम खां को लुंडा नदी लाँघने और टीरी के स्थान पर इकट्ठे हुए गाज़ियों के साथ सम्मिलित होने से रोका जाय। इस के अतिरिक्त जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है एक विशेष सेना राजकुमार शेर सिंह तथा सिधावाला सरदारों के अधीन नदी के पार जहाँगीरा में पहले से ही ठहरी हुई थी।

जब हर प्रकार से तैयारी पूरी हो गई तो सेना ने टिब्बा की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में रणजीतसिंह स्वयं नंगी खड्ग हाथ में लिए हुए अपनी सेनाओं को प्रोत्साहित कर रहा था। और

---

[1] विस्तार के लिए देखो 'फतहनाम श्री गुरु खालसा जी का', पिशौर युद्ध श्लोक ४५-५० । इस संबंध में वह लिखता है—

मूरख दुष्ट पठान राह सिंहन सिर पग लाय
बारमबार अजीम कहे, जय सिंह जान न पाय
तांते आवने पंथ चल करे होई गुजरान
म्लेछन का संग त्याग के आइयों सिंहन पास।

लैपल ग्रिफ़न ने भी जय सिंह के इस कारण वापस आ जाने का ज़िक्र किया है। पृष्ठ ६७

गरजती हुई ध्वनि के साथ उन के जयघोषों का उत्तर भी देता रहा। पहले प्यादा सेना आगे बढ़ी, इस के पश्चात् सवारी सेना के दस्ते भी चल पड़े। अफ़ग़ान सेना ने जिसे स्थिति की दृष्टि से हर प्रकार से बढ़ोतरी प्राप्त थी आक्रमणकारियों को अधिक हानि पहुँचा कर पीछे धकेल दिया। इसी बीच में गोरखा पलटन और बाद में नजीब पलटन को पहले दस्तों की सहायता के लिए आगे बढ़ने की आज्ञा मिली। यह पलटन बड़ी चतुराई, संलग्नता और वीरता से लड़ी। यद्यपि शत्रु की तुलना में इनकी बराबर की हानि हुई किंतु उन्होंने एक बार बिगड़ती हुई स्थिति को बचा लिया। इधर पठानों ने भी इस युद्ध को निर्णायक युद्ध समझ लिया था क्योंकि वे देख रहे थे कि खालसा पिछले चंद वर्षों से अटक नदी को पार करके आगे ही बढ़ता चला आ रहा है। इस लिए वे इस बात पर कटिबद्ध थे कि सिक्खों को किसी प्रकार भी खैबर द्वार की दीवारों तक न पहुँचने दिया जाय, वरन् उसे पराजित करके अटक के पार वापस पंजाब में धकेल दिया जाय।

चुनांचे पठानों ने एक बहुसंख्य सेना के साथ एक बार फिर आक्रमण किया और खालसा सेना में ऐसी भगदड़ मची कि रणजीतसिंह विस्मित हो गया। परंतु अकाली फूला सिंह ने उस समय अपने साहसी अकाली दस्ते के साथ जवाबी हमला किया और सैंकड़ों पठानों को तलवार के घाट उतार दिया। किंतु दुर्भाग्य से वीर फूला सिंह के मस्तक पर एक गोली आ लगी और वह युद्धस्थल में ही मृत्यु का प्राप्त हुआ।[१]

गाज़ियों की घोर हार

इस वीर की मृत्यु पर खालसा सेना को बड़ा जोश आया। ग़ाज़ियों पर उस ने बड़े ज़ोर से आक्रमण किया, परंतु पठानों ने भी सामना करने में कोई कसर उठा न रक्खी। सैकड़ों बहादुर सिख नौजवान और अफ़सर इस जंग में काम आए। आखिर महाराजा ने आज्ञा दी कि तोपों को एक पंक्ति में गाड़ कर शत्रु पर गोलाबारी की जाय। साथ ही फ़तह सिंह अहलोवालिया और देसा सिंह मजीठा के अधीन दस्तों को आज्ञा दी गई कि टिब्बा के पीछे जो मुलखिया सेना एकत्र हो रही है, उस पर शीघ्र धावा बोल दें जिस से क्षण भर में ही युद्ध का रूप बदल गया। अंत में पठानों के पैर उखड़ गए, और वह मैदान छोड़ कर भागने लगे और रात के अंधेरे से लाभ उठाकर पहाड़ियों में छिप गए। जफ़रनामा के लेखक दीवान अमर नाथ के लेख के अनुसार चार हज़ार ग़ाज़ी इस युद्ध में मारे गये। सिख सेना के भी कई प्रसिद्ध अफ़सर बाबा फूलासिंह, सरदार गरभा सिंह, करम सिंह चाहल आदि क़त्ल हुए।

मुहम्मद अज़ीम ख़ाँ नदी के पार यह सब कुछ देख रहा था, परंतु उस के लिए नदी पार करना बड़ा कठिन था; क्योंकि उस के ठीक सामने के किनारे पर महाराजा का भारी तोपखाना और सेना जनरल वनूरा और सरदार हरीसिंह नलुवा के नेतृत्व में डटी हुई थी, और वह अपनी भारी तोपों से गोलों की ऐसी मुसलाधार वर्षा कर रही थी कि मुहम्मद अज़ीम खां के लिए एक पग आगे बढ़ना कठिन था। जब मुहम्मद अजीम खां को ग़ाजियों के भागने की खबर मिली तो उस की रही-सही उम्मीदों पर भी पानी फिर गया। वहां से भाग कर मचनी में दम लिया और आगे

---

[१] गणेशदास अपने छंदों में बहुत ही सुदर ढंग से फूला सिंह के शहीद होने का वर्णन करते हुए लिखता है :—

फूला सिंह को मार के भये प्रसन्न पठान, अब सिंहन को जीत हैं मोयो बड़ो बलवान्।
फूला सिंह जब मारयो सुनी सार सरकार, ऐसो सिंह महाबली बिरला हम दरबार।

अकाली फूला सिंह के शव का बड़े आदर और सम्मान के साथ दाह संस्कार किया गया और इस वीर सरदार की स्मृति को स्थायी रखने के लिए महाराजा ने पेशावर की राज्य-प्राप्ति के बाद सन् १८३४ में इसी स्थान पर बाबा जी की समाधि बनवाई।

के लिए पेशावर पर शासन पाने मे ऐसा हताश हुआ कि काबुल पहुँचने से पहले ही रास्ते में मर गया।

सिख सेना ने भागते हुए पठानों का पीछा किया और उन के खेमे, तोपें, घोड़े और ऊँट सब के सब उन के हाथ आए। यद्यपि इस युद्ध [१] में खालसा सेना की बहुत हानि हुई परंतु इस शानदार विजय का सरहद पर ऐसा प्रभाव हुआ कि जमरूद से मालाकंद और बुनीर से खतक तक के संपूर्ण इलाके में और पठानों के हृदयों पर उन का ऐसा रोब-दाब बैठा कि उस का प्रभाव अब तक नहीं गया।

महाराजा का पेशावर में प्रवेश

महाराजा ने हश्तनगर के किले पर अधिकार कर लिया। १७ मार्च को धूमधाम के साथ पेशावर में प्रविष्ट हुआ। महाराजा की आज्ञा से नगर में ढिंढोरा पिटा कि किसी प्रकार की लूट मार न की जायगी।[२] हिन्दू प्रजा ने महाराजा का सोत्साह स्वागत किया, इन्हें स्वतन्त्रता का यह दिवस ८०० वर्ष के पीछे देखना नसीब हुआ था। इनके हर्ष की कोई सीमा न रही। चुनांचे सब लोग स्वतन्त्रता दिलवाने वाले शेरे पंजाब को देखने के चान्हवान हो रहे थे, अतएव जोक दर जोक महाराजा के दर्शन के लिए इकट्ठे होने लगे और सच्चे दिल से उस का धन्यवाद किया।[३] अमीरों ने भेंटें प्रस्तुत कीं।

इस के कुछ दिनों बाद यार मुहम्मद खाँ और दोस्त मुहम्मद खाँ दोनों भाई महाराजा के पास पेशावर में आए और स्पष्ट रूप से अधीनता स्वीकार कर के उन्हों ने पचास घोड़े, जिन में प्रसिद्ध घोड़ा 'गौहरबार' भी था, अन्य मूल्यवान् भेंटों सहित प्रस्तुत किये, अपनी गलती के लिए क्षमा माँगी, पेशावर का शासन पाने की प्रार्थना की, और महाराजा की मुँहमाँगी रकम कर-रूप में देने का वचन दिया। शेर पंजाब ने यह शर्तें स्वीकार कर लीं और एक लाख दस हजार रुपया वार्षिक कर नियत कर के यार मुहम्मद खाँ को पेशावर का हाकिम नियुक्त कर दिया साथ ही उसे आज्ञा मिली कि एक हजार सवार जागीरदारी सेना के रूप में उसे रखनी होगी। उस के पद के अनुसार एक मूल्यवान् खिलअत, एक हाथी और एक उत्तम घोड़ा उसे प्रदान किया, और समस्त आवश्यक प्रबंध कर के स्वयं २७ अप्रैल सन् १८२४ को लाहौर पहुँच गया जहाँ बड़ी दीपमाला हुई और आनंद के उत्सव हुए।[४]

रामानंद सर्राफ़ की मृत्यु सितंबर सन् ८२३ ई०

सितंबर सन् १८२३ ई० में महाराजा का समाचार मिला कि अमृतसर के प्रसिद्ध सर्राफ़ लाला रामानंद की मृत्यु हो गई है। यह वही व्यक्ति था जिस के पास सरकारी खज़ाना स्थापित होने से पूर्व महाराजा रणजीतसिंह की आमदनी और खर्च का कुल हिसाब रहा करता था। उस का महाराजा के दरबार में बड़ा आदर था। यह व्यक्ति बहुत मितव्ययी था और उस ने अपने जीवन-काल में बहुत-सा धन एकत्र कर लिया था।[५] यह बिना संतान मर गया। इस लिए महाराजा ने इस

---

[१] गनेश दास यह तिथि इस प्रकार वर्णित करता है—

समत अठ दस जानिए और उनासी मान।
चैत मास सुभ दिन भयो, पेशोर जीत हठ ठान॥

[२] ज़फ़रनामा, पृष्ठ १५५

[३] गनेश दास बड़े सुंदर ढंग से वर्णन करता है :—

सरकार और सरदार सब आरा सो मिल पिशोर में
हिन्दू ब्राह्मण खतरी, धन भाग्य हम इस ठोर में।

[४] जफरनामा, पृष्ठ १५४-१५५। गनेश दास भी अपने छंदों में प्रसिद्ध घोड़े अर्थात् 'गौहरबार' की चर्चा करता है। [५] रामानंद का मितव्यय एक कहावत हो गया था। दीवान अमरनाथ 'जफरनामा', पृष्ठ १५६, में लिखते हैं कि लोग सबेरे के समय उस का नाम मुँह से नहीं निकालते थे कि कहीं उन्हें दिन भर भोजन न प्राप्त हो।

के माल और असबाब का कुछ भाग तो उस के भतीजे शिव दयाल के पास रहने दिया; शेष २० लाख के करीब नक़द रुपया सरकार ने ज़ब्त कर लिया, जो बाद में लाहौर की शहरपनाह की मरम्मत में व्यय हुआ।

डेरा ग़ाज़ी खां में विद्रोह—अक्तूबर सन् १८२३ ई०

दशहरा के समाप्त होने पर महाराजा ने अपना ध्यान डेरा ग़ाज़ी खां की ओर दिया। यहां का ज़मींदार सरदार असद ख़ां कुछ उद्दंड होता जा रहा था, और नवाब बहावलपूर, जिस को महाराजा ने यह इलाक़ा इजारा में दे रखा था, के वश में नहीं आता था। अतएव महाराजा ने एक दल सेना के साथ सिंध नदी पार किया और उद्दंड जमींदारों से तीन लाख रुपए दंड-रूप में वसूल किए, और सरदार असद ख़ां ने अपना बेटा वचन-पूर्ति के रूप में महाराजा के साथ लाहौर भेजा।

अनुरोध चंद के इलाक़े की प्राप्ति

दिसंबर सन् १८२३ ई० में राजा संसार चंद की मृत्यु हो गई। महाराजा ने उस के बेटे अनिरुद्ध चंद को राज्य की खिलअत प्रदान की और एक लाख रुपया भेंट में वसूल किया। परंतु बाप की गद्दी पर अधिक काल तक बैठना उस के भाग्य में न था। जम्मू के राजा ध्यान सिंह के प्रारब्ध का सितारा उन दिनों उन्नति पर था। उस ने इच्छा प्रकट की कि उस के बेटे हीरा सिंह का विवाह राजा संसार चंद की बेटी से हो जाय। महाराजा ने अनिरुद्ध चंद को इस पर विवश किया, परंतु वह अपना वंश जम्मू के राजपूतों से उच्चतर समझता था इस लिए वह और उस की माता इस संबंध पर राजी न हुए। अतएव अनिरुद्ध चंद अवसर पाकर अपने कुटुंब समेत सतलज पार भाग गया और अपनी दोनों बहिनों का विवाह गढ़वाल के राजा से कर दिया। महाराजा ने उस के इलाके पर अधिकार कर लिया, और राजा संसार चंद की दूसरी दो बेटियों के साथ जो एक गुलाब दासी की कोख से थी, महाराजा ने आप विवाह कर लिया और संसार चंद के दूसरे बेटे फ़तेह चंद को एक लाख की जागीर प्रदान कर दी।

मिश्र दीवान चंद की मृत्यु

मिश्र दीवान चंद महाराजा के दरबार का एक उच्च व्यक्ति था, जिस ने मुल्तान, कश्मीर और मनकेरा की विजयों में बड़ा भाग लिया था। वह मौजा गेंदलांवाला ज़िला गुजरांवाले के एक निर्धन ब्राह्मण घराने में पैदा हुआ था। जब बड़ा हुआ तो महाराजा की सेना के तोप विभाग में गोलची के रूप में नौकर हुआ। थोड़े ही समय में महाराजा को उस की वीरता का पता चल गया और वह उन्नति करता-करता जनरल के पद पर जा पहुँचा। अचानक कौलंज (शूल) का दर्द हुआ और ४ सावन संवत् १८८२ वि०, तदनुसार १६ जुलाई १८२५ ई० को इस असार संसार से चल बसा। महाराजा को इस बहादुर जनरल के मरने का बड़ा रंज हुआ। दीवान के शव का, फ़ौजी नियमों के अनुसार बड़े आदर व प्रतिष्ठा के साथ दाह किया गया। महाराजा मिश्र दीवान चंद के संबंध में ऊँची राय रखता था, और उसे हर प्रकार से प्रसन्न रखता था।

जनरल वंतूरा का विवाह—सन् १८२५ ई०

इसी वर्ष जनरल विंतूरा का विवाह एक अंग्रेज़ स्त्री से हुआ जिस का प्रबंध कप्तान वेड ने लुधियाना में किया था। महाराजा ने इस अवसर पर वंतूरा को दस हज़ार रुपया तंबूल में दिया और तीस हज़ार रुपया अमीरों और रईसों ने दिया।

सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया की अप्रसन्नता—सन् १८२६ से १८२८ ई० तक

सरदार फ़तेह सिंह अहलूवालिया का वकील चौधरी क़ादिर बख़्श जो महाराजा के दरबार

में रहा करता था अत्यंत षड्यंत्री मनुष्य था। उस ने कुछ समय से उपर्युक्त सरदार के विशेष परामर्शकारी दीवान शेर अली ख़ां के साथ मिल कर सरदार साहब को लाहौर दरबार से ग़लत ख़बरें भेजनी आरंभ की थीं। सरदार फ़तेह सिंह शेर अली पर पूरा भरोसा रखता था और सदा उस के परामर्श पर चलता था। अब दोनों ही द्वारा उसे यह बतलाया गया कि महाराजा शीघ्र ही उस के इलाक़े पर हाथ साफ़ करना चाहता है, और उस की जान व माल का भय है। अतएव उसे सतलज पार के इलाक़े में भेज दिया। यद्यपि इस में कोई सचाई न थी और न सरदार के पास ही ऐसा मान लेने का कोई कारण था, परंतु महाराजा कई एक सरदारों से ऐसा व्यवहार कर चुका था और हाल ही में रानी सदा कौर के इलाक़ों पर अपना अधिकार जमा चुका था, इस लिए सरदार फ़तेह सिंह के दिल में भी संदेह हो गया, और क़ादिर बख़्श और शेर अली के दाब में आकर अपने कटुंब समेत कपूरथला से भाग कर जगरांव में शरण ली, जो अंग्रेज़ी राज्य के अंतर्गत था। अंग्रेज़ी एजेंट ने उसे अपने इलाक़े में रखने से साफ़ इन्कार कर दिया और साथ ही यह कह दिया कि हम महाराजा और आप के संबंध में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहते। अतएव सरदार फ़तेह सिंह बड़ी असमंजस की अवस्था में था। उधर महाराजा के जी में भी कोई पाप न था इस लिए वह भी चिंतित और दुखी था। अतएव महाराजा ने पत्र-व्यवहार आरंभ किया और सरदार को विश्वास दिलाया कि यदि वह वापस आ जाय तो उस का बाल भी बाँका न होगा। जब सरदार फ़तेह सिंह वापस आने के लिए मान गया तो महाराजा ने अपने पोते कुँवर नौनिहाल सिंह और राजा ध्यान सिंह को उस का स्वागत करने के लिए जगरांवाँ भेजा। जब सरदार दरबार में प्रस्तुत हुआ को बड़ा करुण दृश्य दिखाई दिया। सरदार फ़तेह सिंह ने अपनी तलवार निकाल कर महाराजा के चरणों पर डाल दी और प्रेमभरी रुकती हुई ज़बान से प्रार्थना की कि इस ग़लती के दंड-स्वरूप मुझे मेरी तलवार से दंड दिया जाय। उस समय तमाम दरबार में सन्नाटा छा गया। यह देख कर महाराजा रणजीतसिंह का दिल भी भर आया और उस की आँख से टपटप आँसू गिरने लगे। गद्दी से उठ कर सरदार को बग़ल में ले लिया, उस की तलवार अपने हाथ से म्यान में डाल कर उसे दे दी, और उसे हर प्रकार सांत्वना दी। क्रोध या शिकायत करने के स्थान पर मूल्यवान् ख़िलअत और सजा हुआ हाथी सरदार साहब को प्रदान किया। दूसरे दिन महाराजा स्वय सरदार फ़तेह सिंह के निवासस्थान पर गया और पहले की भाँति उस के इलाक़े की हुकूमत प्रदान की।[1]

अंग्रेज़ी डाक्टर का आगमन—जूलाई १८२६ ई०

जूलाई १८२६ ई० में महाराजा अधिक बीमार पड़ गया। अतएव अंग्रेज़ी सरकार की ओर से डाक्टर मरे की सेवा प्रस्तुत की गई। महाराजा की ओर से डाक्टर मरे का ख़ूब आदरपूर्वक स्वागत हुआ। एक सौ रुपया रोज़ डाक्टर साहब की दावत के लिए दरबार से मंज़ूर हुआ। इस के अतिरिक्त अपने विश्वास तथा प्रथा के अनुसार हज़ारों ब्राह्मणों को पूजा पर बैठाया गया। जब महाराजा को स्वास्थ्य-लाभ हुआ तो हज़ारों रुपये दान किए गए।

कश्मीर का भूचाल—सन् १८२७ ई०

सन् १८२७ में कश्मीर में भारी भूचाल आया जिस से हज़ारों जानें नष्ट हुईं, मकान गिर गए और हज़ारों की संख्या में लोग बेघर तथा निर्धन हो गए। दीवान कृपाराम, कश्मीर के शासक, ने महाराजा की सेवा में प्रजा की बुरी दशा का समाचार भेजा और उस की सिफ़ारिश से उस वर्ष की मालगुज़ारी माफ कर दी गई।[2]

---

[1] विस्तृत वर्णन के लिए देखिए सोहनलाल द० २, पृष्ठ ३४३ [2] दीवान अमरनाथ के अनुमान के अनुसार नौ हज़ार मकान गिर गए, चालीस हज़ार मनुष्य मृत्यु के ग्रास बने और एक लाख रुपए का माल नष्ट हुआ। देखिए ज़फ़रनामा, पृष्ठ १७६, और सोहनलाल द० २, पृष्ठ ३५०

लाहौर में हैजे का प्रकोप

इसी वर्ष लाहौर में हैजे का प्रकोप भी हुआ। सैकड़ों आदमी नित्य मरने लगे। उस समय महाराजा ने सरकारी औषधालयों से मुफ्त औषध दिये जाने की आज्ञा प्रचारित की और हर प्रकार से प्रजा की सहायता की। सरदार बुध सिंह सिंधानवालिया भी इसी बीमारी का शिकार हुआ। सैयद अहमद का विद्रोह मिटा कर पेशावर से वापस आये अभी इस वीर को दो मास ही हुए थे। सरदार के इलाज के लिए महाराजा ने अपना खास हकीम फकीर अजीजुद्दीन सरदार के पास भेजा परन्तु वह बच न सका।

शिमले में सिख मिशन—सन् १८२७ ई०

लार्ड एमहर्स्ट इस वर्ष ग्रीष्म ऋतु बिताने के लिए कलकत्ते से चल कर शिमला आया। अतएव महाराजा रणजीतसिंह ने उस का स्वागत करने के लिए दीवान मोतीराम और फकीर अजीजुद्दीन को मूल्यवान् भेंटें देकर शिमला भेजा, जिनमें कश्मीरी पश्मीने का विशाल शामियाना, कुछ उत्तम घोड़े, एक बड़ा हाथी और शाल का एक अत्यंत सुंदर खेमा, जो कि इंग्लैंड के शाह के लि . था, सम्मिलित थे। शिमले में आदर व समारोह के साथ इन का स्वागत हुआ। कप्तान वेड जो लुधियाने में अंग्रेजी सरकार का एजेंट था इन का मेज़बान नियत हुआ। इन को बिदा करने के लिए गवर्नर जनरल की ओर से एक विशाल दरबार किया गया। इस के बाद अंग्रेजी सरकार के उच्च अफ़सरों का एक गुट्ट महाराजा से भेंट करने के लिए शिमले से चला, और मूल्यवान भेंटें, जिन में दो अच्छे विलायती घोड़े, चाँदी के हौदे से सजा हाथी, रत्नों से जड़ी हुई तलवार, दोनाली बंदूक, नई रीति का तमंचा, हीरे से जड़े हुए दो भाले, कमख़ाब के कुछ थान सम्मिलित थे, अपने साथ लाए, और दीवान मोती राम और फ़क़ीर अजीजुद्दीन को भी उत्तम खिलअतें मिलीं।

ध्यान सिंह और हीरा सिंह—१८२८ ई०

इस से पूर्व इस बात का संकेत किया जा चुका है कि राजा गुलाब सिंह, ध्यान सिंह और सुचेत सिंह का भाग्य-नक्षत्र दिन-दूना रात-चौगुना उन्नति पर था। महाराजा इन तीनों भाइयों पर मुग्ध था। विशेष कर ध्यान सिंह दरबार में बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था। सन् १८१८ ई० में यह जमादार ड्योढ़ी के ऊँचे पद पर नियुक्त हो चुका था और गुलाब सिंह तथा सुचेत सिंह राजा की पदवी प्राप्त कर चुके थे। ध्यान सिंह इस समय प्रधान सचिव के पद पर आसीन था। उस के पद को और भी उच्च करने के लिए महाराजा ने वैसाखी के दिन दरबार आम किया। राजा ध्यान सिंह को मूल्यवान् खिलअत प्रदान करके राजतिलक दिया गया और "राजए-राजगान राजए-हिंदपत राजा ध्यान सिंह बहादुर" की उपाधि प्रदान की।[1]

राजा ध्यान सिंह का बेटा हीरा सिंह जो बड़ा सुन्दर और सचेत युवक था, उन दिनों महाराजा का कृपापात्र बन रहा था। अतएव महाराजा ने उसे भी राजा की उपाधि दी और स्वयं अपने हाथ से उस के माथे पर राजतिलक लगाया। उस वंश का सामाजिक सम्मान बढ़ाने के लिए महाराजा ने यह प्रयत्न भी किया कि हीरा सिंह का विवाह राजा संसार चंद की बेटी से हो जाय। इस की चर्चा पहले हो चुकी है।

खलीफ़ा सैयद अहमद का विद्रोह—सन् १८२७-३१ ई०

इसी वर्ष पेशावर से समाचार आए कि यूसुफ़जई के इलाके में सैयद अहमद ने बड़ा विद्रोह मचा रक्खा है। सैयद अहमद का वास्तविक नाम मीर अहमद था। वह ज़िला बरेली का निवासी

[1] ज़फ़रनामा, पृ० १८४

था। आरंभ में यह अमीर ख़ाँ रुहेला की सेना में नौकर था। परंतु जब अमीर खाँ ने अंग्रेजों की प्रभुता स्वीकार कर ली यह उस की नौकरी छोड़ आया और दिल्ली में रह कर इसलाम धर्म के प्रचार में लग गया। बाद में उसकी हैसियत एक धार्मिक नेता की हो गई। सन् १८२१ ई० में खलीफा सैयद अहमद मक्का व मदीना की तीर्थयात्रा को गए थे, फिर ३ वर्ष के पीछे हिन्दुस्तान में जब वापस आए तो उन के सैकड़ों मुरीद हो गए, और हज़ारों रुपया उन के पास आना शुरू हो गया। दिल्ली के दो-तीन योग्य और प्रसिद्ध विद्वान्, मौलवी अब्दुलहई और मौलवी इस्माइल इत्यादि उन के साथ हो गए। इस्लाम धर्म में जो त्रुटियाँ आ गई थीं उनको यह लोग निकाल देना चाहते थे, साथ ही उनको यह अनुभव कर के शोक होता था कि बड़ी तीव्र गति से इस्लामी राजधानियाँ अपनी शक्ति और अपना सम्मान खो रही हैं और उनका स्थान देश में अंग्रेज़, मरहठे तथा सिख ले रहे हैं। चुनांचे इन दोनों बातों की ओर वह मुसलमानों का ध्यान दिलवाना और उन को जिहाद के लिये प्रेरणा करना चाहते थे।

मन में तो खलीफ़ा अंग्रेजों के भी विरुद्ध था परन्तु उसे यह स्पष्ट हो चुका था कि इनके साथ झगड़ा छेड़ देने से उसे अपने कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होगी। इसके चलाए हुए आंदोलन के केन्द्रीय स्थान अंग्रेजी इलाके में ही थे जैसे पटना, लखनऊ और देहली जिनको अंग्रेज अफ़सर शीघ्र ही दबा सकते थे, अतएव खलीफ़ा ने सिक्खों की मुसलमान जनता को जाकर भड़-काने का फैसला किया। पंजाब के सरहदी इलाके में पठान लोग निवास करते थे, यह अनपढ़ भी थे और धर्म (मजहब) के दीवाने भी, तथा मौलवियों और क़ाज़ियों के कथनानुसार चलते थे इसलिए खलीफ़ा का काम इस प्रांत में आसान था; तथा अंग्रेज भी इसकी कार्यवाहियों पर आंख बंद कर लेते थे क्योंकि इनको भी यही भाता था कि रणजीतसिंह के राज्य में कुछ गड़बड़ मची रहे।

अब खलीफ़ा और उसके साथी शिकारपुर, सिंध होते हुए कंधार और फिर काबुल पहुँचे। वहां अपने धार्मिक मंतव्यों की शिक्षा आरंभ कर दी। वहां ज्यादा सफलता न हुई। बाद में पेशावर आये; मुहम्मदी झंडा ऊँचा किया, जिसके नीचे पखली, धमतूर, सवेत और बुनेर इत्यादि इलाक़ों के अफ़ग़ान क़बीलों ने एकत्रित होना आरंभ कर दिया। उन्हों ने सिक्खों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) का फ़तवा दिया।[1] जिस पर संपूर्ण सरहदी सूबे में विद्रोह फैल गया। स्वाभाविक रूप से महाराजा रणजीतसिंह को अपने थानों, चौकियों और गढ़ों के लिए जो अटक पार स्थित थे, डर पैदा हो गया। हजारे का यह इलाका पहले ही से बिगड़ा हुआ था। चुनांचे इसको दंड देने के लिए महाराजा ने मार्च १८२७ में सिंधानवालिया सरदार बुद्धसिंह के नेतृत्व में फ़ौज का एक दल लाहौर से भेजा और पेशावर के शासक यार मुहम्मद ख़ाँ को आज्ञा दी कि वह अपनी सेना उनकी सहायता के लिए भेजे। बुद्ध सिंह ने जाते ही अटक पार कर लिया और खतक के इलाके में अकोड़ा के स्थान पर डेरा डाल दिया, ताकि शत्रु को किला अटक तथा खैराबाद की ओर जाने से रोक दे।

अकोड़ा का युद्ध

खतक-वंश का सरदार फीरोज़ख़ाँ सन् १८२३ में मर चुका था। अब उसके बेटे अब्बास खाँ तथा छोटे भाई में सरदारी के लिए लड़ाई छिड़ गई। पेशावर-नरेश यार मुहम्मद खां ने अब्बास खां को अपने पास पेशावर में कैद कर रखा था और उसके चचा को खतक प्रदेश की सरदारी सौंप दी थी। महाराजा रणजीतसिंह अब्बास खां को अपने हाथ में रखना चाहता था। खलीफा ने फीरोज़ खां के भाई की सहायता से जो कि इस प्रदेश को अच्छी तरह जानता था, अवसर पाकर एक रात सहसा सरदार बुद्धसिंह के डेरे पर धावा बोल दिया। डेढ़-दो घंटे तक

[1] ज़फ़रनामा, पृ० १७५

घमासानयुद्ध हुआ। चार सौ से अधिक सिक्ख सैनिक मारे गये किन्तु शत्रु की भी काफी हानि हुई। आखिर पठानों ने वहाँ से भागने में ही भलाई समझी।[1]

जहाँगीरे का मोर्चा

यद्यपि सरदार बुद्धसिंह की सेना ने रात्रि के आक्रमण का डटकर मुकाबला किया और अंत में अफगानी कटक को लौटने पर मजबूर कर दिया, तथापि सिंधावालिया सरदारों ने भलाई इसी में समझी कि किसी सुरक्षित स्थान पर मोर्चा लगाया जाय। चुनांचे सवेरा होते ही उन्होंने दस मील पीछे की ओर जाकर जहांगीरा के स्थान पर अपने मोर्चे पक्के कर लिये। यहां पर महाराजा की भेजी हुई दूसरी सेना राजा गुलाब सिंह, राजा सुचेत सिंह, सरदार श्याम सिंह, जय सिंह तथा जगत सिंह अटारीवालों की कमान में उनसे आ मिली। इसके अतिरिक्त डेरा चहार यारी और डेरा अरदलियां के घुड़सवार भी आ पहुँचे। खालसा सेना की कुल संख्या दस हजार के लगभग हो गई और उनके पास दस-बारह तोपें भी थीं।

किंतु इसी बीच में खलीफा की सेना की संख्या में भी बहुत वृद्धि हो गई और सरदार यार मुहम्मद खां पेशावरवाला भी उसके साथ आ मिला। सब ने मिलकर खालसा मोर्चों को आ घेरा। सरदार बुद्ध सिंह जरा भी न घबराया। उसने अपने मोर्चे के गिर्द तोपें, जंबूरेक तथा रहकले गाड़कर उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध कर लिया और लाहौर से अधिक सहायता मँगवा भेजी।

गीदड़ गल्ला की लड़ाई

दोनों सेनाएँ एक दूसरे के विरुद्ध तैयार खड़ी थीं। पठान लोग अवसर पाकर खालसा सेना के इक्के-दुक्के डेरों पर छापे मारा करते और खालसा सेना की माली व जानी हानि कर जाते। शत्रु-दल जो कि चप्पा-चप्पा धरती से परिचित था, एक दिन तंग पहाड़ी दर्रों की राह से निकलकर सहसा गीदड़ गल्ला के स्थान पर आ विद्यमान हुआ और खालसा मोर्चों पर आ पड़ा। पहले तो खालसा सेना के लिए सम्हलना कठिन हो गया किंतु सरदार हरि सिंह के ललकारने पर एक ओर से गुलाब सिंह तथा दूसरी ओर से राजा सुचेत सिंह के नेतृत्व में राजपूत योद्धा पठानों के मुकाबले पर डट गये। दो ही घड़ी में युद्ध का पांसा पलट गया और शत्रु वहां से भागने पर विवश हो गया।

सैदो गाँव का युद्ध

नियमानुसार ऐसे अवसर पर महाराजा को लाहौर में रणभूमि से दैनिक समाचार-पत्र आया करते थे। चुनांचे अपनी सेना की विवशता को देखकर महाराजा ने शीघ्र ही सहायता भेज दी। इस सहायक सेना की कमान राजकुमार शेरसिंह के हाथ में दी गई और राजकुमार की सहायता व सलाह के लिये फ्रांसीसी जरनैल वन्तुरा को भी साथ भेजा गया। यह सेना दिन-रात चलती हुई शीघ्र ही अटक के पास आ पहुँची। ज्योंही शत्रु को इस सहायक-सेना के आने की सूचना मिली तो उसने यह निश्चय कर लिया कि इस ताजा दम सेना के पहुँचने से पहले खालसा के साथ निर्णायक युद्ध कर लेना चाहिये। चुनांचे ऐसा ही हुआ। खलीफा ने एक बड़े पैमाने पर आक्रमण शुरू कर दिया। इधर खालसा सेना की नाका-बन्दी हुये कई दिन हो चुके थे। उनके मोर्चों में खाद्य-पदार्थों की कमी हो रही थी। चुनांचे वे भी निकल खड़े हुये। आखिर सैदो के स्थान के पास १४ फागुन, सम्वत् १८८३ वि० वाले दिन वह घमासान रण हुआ कि

---

[1] गणेशदास ने इस घटना का अपने छन्दों में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

लाशों के ढेर लग गये।[1] दीवान अमरनाथ के अनुमानानुसार खलीफा के छः हजार आदमी मारे गये।

अभी युद्ध का परिणाम बीच में ही लटक रहा था कि बुद्धिमान सरदार बुद्धसिंह की नीति अपना फल लाई। इसके समझाने-बुझाने पर यार मुहम्मद खां ने सैयद अहमद खलीफा का साथ छोड़ दिया। इसका परिणाम यह निकला कि मुलख्या अफगानी सेना सुशिक्षित खालसा दल के सामने बहुत देर न ठहर सकी। खलीफा भी अवसर पाकर अपने चोटी के दो चार साथियों समेत भाग निकला और सारी युद्ध-सामग्री खालसा के हाथ लगी।

यार मुहम्मद का दोबारा पेशावर का शासक नियुक्त होना

खलीफा सैयद अहमद अभी भाग ही रहा था कि राजकुमार शेर सिंह तथा फ्रांसीसी जनरल वन्तुरा अटक नदी को पार करके रणभूमि में आ धमके। यार मुहम्मद खां राजकुमार सम्मुख उपस्थित हुआ और अपने किये पर पछताया। चुनांचे राजकुमार ने पेशावर राज्य का शासन-प्रबन्ध फिर उसी को सौंप दिया और स्वयं खालसा सेना के साथ वापस लाहौर हो लिया।

सरदार यार मुहम्मद का वध

उसके अगले वर्ष ख़लीफ़ा सैयद अहमद ने एक और प्रस्ताव किया और अपने मुरीदों को सरदार यार मुहम्मद ख़ां के विरुद्ध उभाड़ा कि यह व्यक्ति सिखों की अधीनता स्वीकार करता है, अतएव इसे ठीक करना चाहिए। चालीस हजार ग़ाज़ियों की सेना एकत्र करके ख़लीफ़ा ने पेशावर पर आक्रमण कर दिया और बारकज़ई सरदार को परास्त करके स्वयं पेशावर पर अधिकारी हो गया। सरदार यार मुहम्मद इस युद्ध में मारा गया और उसका तोपख़ाना सैयद मुहम्मद के हाथ आया।

सुल्तान मुहम्मद ख़ां की नियुक्ति—सन् १८३० ई०

पेशावर पर सैयद अहमद का अधिकार हो जाने के कारण रणजीतसिंह कुछ घबराया। तुरंत, राजकुमार शेरसिंह और जनरल वितूरा को, जो उस समय अटक के आस-पास दौरा कर रहे थे यह आज्ञा मिली कि वह पेशावर पहुँचें। उन्होंने आते ही सैयद अहमद के लश्कर को घेर लिया और घमासान युद्ध के उपरांत पेशावर पर अधिकार कर लिया। सैयद अहमद ख़ां वहां से भाग गया। महाराजा ने यार मुहम्मद के भाई सुल्तान मुहम्मद ख़ां को वापस बुला लिया और पेशावर के शासन-पद पर नियुक्त किया।

लैला नामी घोड़ा

लैला नामी घोड़ा अपने समय का प्रसिद्ध और असामान्य जानवर था, जो बारकज़ई सरदार के अधिकार में था। दीवान अमरनाथ के लेख से प्रतीत होता है कि इस घोड़े के लिए रूम के बादशाह और शाह ईरान की तरफ़ से बारकज़ई सरदारों के पास माँगें आई थीं, जिस के बदले वह बहुत धन देने को तैयार थे। पिछले वर्ष महाराज रणजीतसिंह ने भी उस के लिए प्रयत्न किया था, परंतु यार मुहम्मद ने यह कहकर टाल दिया था कि वह घोड़ा मर चुका है, और उसके बदले अन्य सुंदर और अच्छी चाल के घोड़े महाराजा को भेंट कर के अपना पीछा छुड़ा लिया था। अतएव इसे पेशावर की सरदारी प्रदान करने से पूर्व महाराजा ने लैला को माँगा और सुल्तान मुहम्मद

---

[1] खलीफा के अनुमान अनुसार १००० सिख सैनिक मारे गये। दे० इण्डियन हिस्टॉरिकल रिकार्ड प्रोसीडिंग्ज, जनवरी १९५५ पृ० १७७।

ख़ा ने यह अद्वितीय घोड़ा महाराजा को भेंट कर दिया। इस ख़ुशी में महराजा ने वंतूरा को जो घोड़े को अपने साथ लाया था दो हजार रुपये मूल्य की खिलअत प्रदान की।

सैयद अहमद की मृत्यु—मई सन् १८३१ ई०

महाराजा की सेना ज्योंही पेशावर से वापस आई खलीफ़ा सैयद अहमद ने फिर विद्रोह खड़ा किया। एक साल से अधिक यही क्रम जारी रहा। सुल्तान मुहम्मद खाँ उन्हें परास्त करता परंतु कभी-कभी वह सुल्तान की अपेक्षा प्रबल सिद्ध होते। अंत में कई कारणों से अफ़ग़ान लोग खलीफ़ा से विमुख हो गये और उनकी हत्या पर तुल गये।[1] अतएव वह यूसुफ़ज़ई इलाके से निकलकर मुज़फ़्फ़राबाद ज़िले में चले आये, क्योंकि यहाँ अभी तक उनमें विश्वास करने वाले शेष थे। इस लिए उनकी सहायता से अप्रैल १८३१ ई० में खलीफ़ा नें किला मुज़फ़्फ़राबाद में मोर्चा लगा दिया। कुछ समय तक खालसा सेना के साथ यहां पर युद्ध चलता रहा। अंत में मई सन् १८३१ में एक मुठभेड़ में खलीफ़ा और उनके सलाहकार मौलवी इस्माइल, दोनों बालाकोट के स्थान पर शहीद हो गये और यह विद्रोह समाप्त हो गया।[2]

काश्मीर का कुप्रबन्ध

कुछ समय से काश्मीर का सूबा राजकुमार शेरसिंह के अधीन था। दीवान बिसाखा सिंह उसका माल अफसर था। परंतु दीवान ने ईमानदारी के नियमों का पालन न किया और न राजकुमार ने ही रियासत के प्रबंध की ओर ध्यान दिया। अतएव महाराजा के पास काश्मीर के कुप्रबंध के समाचार लगातार आने लगे। रणजीतसिंह ने जमादार खुशहाल सिंह, भाई गुरमुख सिंह और शेख गुलाम मुहीउद्दीन को प्रबंध के सुधारने के लिए भेजा। परन्तु ऐसा जान पड़ता है इन्होंने भी प्रायः प्रजा का खून चूसना ही उचित समझा।

काश्मीर में अकाल

इसी वर्ष काश्मीर में फसल न होने के कारण अकाल पड़ गया, जो इतना प्रबल था कि हज़ारों घराने अपने देश से विदा होकर पंजाब तथा देश के दूसरे भागों में जा बसे। दीवान अमर नाथ के लेख से मालूम होता है कि ऐसा भयंकर अकाल काश्मीर में पिछले दो सौ वर्षों में नहीं देखा गया था। महाराजा ने इस अवसर पर बड़ी उदारता से काम लिया। लाहौर तथा अमृतसर में असहायों की सहायता के लिये जगह जगह पर गल्लेखाने खोल दिये गये, जहाँ अकाल-पीड़ितों को भोजन का सामान मुफ़्त मिलता था, व सरकारी गोदामों से हजारों मन गेहूँ काश्मीर भेजा गया। जो अनाज व्यापारी लोगों ने काश्मीर भेजा उसको भी महाराजा ने महसूल चुंगी से मुक्त कर दिया।

दीवान बिसाखासिंह और शेख गुलाम मुहीउद्दीन को दण्ड

महाराजा को संदेह था कि इन दो व्यक्तियों ने मिलकर सरकारी रुपया हड़प लिया

---

[1] खलीफ़ा और उसके हिंदुस्तानी मौलवी और काज़ी दिन प्रति दिन नये नये फ़तवे दिया करते और शादी विवाह की प्रचलित रसमों में भी हस्तक्षेप किया करते जो पठानों को स्वीकार न थीं। [2] दीवान अमरनाथ इस संबंध में लिखते हैं कि कुँवर शेरसिंह ने जो इस समय खालसा सेना का नायक था खलीफ़ा की लाश को अपने सामने मँगवाया और एक कुशल चित्रकार से उसका चित्र बनवाया। जो बाद में राजकुमार ने महाराजा की सेवा में पेश किया। महाराजा ने चित्र को देखकर अपने वीर शत्रु की बड़ी प्रशंसा की। (ज़फ़रनामा-रणजीतसिंह पृ० १६५)। सैयद मुहम्मद लतीफ़ का लिखना कि कुँवर शेरसिंह ने खलीफ़ा का सिर कटवाकर महाराजा के पास लाहौर भेजा था, नितांत मिथ्या और निराधार है।

है। अतएव दोनों दण्ड के पात्र हुये। बिसाखा सिंह पाँव में जंजीर बाँधकर लाहौर लाया गया और चार लाख रुपया उससे प्राप्त किया गया। शेख गुलाम मुहीउद्दीन के संबंध में महाराजा को बताया गया कि उसने अपने वासस्थान होशियारपुर में अपने मकान में नकद रुपया ज़मीन में गाड़ रखा है और संदेह को मिटाने के लिये अपने मुर्शिद की कब्र उस स्थान पर बनवा ली है। महाराजा की आज्ञा से यह कब्र खुदवाई गई जिसमें से नौ लाख रुपया मूल्य का सोने चाँदी और नक़द रुपया प्राप्त हुआ, जिस पर महाराजा ने व्यंग में शेख से कहा कि तुम्हारे मुर्शिद की पूजा व्यर्थ नहीं गई क्योंकि उसकी हड्डियाँ सोने चाँदी में बदल गई हैं। शेख अपने पद से हटाया गया और यह तमाम रुपया सरकारी खज़ाने में दाखिल हुआ।

कुँवर नौनिहाल सिंह का विवाह (मार्च १८३८ ई०)

कुँवर नौनिहाल सिंह का विवाह सरदार शाम सिंह अटारी वाले की सपुत्री के साथ हुआ था। महाराजा रणजीत सिंह के जीवन के अन्तिम दो वर्षों में यह एक विशेष घटना है। इस अवसर पर लगातार कई दिन तक खुशी के उत्सव मनाये गये जिसमें महाराजा के दरबारी और लाहौर तथा अमृतसर के बड़े-बड़े धनाढ्य व्यक्ति सम्मिलित हुये। लगभग प्रत्येक उत्सव में तमाशा देखने के लिये आने वाले निर्धन लोगों को नक़द रुपये पैसे प्रदान किये जाते थे।

इस प्रकार धूम धाम से विवाह रचाने का एक कारण तो यह था कि ऐसा सौभाग्यपूर्ण तथा अनुपम अवसर महाराजा के वंश में एक दीर्घकाल के बाद प्राप्त हुआ था। कई पीढ़ियों से रणजीत सिंह के पूर्वजों में से किसी के भाग्य में भी अपना पोता देखना नहीं बदा था। सरदार चढ़त सिंह अभी छोटी अवस्था में ही था कि उस का बाप इस असार संसार को छोड़ चुका था। इसी प्रकार महाराजा का पिता सरदार महा सिंह भी अल्पवयस्क ही था कि उसके बाप का स्वर्गवास हो गया। स्वयं रणजीत सिंह भी अभी दसवें ही वर्ष में था कि महा सिंह को मृत्यु ने आन घेरा। यह सौभाग्य रणजीत सिंह को ही प्राप्त हुआ था कि इसे अपने पोते का शुभ विवाह देखने को मिला।[1]

इसके अतिरिक्त इन दिनों महाराजा की शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई थी और कोष भी भरपूर था। दूर दूर के राजाओं, महाराजाओं तथा नवाबों को विवाह में सम्मिलित होने के निमन्त्रण भेजे गये, जिन्हें इन लोगों ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और बारात में शामिल होकर इसे सुशोभित किया। अंग्रेज़ों की ओर से सर हैनरी फेन प्रधान सेनापति ने अन्य कुछ उच्चाधिकारियों सहित विवाह में भाग लिया।

शुभ मुहूर्त के अनुसार महाराजा ने १७ फागुन को लाहौर से प्रस्थान किया और १९ फागुन को अमृतसर नगर में प्रवेश किया। दूसरे दिन विवाह की रीतियाँ प्रारम्भ हो गईं। सबसे पहले वर को तेल और उबटन (वटना) मलकर स्नान करवाया गया और फिर उसकी कलाई पर कँगना बाँधा गया। इस अवसर पर महाराजा ने अपने कर-कमलों से पाँच सौ रुपया नक़द और चन्द एक सोने की अशर्फियाँ और बुतकियाँ तेल के पात्र में डालीं और कुँवर

[1] मुन्शी सोहनलाल लिखता है कि एक समय विवाह की रीतियाँ समाप्त होने पर जब महाराजा और उस की स्त्री महारानी दातार कौर इकट्ठे हुये तो सहसा महाराजा के मुख से ये शब्द निकले "हम बड़े सौभाग्यशाली हैं कि ऐसा शुभ दिवस जो कि हमारे बाप दादा के भाग्य में नहीं था, हमें प्राप्त हुआ है। मैं ईश्वर का कोटि कोटि बार धन्यवाद करता हूँ।" (दे० तृतीय पृष्ठ ३७८)

के मुँह पर अपने हाथोंसे उबटन लगाया। इस के पश्चात् स्त्रियों ने इस रीति को विधिपूर्वक निभाया।[1]

२४ फागुन तदनुसार ५ मार्च १८३७ ई० को सर हैनरी फेन भी अमृतसर आ पहुँचा। उस का बहुत भव्य स्वागत किया गया। दूसरे दिन मध्यान्हपूर्व महाराजा रणजीत सिंह और सर हैनरी फेन की परस्पर भेंट हुई। महाराजा एक बढ़िया सुसज्जित हाथी पर चढ़ कर अपने अमीरों के साथ, जो कि तिल्लेदार पोशाकें पहने हुए सुन्दर घोड़ों पर चढ़े हुए थे, कमांडर-इन-चीफ़ के स्वागत के लिये राम बाग से निकला। उधर से सर हैनरी फेन भी अपने हाथी पर सवार हो कर दूसरे कर्मचारियों के साथ चला आ रहा था। रास्ते में सड़क की दोनों ओर लगभग आधे मील तक सुसज्जित खालसा सेना के योद्धा खड़े हुए थे। जब मार्ग के मध्य में महाराजा और हैनरी फेन के हाथी बराबर हुए तो अंग्रेज़ी कमाण्डर झट अपने होदे में से निकल कर महाराजा के होदे में आ गया और अंग्रेजी रीति के अनुसार महाराजा के साथ बड़े उत्साह से हाथ मिलाया। इस के पश्चात् सवारी राम बाग़ में पहुँची। वहाँ महाराजा ने अपना वेतान बड़े सुचारु रूप से सजवाया था। फर्श पर बढ़िया काश्मीरी कालीन और पश्मीने बिछे हुये थे। खेमे की छत चाँदी के स्तम्भों पर खड़ी हुई थी और ठीक मध्य में ३१ सोने तथा चाँदी की कुर्सियाँ लगाई गई थीं। दरबार सजने पर हैनरी फेन ने ५००० रुपया सरवारने के रूप में भेंट किया। इतने ही रुपये महाराजा ने प्रधान सेनापति के सिर से वारे और उसे भेंट किये। तत्पश्चात् २१०० सोने की बुतकी और दो बढ़िया घोड़े और दो हाथी तथा बहुत सी मिठाई और मेवे उन के डेरे पर भेजे गये।

दोपहर के पश्चात् तम्बोल की रीति के लिये दोबारा मजलिस हुई। इस में भी सर हैनरी शामिल हुआ। सब से पहले दरबार साहिब के ग्रन्थियों की ओर से १२५ रुपये की रकम तम्बोल के रूप में भेंट की गई। इस के पश्चात् सभी अधिकारियों ने तम्बोल पेश किया। तम्बोल का धन सैयद मुहम्मद लतीफ़ के लेख के अनुसार पचास लाख था परन्तु सैयद साहिब ने यह नहीं लिखा कि यह सूचना आप को कहाँ से प्राप्त हुई है। मुन्शी सोहनलाल की पुस्तक में दिये गये आँकड़ों का जोड़ १०,८०,४४० रु० बनता है।[2]

७ मार्च को प्रातःकाल स्नान से निवृत्त हो कर महाराजा माथा टेकने के लिये हरमन्दर साहिब में गया, पाठ सुना और ११०० नक़द की अरदास करवाई। इस के बाद अकाल बुंगा, शहीद बुंगा, झण्डा बुंगा, दुख भंजनी साहिब और बाबा अटल आदि स्थानों पर नियमानुसार अरदास के लिये भी नक़द रुपया भेंट किया और फिर शीश महल में लौट कर बारात के प्रस्थान की तैयारी में लग गया। दोपहर के पश्चात् बारात अटारी के लिये रवाना हो पड़ी। रात को बोपेराय नामक स्थान पर बारात विश्राम के लिये ठहरी। दैवयोग से वहाँ उसी रात बड़े ज़ोर की वर्षा

---

[1] मुन्शी सोहनलाल इस सम्बन्ध में एक मनोरंजक बात का उल्लेख करता है। वह लिखता है कि जब सब लोग दूल्हा को वटना लगा रहे थे और आपस में हँसी खेल कर रहे थे तो रानी दातार कौर की बहन अर्थात् महाराजा की साली ने महाराजा के मुँह पर भी वटना लगा दिया। रणजीत सिंह ने प्रसन्न होकर उसे पाँच सौ रुपये की भरी हुई थैली प्रदान कर दी। परन्तु उस ने कहा कि "महाराज यदि कुछ देना है तो एक जागीर ही प्रदान कर दें। चुनाँचे शीघ्र ही जागीर की आज्ञा कर दी गई। देखो द० ३ पृष्ठ ३६६।

[2] मुन्शी सोहनलाल ने अपनी पुस्तक में दरबार के सरकारी रजिस्टर से उद्धृत करके कुछ रकमें दर्ज कर रखी हैं। अन्य लोगों के साथ इस में १५,७०० रु० की रकम कमाण्डर-इन-चीफ़ सर हैनरी फेन की ओर से तम्बोल के रूप में दिखलाई गई है (द० ३ पृ० ३७१)। इसी पुस्तक के द० २ के ७१वें पृष्ठ को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि कुँवर खड्ग सिंह के विवाह पर अर्थात् २९ वर्ष पूर्व अंग्रेज़ों की ओर से केवल ५,००० रु० तम्बोल पेश किया गया था।

हुईं और ओले पड़े। तम्बू और कनातें भीग गईं और बहुत से लोग रात भर विकल रहे। प्रातः काल पहले तो महाराजा ने ग्रन्थ साहिब का पाठ सुना और फिर दरबार लगाया। वहाँ सभी कर्मचारी उपस्थित थे। सेना के अफसरों को आदेश दिया गया कि वे स्वयं इस बात को देखें कि प्रत्येक सिपाही तथा अफ़सर अपनी अपनी नई पोशाक व कलग़ी व जीग़ा, जो कि इस अवसर पर सरकार की ओर से प्रदान किया गया था, पहने और पल्टनें, सवारी सेना, और तोपखाना नियम के अनुसार जलूस में चलें ताकि किसी प्रकार की अव्यवस्था प्रकट न हो। चुनाँचे इस का प्रभाव यह पड़ा कि सर हैनरी फेन खालसा सेना की व्यवस्था और शिष्टाचार देख कर चकित रह गया।[1]

बारात के जुलूस में महाराजा के हाथी के साथ १६ दूसरे हाथियों पर अमीर लोग सवार थे और प्रत्येक हाथी पर दो दो हज़ार की थैलियाँ भर कर रखी हुई थीं, जो रास्ते में एकत्र हुए निर्धन दर्शकों में बाँटी गईं। देश के प्रत्येक भाग में लोग तमाशा देखने के लिये आये हुए थे। अनुमान कुछ इस प्रकार है कि दो तीन लाख से अधिक लोग एकत्र हो रहे थे।

जिस समय बारात अठारी के समीप पहुँची तो तोपखाने ने सलामी उतारी। उधर से सरदार शामसिंह पैदल बारात के स्वागत के लिये आ पहुँचा। वहाँ से चलकर सभी सरदार की हवेली में आये जो कि सुरक्षित क़िले की शक्ल की बनी हुई थी। यहाँ मिलनी की रस्म अदा हुई। सरदार शामसिंह ने ग्यारह बढ़िया घोड़े व एक सौ सोने की बुतकी महाराजा साहिब को और २५ बुतकी कुँवर खड्गसिंह को भेंट की। इसी प्रकार क्रमशः दूसरे रईसों को भी नक़दी भेंट की गई।

सरदार श्यामसिंह ने बारात की आव-भगत करने में कोई कसर न उठा रखी। प्रत्येक मेहमान के लिये उस की पद्धति के अनुसार आवश्यक सामग्री दी गई। नेज़ा बाज़ी, शमशेरज़नी तथा बाज़ीगरी के बढ़िया प्रदर्शन करने वालों ने बारातियों का मनोरंजन किया। दहेज में छः हाथी, एक सौ घोड़े, एक सौ ऊँट, एक सौ गाय, एक सौ भैंस इत्यादि तथा पश्मीना, कमख्वाब और अन्य प्रकार के बहुत बढ़िया वस्त्र तथा गहने दिये। अनुमान लगाया जाता है कि सरदार शामसिंह का इस विवाह पर पन्द्रह लाख रुपया व्यय हुआ।

१८ मार्च को महाराजा की आज्ञानुसार अटारी में एक बड़ा इहाता अथवा बाड़ा तैयार किया गया, जिस में दान लेने वालों को प्रवेश करने की आज्ञा दी गई। इस बाड़े का फैलाव तीन मील (फरसंग) के लगभग था और इस में कई द्वार थे। प्रत्येक द्वार पर एक-एक, दो-दो अफसर नियुक्त किये गये थे। जितनी संख्या में जीवधारी इस बाड़े में प्रविष्ट हो गये, प्रत्येक को एक रुपया नक़द दान के रूप में देने की आज्ञा दी गई। इस अवसर पर कई एक बड़ी दिलचस्प घटनायें घटीं। एक फकीर तो अपने साथ कुत्तों का समूह लाया जिसे एक रुपया प्रति जीव महाराजा की ओर से प्रदान किया गया। इस से भी अधिक अद्भुत घटना यह है कि एक लालची फकीर अपने साथ मकौड़ों की भरी हुई हँड़िया ले आया। पहले तो सभी उसे देख कर किंकर्त्तव्य विमूढ़ रह गये परन्तु राजा ध्यान सिंह ने बुद्धि से काम लेते हुये फकीर से कहा कि भाई अपने मकौड़े गिनो और उतने ही रुपये लो। ज्योंही फकीर ने मकौड़े गिनने के लिये अपनी हँड़िया उठाई तो सभी मकौड़े निरंकुश होकर इधर उधर भागे। फकीर बेचारा उन्हें पकड़ता ही रह गया परन्तु उसके हाथ कुछ भी न आया। इस प्रकार राजा ध्यान सिंह की चतुराई के कारण लालची फकीर हाथ मलता रह गया और सभी लोग यह तमाशा देखकर हँसी के मारे लोट पोट हो गये। (देखो ज़फ़रनामा रणजीत सिंह; कृत दीवान अमरनाथ पृष्ठ २२४)

---

[1] सोहन लाल द० ३ पृष्ठ १७४

जो जीव बाड़ा के द्वार से बाहर निकलता उसे एक रुपया दिया जाता। अनुमान किया जाता है कि दस लाख रुपया बाड़ा में धर्मार्थ दिया गया। बाड़े का प्रबन्ध मिश्र बेली राम कोषाध्यक्ष, जनरल वन्तूरा प्रधान सेनापति, राजा ध्यान सिंह प्रधान मन्त्री, व जमादार खुशहाल सिंह के सुपुर्द किया गया ताकि यह कठिन कार्य सुगमता से पूर्ण हो सके।[1]

आशय यह है कि कुवँर नौनिहाल सिंह का विवाह क्या था मानों सारा पंजाब निहाल हो गया।

बारात ६ मार्च को डोली लेकर ख़ुशी के शादियाने बजाती हुई वापस लौटी। सर हैनरी फेन तथा अन्य अंग्रेज अतिथियों को महाराजा ने कई दिन और ठहरने के लिये आमन्त्रित किया। इस निमन्त्रण को सर हैनरी फेन ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया और लगभग दस दिन तक लाहौर में अपने साथियों सहित निवास किया।

सर हैनरी फेन का मन्तव्य

सर हैनरी फेन बड़ा कुशल सेनापति था और इस समय रणजीत सिंह का निमन्त्रण स्वीकार करने में उस का एक अभिप्राय यह भी था कि पंजाब की सैनिक शक्ति तथा खालसा सेना के युद्ध कौशल का अनुमान लगाया जा सके। इस अभिप्राय के लिये वह युद्ध विद्या में निपुण करनल गार्डन को भी साथ लाया जो कि बंगाल की ब्रिटिश सेनाओं का क्वार्टर मास्टर जनरल था। महाराजा रणजीत सिंह ने अपने अतिथियों की सेवा-सुश्रुषा में कोई कसर न उठा रखी। और कई दिनों तक अपनी सेना के सभी विभागों के युद्ध कौशल से उनके मनोरंजन के साधन जुटाये। इसी बीच में सर हैनरी फेन के साथी गुप्त रूप से पंजाब की पूर्वी सीमाओं का मानचित्र तैयार करने में लगे रहे। चुनांचे बाद में जब १८४५-४६ ई० में अंग्रेजों और सिक्खों के मध्य लड़ाइयाँ लड़ी गईं तो इस मानचित्र के आधार पर अन्य मानचित्र तैयार किये गये।[2] यह था अंग्रेजों का उपहार जो कि उन्होंने महाराजा रणजीत सिंह को उसकी सेवा तथा आतिथ्य के बदले में दिया।

सिक्खों और अंग्रेजों की काबुल पर चढ़ाई (नवम्बर १८३८ ई०)

सन् १८३८ में अंग्रेजों ने रूस के सम्राट से अपनी प्रतिरक्षा के लिये काबुल नरेश दोस्त मुहम्मद को अपने साथ गाँठना चाहा। दोस्त मुहम्मद ने यह विचार करते हुए कि रूस का सम्राट् भी उस से मित्रता स्थापित करना चाहता और अंग्रेज भी ऐसा ही चाहते हैं, अंग्रेजों के सामने यह माँग रखी कि वह उसे रणजीत सिंह से पेशावर वापस दिलवाने में सहायता करें। अंग्रेज उस समय रणजीत सिंह से बिगाड़ करना नहीं चाहते थे, क्योंकि हाल ही में उन्होंने महाराजा को शिकारपुर (सिंध) पर आक्रमण करने से रोक रखा था। चुनांचे दीर्घकालीन विचार-विमर्श और पत्र-व्यवहार के पश्चात् दोस्त मुहम्मद खाँ के साथ गठ जोड़ करने की वार्ता समाप्त कर दी गई और अंग्रेजों ने शाह शुजा-उल-मुल्क को काबुल के सिंहासन पर फिर से समासीन करने का यत्न प्रारंभ कर दिया। रणजीत सिंह को भी इस में भाग लेने के लिये कहा गया। यद्यपि महाराजा को इस में कोई विशेष लाभ दृष्टिगोचर नहीं होता था। बल्कि इस के विपरीत उसे यह भय था कि ऐसा होने से वह स्वयं अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभाव-क्षेत्र के घेरे के भीतर आ जायगा परन्तु अन्त में उसे विवश होकर इस त्रिदलीय-समझौते में शामिल होना ही पड़ा। चुनाँचे रणजीत सिंह ने शाह शुजा से यह शर्त मनवा ली कि यदि वह काबुल नरेश बन गया तो वह सिन्धु नदी के पार के सम्पूर्ण क्षेत्र, जिस में पेशावर व डेरा जात इत्यादि ज़िले सम्मिलित हैं, और जो इस समय महाराजा के अधिकार में हैं,

---

[1] सोहन लाल द० ३ पृष्ठ ३६७ से ३७७ तक। दीवान अमरनाथ, जफरनामा रणजीत सिंह, पृष्ठ २५४ से २५६। [2] देखो, कनिंघम पृष्ठ २१४।

उन पर सदा के लिये अपना दावा छोड़ देगा। दूसरे शब्दों में वह रणजीत सिंह को वास्तविक रूप में इस समूचे इलाके का प्रशासक स्वीकार कर लेगा। रणजीत सिंह का यह भी विचार था कि जब तक काबुल के सिंहासन के लिये इस के वर्तमान-वंश के उत्तराधिकारियों में झगड़े और लड़ाइयाँ होती रहेंगी, तब तक पेशावर पर महाराजा का अधिकार तो निस्सन्देह बना ही रहेगा। साथ ही शाह शुजा को थोड़ी सी सहायता देने में उसने यह लाभ भी सोचा कि जो खालसा सेना शाह के साथ काबुल जायगी, वह दर्रा खैबर के पार के पहाड़ी रास्तों से भली भाँति परिचित हो जायगी।

अन्त में नवम्बर सन् १८३८ में शाह शुजा और अंग्रेजों की सेना फीरोज़पुर के स्थान पर काबुल को जाने के लिये एकत्र हुई। अंग्रेजों का विचार यह था कि सेना सुगमता से लाहौर, जेहलम, रावलपिण्डी और पेशावर के रास्ते से काबुल को कूच कर देगी; परन्तु महाराजा ने अंग्रेजी सेना को पंजाब से गुजरने की आज्ञा न दी। इसलिये इस सेना को सिंध और दर्रा बोलन वाले लम्बे मार्ग से होकर कन्धार और फिर गजनी जाना पड़ा। अलबत्ता शाह शुजा के पुत्र ने अपने छोटे से दस्ते सहित और महाराजा की निजी सहायक सेना ने पेशावर के रास्ते से कूच किया। काबुल जाने वाली महाराजा की सेना की कमान सरदार गुलाब सिंह पोहूवेन्डिया के हाथ में थी। इस आक्रमण में अधिकतर भाग अंग्रेजों ही का था। इसलिये इस का पंजाब के इतिहास के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

लार्ड ऑकलैण्ड और महाराजा की भेंट (दिसम्बर १८३८)

शाह शुजा को काबुल के सिंहासन पर फिर से स्थापित करने का षड्यंत्र गवर्नर जनरल लार्ड ऑकलैण्ड का रचा हुआ ही था। चुनाँचे वह स्वयं कलकत्ता से चलकर फीरोज़पुर में आक्रमण के प्रबन्ध का निरीक्षण करने के लिये आया हुआ था। दूसरे उसकी यह भी इच्छा थी कि जो रिपोर्ट और मानचित्र सर हैनरी फेन ने तैयार किये थे, वह स्वयं भी उन के विषय में जाँच पड़ताल कर सके। महाराजा से भी एक बार मिलने का इच्छुक था परन्तु ब्रिटिश सरकार की श्रेष्ठता के कारण यह बात उसे ठीक नहीं जँची कि मुलाकात करने की प्रार्थना गवर्नर जनरल की ओर से हो। इस लिये कप्तान वेड को लाहौर भेजा गया ताकि वह रणजीत सिंह की ओर से गवर्नर जनरल के प्रति प्रार्थना पत्र भिजवाये। और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। भेंट करने का स्थान फीरोज़पुर ही निश्चित किया गया और भेंट की तिथि ३० नवंबर सन् १८३८ ठहराई गई।

लार्ड ऑकलैण्ड ने बड़ी ठाट-बाट के साथ महाराजा से भेंट की तैयारी कर रखी थी। गवर्नर जनरल का वेतन, जिस में भेंट होनी थी, बहुत ही भव्य था। इस में बहुत मूल्यवान फर्श और कालीन बिछ रहे थे। गवर्नर का अंगरक्षक दस्ता अथवा एस्कार्ट जिसकी संख्या १५००० सैनिकों से कम न थी, बहुत ही सुचारु ढंग से सुसज्जित था। इन सब चीज का भाव यह था कि एक बार रणजीत सिंह तथा उस के दरबारियों पर अंग्रेजों के बल का प्रभाव पड़ जाय।

१३ मघर संवत् १८९५ को महाराजा फीरोज़पुर की ओर चल पड़ा। स्वास्थ्य खराब होने के कारण आराम के साथ पड़ाव पड़ाव करता हुआ वह १५ को फीरोज़पुर में पहुँच गया। इस दिन महाराजा की कुशल-क्षेम पूछने के लिये लार्ड ऑकलैण्ड की ओर से उच्चकोटि के अफसर नियुक्त किये गए। इसी प्रकार महाराजा ने युवराज खड्ग सिंह, सरदार अजीत सिंह सिंधानवाला, सरदार धना सिंह मलवई, सरदार अर्जुन सिंह नलुवा तथा फ़कीर अज़ीज उद्दीन को गवर्नर जनरल की कुशल-क्षेम पूछने के लिये अपनी ओर से भेजा। कुँवर खड्ग सिंह ने रीति के अनुसार ११०० रुपया सिर वारना और ११००० रुपया आतिथ्य (ज़ियाफ़त) के प में गवर्नर जनरल को भेंट किया।

१६ मघर (३० नवम्बर) प्रातःकाल स्नान इत्यादि से निवृत्त होकर नियमानुसार महाराजा ने ग्रन्थ साहिब के सम्मुख माथा टेका और १०२ रुपये की अरदास करवाई। फिर वह अपने सामन्तों को साथ लेकर, गज पर सवार होकर गवर्नर जनरल के कैम्प की ओर चल पड़े। महाराजा के साथ युवराज खड्गसिंह, प्रधान मन्त्री राजा ध्यान सिंह और उस के दोनों भाई राजा गुलाब सिंह और राजा सुचेत सिंह तथा राजा ध्यान सिंह का बेटा राजा हीरा सिंह, कुँवर शेर सिंह, सिंधावालिये सरदार इत्र सिंह और अजीत सिंह, जमादार खुशहाल सिंह, सरदार लहना सिंह मजीठा और तेज सिंह आदि शामिल थे। सब ने जरक बरक के वस्त्र तथा भूषण पहन रखे थे। इन की सवारियाँ अर्थात् हाथी और घोड़े चाँदी तथा सोने की हमेलों के साथ सुसज्जित थे। जब महाराजा की सवारी आगे को बढ़ती जा रही थी तो अंग्रेज़ी सेनापति सर हैनरी फेन ने अपने खेमे से एक कोस के फ़ासले पर आकर महाराजा का स्वागत किया। जब सवारी गवर्नर जनरल के शिविर के निकट पहुँची तो महाराजा के सम्मान में अंग्रेज़ी तोपखाने से सलामी उतारी गई। सलामी होते ही लार्ड ऑकलैण्ड अपने हाथी पर सवार चालीस गज़ की दूरी पर महाराजा के स्वागत के लिये पहुँच गया। जब दोनों हाथी बराबर हुये तो महाराजा अपने हाथी में से निकल कर लार्ड ऑकलैण्ड के हौदे में जा बैठा। वेदान के द्वार पर पहुँच कर दोनों नृपति हाथी पर से उतरे। गोरा और पूरबिया पलटनों ने सलामी उतारी। फिर वे चोबा (शामियाने) में प्रविष्ट हुये, जहाँ भेंट का उत्सव प्रारम्भ हुआ। लाहौर दरबार के बड़े-बड़े सरदारों के अतिरिक्त भाई राम सिंह तथा भाई गोविन्द राम भी इस अवसर पर उपस्थित थे। महाराजा ने ५१०० रुपया गवर्नर जनरल और ११०० रुपया कमाण्डर-इन चीफ के सिर पर वारा।[1]

बाद में लाहौर दरबार के अधिकारियों का लाट साहब से परिचय हुआ। गवर्नर जनरल की कुर्सी के निकट उस का राजनैतिक सचिव मैग्नाटन खड़ा रहा और महाराजा की कुर्सी के समीप फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन, जो एक के शब्दों का अनुवाद किया करते। गवर्नर जनरल ने इस अवसर पर जो उपहार भेंट किये, उन में महारानी विक्टोरिया का एक बड़ा चित्र भी था। लगभग दो घण्टे तक अधिवेशन चलता रहा। बाद में महाराजा साहब आज्ञा लेकर अपने डेरे में वापस आये।

दूसरे दिन गवर्नर जनरल महाराजा के कैम्प में आया। महाराजा भी अपने साथ कैम्प और महफ़िल की वह रमणीय सामग्री अपने साथ लाया हुआ था जिस से सात वर्ष पहले रोपड़ में लार्ड विलियम बैंटिंग के साथ भेंट के समय एक भव्य दृश्य उपस्थित किया था और जिसे देखकर अंग्रेज़ चकित रह गये थे। वह लाल बनात और पशमीने का बना हुआ बड़ा वेतान और उसके सुनहरी डण्डे, रंग रंग के काश्मीरी कालीन, और बानाती पार्चा के फर्श, सोना चाँदी और मीनाकारी के काम वाली कुर्सियें, प्रकाश के लिये ६०० दोहरी बत्ती वाले दीपस्तम्भ और पाँच सौ झाड़ फानूस, जिन के प्रकाशित होने पर मानों रात को भी दिन प्रतीत होता था। शराब, अर्क गुलाब व बेद मुशक पीने के लिये सोने की कोमल-कोमल सुराहियाँ तथा ग्लास और प्याले, रात की बैठक के लिये नाना प्रकार की आतिशबाज़ी के सामान इत्यादि। आशय यह कि हर प्रकार की सामग्री बड़े सुचारु रूप में उपस्थित थी।

युवराज खड्ग सिंह को गवर्नर जनरल का स्वागत करने के लिये नियुक्त किया गया। जिस समय लाट साहिब की सवारी महाराजा के डेरे के निकट पहुँची तो महाराजा स्वयं अपने हाथी पर चढ़ कर उसके स्वागत के लिये बढ़े। जब दोनों हाथी निकट पहुँचे तो गवर्नर जनरल अपने हौदे में से निकल कर महाराजा के पास आ बैठा।

---

[1] मुन्शी सोहनलाल लिखता है कि सरवारना की इतनी बड़ी रक़म लेते हुये पहले तो गवर्नर जनरल ने कुछ आपत्ति प्रकट की किन्तु राजनैतिक मन्त्री मैगनाटन के अंग्रेजी भाषा में समझाने पर वह शीघ्र मान गया। द० ३ पृष्ठ ४६।

लाहौर के तोपख़ाने ने सलामी उतारी और बाद में ख़ालसा पलटनों ने सलामी दी। वेतान में पहुँच कर दोनों ओर के सरदार और अफ़सर पदानुसार कुर्सियों पर बैठ गये। गवर्नर जनरल ने ५००० रुपया और प्रधान सेनापति ने ११०० रुपया महाराजा को सरवारना पेश किया। तत्पश्चात् लाहौर के अधिकारियों का परिचय करवाया गया, यह कार्य फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन ने बड़े सुन्दर ढंग से निभाया।

तदुपरान्त राग रंग की महफल गर्म हुई, जिस में पंजाब के सुप्रसिद्ध कलाकारों ने भाग लिया। इन में भरी नामक एक अत्यधिक कुशल कलाकार थी, जो कि नृत्य करती हुई मोर का रूप बना लिया करती थी।

विदा होते समय महाराजा की ओर से मूल्यवान उपहार और भेंटें पेश की गईं। इन में एक गुलनारी रंग का दोशाला, जिसके पल्लों पर मरवारीद के कीमती दाने जड़े हुये थे, और जिस का मूल्य १०, २०० रुपये था, गवर्नर जनरल को महाराजा की ओर से व्यक्तिगत भेंट के रूप में प्रदान किया गया।[१] मध्याह्न के पश्चात् सेनाओं की पैरेड का निरीक्षण किया गया, जिसे लाट साहिब ने बड़े ध्यान से देखा।

एक सप्ताह के बाद २१ मघर को महाराजा फीरोज़पुर से लौट आये और साथ ही गवर्नर जनरल को पंजाब में आने का निमन्त्रण दिया। चुनांचे २२ तिथि को लार्ड ऑकलैण्ड, उसकी बहन तथा मैग्नाटन की स्त्री नदी को पार करके पंजाब में प्रविष्ट हुये। वे स्थान-स्थान पर विश्राम करते हुये २६ मघर तदनुसार १२ दिसम्बर सन् १८३८ को अमृतसर में पहुँचे। नगर के द्वार तक जाकर महाराजा ने स्वयं उनका स्वागत किया। कुछ देर विश्राम करने के बाद गवर्नर जनरल ने खालसा सेना की पैरेड का निरीक्षण किया। वह सेना की व्यवस्था, सजावट और अनुशासन को देखकर तथा गोलचियों की निशानाबाज़ी से बहुत प्रभावित हुआ। ऑकलैण्ड ने अपने एक पत्र में, जो कि उस ने उस सायं को विलायत में सर जॉन हॉब हौस को लिखा था, इस में लिखा है कि "महाराजा की २५,००० सेना, १५० तोपें और अगणित अश्वारोही इस मैदान में शोभायमान थे। मैदान का फैलाव ४½ मील के लगभग था। मैंने ऐसी चतुर तथा सुशिक्षित सेना भारत की किसी भी अन्य रियासत में नहीं देखी। खालसा सेना हमारी सेना से किसी भी पहलू में कम नहीं हैं।"

उसी दिन सायं ऑकलैण्ड महाराजा के साथ दरबार साहिब में गया और ११,२५० रुपया नक़द अरदास हेतु भेंट किया और हाथ जोड़कर दरबार साहिब के सामने प्रार्थना भी कि हमारी और खालसा की मैत्री प्रलय तक स्थायी रहे।[२] अर्दास समाप्त होने पर हरिमन्दिर साहिब में दीपमाला और आतिशबाज़ी की शोभा देखी। इसी प्रकार वह लाहौर में कई दिन तक विद्यमान रहा।

भेंटों का मन्तव्य

इन परस्पर भेंटों का वास्तव में तो यह भाव था कि इन दिनों अंग्रेज़ों को महाराजा की ओर से हर प्रकार की सहायता और सहयोग की आवश्यकता थी। इन की सेना काबुल को जा रही थी। काबुल और अंग्रेज़ी प्रदेश के बीच पंजाब तथा सिंध की स्वाधीन रियासतें स्थित थीं। पंजाब के मार्ग से काबुल जाने वाली सेना को खाद्य पदार्थ, गोला बारूद और आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता पहुँचानी सुगम थी। तथा यह रास्त सीधा तथा अल्पतर था। दूसरे पंजाब राज्य सिंध राज्य से कहीं अधिक शक्तिशाली था। इसलिये महाराजा रणजीत सिंह की सद्भावना

---

[१] सोहन लाल द० ३, प्र० ७२।

अंग्रेज़ों को अपेक्षित थी। इन भेंटों के मध्य में एक दो बार गवर्नर जनरल ने महाराजा के साथ एक दो आवश्यक विषयों पर बातें भी की, जिन में दो एक को तो महाराजा रणजीत सिंह ने स्वीकार न किया और दो एक सुनकर वह चुप रहे। जब पंजाब की राह से अंग्रेज़ी सेना के गुजरने की बात छिड़ी तो महाराजा ने इस कारण इन्कार कर दिया कि अँग्रेज़ सैनिक गाय का मांस खाते हैं और इससे भय है कि जब गोरा सेना पंजाब में स्थान-स्थान पर विश्राम करती हुई चलेगी तो यहाँ की प्रजा और इन सैनिकों के बीच झगड़े की सम्भावना रहेगी और दोनों राज्यों की मित्रता में विघ्न पड़ेगा।

इसी भाँति जब लाहौर दरबार में अंग्रेज़ रैज़ीडैन्ट नियुक्त करने का सुझाव पेश किया गया तो महाराजा ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि वर्त्तमान प्रबन्ध ठीक ढंग से चल रहा है, इस में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् अँग्रेज़ कर्मचारी लुध्याना में पहले की भाँति विद्यमान रहें और लाहौर दरबार के साथ उन्हीं के द्वारा पत्र-व्यवहार चलता रहे। गवर्नर जनरल की ओर से महाराजा के ध्यान में यह बात लाई गई कि ब्रिटिश सरकार शिकारपुर तथा फीरोज़पुर में स्थायी छावनी स्थापित करने का विचार कर रही है। उसका महाराजा ने उत्तर दिया कि वे अपने इलाके में जो चाहें, सो करें। तत्पश्चात् जब महाराजा को शाह शुजा की सैनिक सहायता के लिये कहा गया तो उसने उत्तर में कहा कि शुजा-उल-मुल्क के साथ जो समझौता खालसा सरकार का हो चुका है, उसके अनुसार शाह की पूरी सहायता की जायगी।

इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, अंग्रेज़ पंजाब सैनिक शक्ति का ब्यौरा लेना चाहते थे, सो उन के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी अर्थात् कमाण्डर-इन-चीफ तथा गवर्नर जनरल दोनों को अच्छा अवसर मिल गया। पन्द्रह दिन के लग भग सर हैनरी फ्रेन मार्च सन् १८३७ में और बीस दिन के लगभग लार्ड ऑकलैण्ड दिसम्बर सन् १८३८ में लाहौर तथा अमृतसर में ठहरे रहे। राजकुमारों, बड़े बड़े अमीरों तथा सैनिक अधिकारियों के साथ पृथक्-पृथक् भेंट करने का अवसर उन्हें प्राप्त हो गया। सार यह कि ऊपर की श्रेणी वाले प्रत्येक व्यक्ति के विचारों, भावों तथा त्रुटियों इत्यादि का भी इन योग्य अफसरों ने अनुमान कर लिया। इन्हें यह भी स्पष्ट हो गया कि बड़े बड़े सरदारों में कौन कौन सी धड़ेबन्दियाँ हैं जो खालसा सरकार के क्षीण होने पर अथवा महाराजा के निधन के बाद अपने पूरे जोर पर आ जायँगी और वे इन से किस प्रकार और किस मात्रा में लाभ उठा सकते हैं।

महाराजा की मृत्यु (२७ जून सन् १८३९)

अभी अंग्रेज़ मेहमान लाहौर में ठहरे ही हुये थे कि महाराजा की दशा बिगड़नी प्रारम्भ हो गई। कभी अजीर्णता, कभी दस्त, और कभी शारीरिक दुर्बलता[1] का वह शिकार रहता था। सत्य तो यह था कि गत दो एक वर्षों से ही उसका स्वास्थ्य दिन-प्रति-दिन बिगड़ता जा रहा था, बल्कि फीरोज़पुर में एक अवसर पर जबकि वह गवर्नर जनरल के साथ तोपखाने का निरीक्षण कर रहा था तो उसका पाँव फिसल गया, घुटने अशक्त होने के कारण वह अपने आप को सम्भाल न सका और धड़ाम औंधे मुँह से धरती पर आ रहा।

महाराजा पर अधरंग का पहला आक्रमण सन् १८३४ में हुआ था; परन्तु काम काज में

[1] मुन्शी सोहन लाल की पुस्तक में वर्णित वृत्तान्त पढ़ने से ज्ञात होता है कि इस अवसर पर महाराजा ने खाने पीने में समय से काम न लिया और विशेषकर मदिरापान अत्यधिक किया। इस के अतिरिक्त इस के स्वास्थ्य पर इस आतिथ्य का बोझ भी अधिक हुआ था, क्योंकि वह जब तक स्वयं प्रत्येक प्रबन्ध को देख न लेता, उसे कल न पड़ती। परन्तु एक समकालीन कवि का यह लिखना कि अँग्रेज़ों ने महाराजा को मदिरा में विष मिलाकर पिला दिया था, सत्य प्रतीत नहीं होता।

समय की पाबन्दी और नियमित रूप से भोजन तथा व्यायाम करने के कारण वह शीघ्र ही ठीक हो गया। दूसरा आक्रमण पाँच वर्ष बाद हुआ और इस बार रोग अधिक भयानक सिद्ध हुआ। ज्येष्ठ मास के आरम्भ में उसे ज्वर तथा दस्तों की शिकायत हो गई और बड़ी तीव्रता से बढ़ने लगी। हकीमों और वैद्यों के लिए रोग पर काबू पाना कठिन हो गया। अन्त में १५ आषाढ़ तदनुसार २७ जून सन् १८३९ की बृहस्पतिवार के दिन वह इस असार संसार को छोड़कर ५९ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुआ।

पन्द्रह दिन की इस रुग्णता में इक्कीस लाख रुपये नक़द संकल्प करके दीनों तथा मन्दिरों, मस्जिदों और गुरुद्वारों में बाँटे गये। इसके अतिरिक्त असंख्य हाथी घोड़े, सोने चाँदी के हौदे और ज़ीने और सोने चाँदी के बर्तन भी दान किये गये।

दस लाख रुपये के व्यय से एक लम्बा चौड़ा चबूतरा दस दिन पूर्व इसलिए तैयार करवाया गया कि महाराजा का दाह-संस्कार यहाँ किया जायगा। १६ हाड़ को शुक्र के दिन प्रातः उसका अन्तिम संस्कार हुआ। महाराजा के साथ उसकी चार रानियाँ और सात दासियाँ सती हुईं। नगरनिवासी नर-नारी, बच्चा-बूढ़ा, महाराजा की अर्थी के साथ उनके गुणों को याद करते हुए बिलख-बिलखकर रोते जा रहे थे।

चौदहवाँ अध्याय

पड़ोसी रियासतों के साथ संबंध
(सन् १८१८—१८३८ ई०)

सिख राज्य की उन्नति

इन दिनों सिख राज्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच चुका था। पंजाब केसरी की प्रसिद्धि तथा शक्ति का सूर्य पूर्णरूपेण तेजित था। वह मुलतान, काश्मीर, मनकेरा तथा पेशावर के इस्लामी प्रांत जीतकर सिख राज्य में सम्मिलित कर चुका था। वह पंजाब के पहाड़ी तथा मैदानी प्रदेशों का संपूर्ण रूप से स्वामी समझा जाता था। काश्मीर से ऊपर लद्दाख और मुलतान से आगे सिंध को पराजित करने की योजना उसके मस्तिष्क में थी। दूर-दूर देशों के राजे उसके साथ मित्रता का संबंध करने में गर्व का अनुभव करते थे।

अंग्रेज़ों के साथ संबंध

पहले उल्लेख हो चुका है कि सन् १८०९ ई० में रणजीत सिंह तथा अंग्रेज़ों के बीच युद्ध तक की नौबत आ पहुँची थी। परंतु महाराजा ने बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता से काम लिया और आगे के लिये उनसे मित्रता का संबंध स्थापित कर लिया। इस प्रकार पंद्रह वर्ष तक दोनों पड़ोसी शक्तियों का परस्पर अच्छा व्यवहार चलता रहा। किसी प्रकार की खींचतान की नौबत नहीं आई। इस समय में दोनों पक्ष अपने-अपने राज्य को बढ़ाने में लगे हुए थे। अंग्रेज़ पहले तो गोरखों के साथ नैपाल युद्ध में लगे हुए थे पर तत्पश्चात् भारत की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक शक्ति अर्थात् मरहठों के साथ उनका युद्ध छिड़ गया। इसमें जो सफलता अंग्रेज़ों को मिली उसने अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई शक्ति को और भी बढ़ावा दिया। मरहठों से निपटकर अंग्रेज़ों ने अपना ध्यान राजस्थान की राजपूत रियासतों की ओर मोड़ा। देहली के मुसलमान सुलतानों के साथ तीन सौ साल के दीर्घ समय तक लड़ाइयाँ लड़कर राजपूत योद्धा अब थक चुके थे। इसके अतिरिक्त मरहठा सरदार सिंधिया तथा होलकर के कष्ट सह-सहकर वे तंग आ चुके थे। इस प्रकार जब अंग्रेज़ों ने इन रियासतों को अपने साथ मिलाने का निमंत्रण दिया तो सब ने उसे एकदम स्वीकार कर लिया। चुनांचे सन् १८२३ में गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिंग ने सब बड़ी-बड़ी रियासतों को अपनी शरण में ले लिया और इस प्रकार अंग्रेज़ों को भारत की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति बना दिया। अब भारत भर में केवल दो ही राज्य ऐसे रह गये थे जिनको वास्तविक रूप में स्वाधीन कहा जा सकता था—एक सिंध के अमीर तथा दूसरे रणजीत सिंह।

इसी पंद्रह वर्ष के समय में अर्थात् १८०९ से लेकर सन् १८२३ ई० तक महाराजा रणजीत सिंह ने भी अपनी पूरी शक्ति लगाकर पंजाब को हर प्रकार से एक शक्तिशाली राज्य बना दिया था। कांगड़ा तथा जम्मू के राजपूत रजवाड़े, मुलतान, मनकेरा, डेरा गाजीखाँ, अटक, पेशावर तथा काश्मीर की सभी पठानी रियासतें उसके आधिपत्य में आ चुकी थीं। काबुल-नरेश वजीर फतह खान और उसका छोटा भाई व उत्तराधिकारी मुहम्मद अजीम खान खुले मैदान में उसका बाहुबल देख चुके थे।

महाराजा के राज्य की वार्षिक आय लगभग तीन करोड़ रुपया थी। इस आश्चर्यजनक

उन्नति के साथ-साथ दूरदर्शी महराजा ने अपनी सेना को भी योरुपीय ढंग पर तैयार कर लिया था और उनको युद्ध विद्या में और भी निपुण बनाने के लिए बड़े-बड़े वेतन देकर योरुपीय अफसर नौकर रख लिये थे। अभिप्राय यह कि अंग्रेजों के मुकाबिले में पंजाब भी एक बड़ी राजनीतिक शक्ति बन चुका था। इसलिए अब इन दोनों शक्तियों के राजनीतिक दृष्टिकोण में भेद आना प्रारंभ हो गया था।

सन् १८२७-२८ ई० में सतलज पार के चंद एक जिलों के शासन अधिकार के विषय में दोनों पार्टियों में भेद-भाव प्रारंभ हो गया। रणजीतसिंह का यह दावा था कि आनंदपुर, मखोवाल, चमकौर इत्यादि क़स्बे जिनमें सोढ़ी साहबान रहते हैं, उसके शासन अधिकार में होने चाहिए। इसी प्रकार कस्बा वधनी और फ़ीरोज़पुर के विषय में भी उसका यही दावा था कि उन दोनों पर लाहौर दरबार का अधिकार होना चाहिए। इस विषय पर बहुत देर तक पत्र-व्यवहार चलता रहा। आखिर अंग्रेजों ने फ़ीरोज़पुर को छोड़कर अन्य सभी कस्बों पर रणजीतसिंह का दावा स्वीकार कर लिया; परंतु फ़ीरोज़पुर को उसके अधिकार में देने के लिए वे बिलकुल तैयार न थे। यद्यपि तीन चार बार पहले जिस समय भी अंग्रेज रेजीडेंट के सामने फ़ीरोजपुर के किसी व्यक्ति का मुकदमा या उसका प्रार्थना-पत्र पेश होता तो वह प्रार्थना-पत्र पर यही आज्ञा लिखता कि फ़ीरोज़पुर के मुकदमों के फैसले महाराजा रणजीतसिंह द्वारा नियुक्त वकील की कचहरी में होने चाहिए। परंतु ज्यों-ज्यों रणजीतसिंह अधिक से अधिक शक्तिशाली बनता गया त्यों-त्यों अंग्रेजों की भी यही नीति बनती गई कि उसकी शक्ति को कम करना चाहिए। उसको कदापि बढ़ने नहीं देना चाहिए। अब यह भाव दृष्टिगोचर करके फ़ीरोज़पुर अपने पास रख लेने का फैसला किया गया था। फ़ीरोज़पुर का किला व कस्बा फ़ौजी दृष्टिकोण से बहुत महत्त्व रखता था। यह महाराजा की राजधानी से केवल चालीस मील की दूरी पर स्थित था तथा सतलज नदी के बिलकुल किनारे पर था। यहाँ लुधियाने की तरह अंग्रेज अपनी फ़ौजी छावनी बना सकते थे जो महाराजा के लिए एक प्रकार हानिकारक सिद्ध हो सकती थी और आखिर हुआ भी यही। सन् १८३५ में अंग्रेजों ने फ़ीरोजपुर को अपने अधिकार में कर लिया और तीन वर्ष पश्चात् यहाँ पर एक सुदृढ़ छावनी बना ली।

पहले उल्लेख हो चुका है कि ख़लीफ़ा सैयद अहमद ने पाँच वर्ष (१८२८-३१) तक लगातार महाराज की उत्तर-पश्चिमी राज्य-सीमा पर उपद्रव मचा रखा था। यह व्यक्ति स्वयं पूरब देश के बरेली जिले का रहनेवाला था और इसके चलाये हुए आंदोलन के केंद्रीय स्थान जैसे पटना, लखनऊ, देहली आदि सबके सब अंग्रेजी इलाके में स्थित थे। खलीफ़ा के मुरीद इन्हीं नगरों में रहते थे और खुले तौर पर रुपये से उसकी सहायता करते थे। रुपया भी भेजते रहते और बहुधा जोशीले और धर्म के दीवाने खलीफा को सैनिक सेवा के लिये भी अपने आप को पेश करते थे। इन जिलों के अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर तथा देहली का अंग्रेज रैजीडेंट जान बूझकर उनके कुकर्मों पर ध्यान न देता।[1] परंतु रणजीतसिंह से ये बातें छिपी हुई नहीं थीं।

सन् १८२८ में गवर्नर जनरल लार्ड एम्हर्स्ट प्रथम बार शिमला पहाड़ पर आया। महाराजा रणजीतसिंह ने उसके स्वागत के लिए राजदूत भेजे तथा कुछ बढ़िया उपहार इंग्लैंड के सम्राट के लिये उसके साथ लंडन भेजे। जब वह दूसरे वर्ष इंगलिस्तान पहुँचा तो उसने महाराजा के उपहार अपने सम्राट को भेंट किये। इंग्लैण्ड सम्राट ने भी अपनी ओर से महाराजा को विलायत के उपहार भेजे जिनको एलेग्जैण्डर बर्नेज़ के हाथ लाहौर भेजा गया। बर्नेज़ दरिया सिन्ध के रास्ते लाहौर पहुँचा (जुलाई १८३१ ई०)।

---

[1] उदाहरण के लिए देखो, सर चार्ल्स मेटकाफ का पत्र-व्यवहार द्वितीय भाग तथा ले० प्रोफेसर हसन असकरी, प्रोसीडिंगज, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, सन् १९५५ ई०, पृष्ठ १७४-१८८।

ज्योंही गवर्नर जनरल को बर्नज़ की ओर से सूचना मिली कि सिंधु नदी जहाजरानी के योग्य है और उसकी सहायता से अंग्रेजी व्यापार को अफ़गानिस्तान और सिंध के देशों में उन्नति प्राप्त हो सकती है और जो रिपोर्ट तब से ग्यारह वर्ष पहले मिस्टर मूर क्राफ्ट ने इस विषय में दे रखी थीं उसकी ठीक पालन हो रही है। गवर्नर जनरल विलियम बैंटिंग ने व्यापार-प्रयोजन के लिये अपनी नई योजना पर अमल करना चाहा; परन्तु सिंधु नदी का अधिकतर भाग रणजीत सिंह के राज्य में से गुजरता था तथा कुछ भाग सिंध के अमीरों के इलाके में से; इसलिये इन दोनों राज्यों के साथ मिलकर ही किसी सुझाव को अमल में लाया जा सकता था। चुनांचे शीघ्र ही करनल पोटिंजर को सिंध के अमीरों के पास भेजा गया कि वह इस विषय पर उनके साथ बातचीत करे और दूसरी ओर कैप्टन वेड एजेण्ट लुधियाना को लिखा गया कि वह लाहौर जाकर महाराजा रणजीतसिंह को गवर्नर-जनरल के साथ भेंट करने के लिये तैयार करे क्योंकि गवर्नर जनरल महाराजा से स्वयं मिलना चाहता था।

महाराजा की गवर्नर-जनरल से भेंट (१८३१ ई०)

कैप्टन वेड ने लाहौर पहुँचकर बड़ी बुद्धिमत्ता से लाहौर दरबार की ओर से गवर्नर-जनरल से भेंट के लिये न्यौता भिजवाया। भेंट के लिये सतलज नदी के किनारे पर रोपड़ का स्थान नियत हुआ और भेंट की तिथि २५ अक्टूबर ठहरी। चुनांचे दोनों ओर से तैयारी प्रारंभ हुई। रोपड़ में अगणित वेतान, कनातें और शामियाने इत्यादि लगवाये गये। दोनों पक्षों की थोड़ी-थोड़ी सेना बाडी गार्ड के रूप में वहाँ पहुँच गई। महाराजा के रोपड़ पहुँचने पर तोपों द्वारा सलामी ली गई और उसी समय एक जनरल और चीफ सेक्रेटरी महाराजा की मिजाजपुरसी के लिए महाराजा के कैम्प में आये। उसके पश्चात् महाराजा की ओर से राजकुमार खड़ग सिंह, सरदार हरि सिंह नलुवा, राजा संगत सिंह, सरदार अत्तर सिंह सिंधानवाला, सरदार श्याम सिंह अटारी-वाला और राजा गुलाब सिंह गर्वनर जनरल का कुशल-क्षेम पूछने के लिए गये। लार्ड विलियम बैंटिङ्क ने अपने वेतान के द्वार पर उनका स्वागत किया। बड़े आदर के साथ राजकुमार को अपनी दक्षिण ओर बिठाया। २६ अक्टूबर का दिन दोनों राज्य-नरेशों के मिलने के लिए नियत हुआ।

अगले दिन महाराजा के दरबार के सामंत, मंत्री, अधिकारी तथा खालसा सेना अपनी जरदार वर्दियों को पहन कर गवर्नर जनरल के कैम्प की ओर चले। गवर्नर जनरल, कमांडर-इन-चीफ और सचिव गण हाथियों पर सवार महाराजा के स्वागत के लिए आगे बढ़े। जब दोनों राज्य-नरेशों के हाथी बराबर हुए तो दोनों ने ललक कर हाथ मिलाये। महाराजा अपने हौदे से निकल कर गवर्नर जनरल के हौदा में आ गया[1], इसके पश्चात् वह हाथी से उतरे और हाथ में हाथ डाले वेतान में प्रवेश किया। बिछुड़ते समय विलियम बैन्टिंग ने दो सुंदर घोड़े और बरमा का एक बढ़िया हाथी और बहुत-सी मूल्यवान् मणियाँ महाराजा को भेंट कीं।

दूसरे दिन महाराजा ने काश्मीरी पश्मीने का वेतान गड़वाया और सोने तथा चाँदी की चोबों और मूल्यवान् कालीनों से सजाया। राजकुमार खड़ग सिंह तथा राजकुमार शेर सिंह निश्चित समय पर गवर्नर जनरल के स्वागत के लिए उपस्थित हुए। महाराजा अपने सर्वश्रेष्ठ हाथी पर सवार हो कर उपस्थित था। ज्योंही गवर्नर जनरल और महाराजा के हाथी बराबर पहुँचे तो दोनों ने सप्रेम

[1] दीवान अमर नाथ लिखते हैं कि महाराजा अपने साथ दो सेब ले गया क्योंकि उस के मन में कुछ संदेह उत्पन्न हो गया था। जिस पर ज्योतिषियों ने उसे यह बताया कि वह दो सेब गवर्नर जनरल को भेंट करे। यदि वह सहर्ष उसे स्वीकार कर लेगा तो कोई भय नहीं होगा। चुनाँचे ऐसा ही हुआ। देखें, ज़फ़रनामा पृ० २०८।

हाथ मिलाया। गवर्नर जनरल महाराजा के हौदे में आ पहुँचा। तोपखाना ने सलामी उतारी। एक सुंदर और जड़ाऊ तख्तपोश पर दो सुनहरी कुर्सियाँ सुसज्जित थीं जिन पर महाराजा और गवर्नर जनरल बैठ गये। दरबारियों ने अपने-अपने उपहार गवर्नर जनरल को भेंट किये। जिन्हें नियमानुसार उसने छू कर वापस कर दिया। विदा होते समय बढ़ियाँ पश्मीने के एक सौ एक थान, चार सुसज्जित घोड़े, चाँदी के हौदे वाले दो हाथी, गवर्नर जनरल को भेंट किये गये जिन्हें उसने सहर्ष स्वीकार किया।

तीसरे दिन महाराजा ने गवर्नर जनरल को सहभोज दिया। सैकड़ों प्रकार के स्वादिष्ट भोजन बनवाये जिन्हें अंग्रेज अतिथियों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ खाया। उस के अगले दिन गवर्नर जनरल ने महाराजा को सहभोज दिया। आतिथ्य के सभी प्रबंध उपलब्ध थे। सहभोज के वेतान में सैकड़ों अंग्रेज़ लेडियों ने महाराजा का स्वागत किया। इस समय पर गवर्नर जनरल की आज्ञा से बाजे वालों ने वह कला प्रदर्शित की कि महाराजा बहुत प्रसन्न हुआ।

३१ अक्टूबर की शाम को विदाई का दरबार लगा और १ नवंबर को दोनों नरेश अपने-अपने प्रदेशों की ओर चले। महाराजा ऊना और कपूरथला की ओर से होता हुआ १६ नवंबर को लाहौर पहुँच गया।

अंग्रेजों का लाहौर दरबार तथा सिंध के साथ समझौता

गवर्नर जनरल ने भेंट के समय अपने आशय को बिल्कुल प्रकट नहीं होने दिया और न कर्नल पोटिंजर को सिंध के अमीरों के साथ भेंट का ही कुछ वृत्तांत बताया। कर्नल पोटिंजर को स्वयं भी बहुत परिश्रम और बुद्धिमत्ता से काम लेना पड़ा। क्योंकि सिंध के अमीर अंग्रेजों को अपने देश के पास फटकने तक की आज्ञा देने के लिए तैयार नहीं थे। उसने अमीरों के दिल में रणजीत सिंह के प्रति और भी संदेह उत्पन्न कर दिया और उनके दिल में यह भय डाल दिया कि वे अंग्रेजों की सहायता के बिना रणजीत सिंह से अपना बचाव नहीं कर सकते। अंत में अप्रैल सन् १८३२ में अमीर हैदराबाद, अमीर खैरपुर और अमीर मीरपुर के साथ प्रतिज्ञा-पत्र लिखे गये, जिनके अनुसार यह निश्चित हुआ कि सिंधी अमीर अंग्रेजी व्यापारी जहाजों के ऊपर कोई प्रतिबंध नहीं लगायेंगे और उन पर केवल नियत धन पथ-कर के रूप में लिया करेंगे।

सिंधी अमीरों के साथ समझौता हो जाने के पश्चात् गवर्नर जनरल ने रणजीत सिंह के साथ भी अपने इस सुझाव के विषय में समझौता करना चाहा और इस उद्देश्य से उस के साथ पत्र-व्यवहार प्रारंभ कर दिया। दिसबर सन् १८३२ में कैप्टन वेड को यह आज्ञा मिली कि वह लुधियाना से लाहौर जाय और बड़ी होशियारी तथा बुद्धिमत्ता के साथ इस कार्य को पूरा करे।

ज्योंही कैप्टन वेड ने इस विषय में बातचीत प्रारंभ की तो रणजीतसिंह असमंजस में पड़ गया। प्रथम तो उसे स्वयं सिंध प्रांत जीतने की धुन थी, दूसरे हाल ही में उस ने स्वयं गवर्नर जनरल के साथ रोपड़ में भेंट के समय सिंध के विषय में बात आरंभ की थी; परंतु गवर्नर जनरल जान-बूझ कर इस विषय पर चुप रहा था। चूँकि रणजीतसिंह अंग्रेज अफसरों की आंतरिक तथा बाह्य दियानतदारी पर भरोसा कर लेता था, इसलिए उसे लार्ड विलियम बैंटिंक की चुप्पी पर कुछ संदेह न हुआ। परंतु अब पछताने से क्या बन सकता था। सिंध के साथ तो अंग्रेजों का समझौता छः मास पहले पूर्ण हो चुका था। अब महाराजा को भी येनकेन-प्रकारेण यह सुझाव मानना पड़ा। चुनांचे २६ दिसम्बर १८३२ वाले दिन यह प्रतिज्ञा-पत्र लिखा गया। महाराजा रणजीतसिंह प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर तो कर दिये परंतु उन के दिल से मरते दम तक यह शोक नहीं गया कि अंग्रेजों ने शिकारपुर और सिंध पर अधिकार करने से उन्हें रोक दिया क्योंकि इसमें उनका स्वार्थ था।

यदि ध्यान से देखा जाय तो दो पड़ोसी राजनीतिक शक्तियों में मित्रता और प्रेम का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सदा ही प्रश्न अपनी-अपनी स्वार्थ-पूर्ति का होता है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय भी अंग्रेजों और रणजीतसिंह के बीच इस प्रकार झगड़ेवाला प्रश्न उठा तो अंत में महाराजा को ही एक पद पीछे हटाना पड़ा। अंग्रेज़ों ने अपना स्वार्थ प्राप्त कर लिया। अंग्रेज़ राजनीतिक उलझनों और कूटनीति की सूक्ष्म चालों में महाराजा की अपेक्षा चतुर अवश्य थे। गवर्नर जनरल और उसके सेक्रेट्री और रेज़ीडैंटों के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ करता था, उस के देखने से यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेज यह समझते थे कि रणजीतसिंह के दिल पर उन की सैनिक-शक्ति का प्रभाव पड़ा हुआ है। इसलिए वह किसी विशेष मामले पर उन का विरोध नहीं करेगा। फिर भी उसको मनाने का बेहतर ढङ्ग यही होगा कि उस को हर एक महत्त्व-पूर्ण मामले में मित्र के रूप में बाह्य रूप से साथ ले लिया जाये। चुनांचे सिंध के साथ वाणिज्य के मामले में और तत्पश्चात् सन् १८३८ में शाहशुजाह को काबुल की राजगद्दी पर बिठाने के मामले में (जिस का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे चलकर किया जायगा) ऐसा ही किया गया। यद्यपि इन दोनों मामलों में महाराजा यह पूर्ण रूप से जानता था कि इस मामले में अंग्रेजों का साथ देने में उसे हानि ही हानि है।

महाराजा के मन में अंग्रेजों का भय

बहुत सोचने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रारंभ में ही रणजीतसिंह के दिल पर अंग्रेजों की सैनिक शक्ति का भय छा चुका था। उस के दो कारण थे—एक मरहठा सर-दारों की पराजय (सींधिया, हुलकर, भोंसला और गायकवाड़ सब के सब अपनी बड़ी-बड़ी सेनाओं के साथ पराजित हो चुके थे), दूसरे रणजीतसिंह का मामू भागसिंह जींद नरेश भी किसी सीमा तक यह डर उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी था। वह स्वयं एक छोटी-सी मिसल का स्वामी था और देहली के पड़ोस में रहता था। उसको अंग्रेजों की शक्ति इस समय भी बड़ी प्रतीत होती थी। चुनांचे उसने भी रणजीतसिंह को जसवंत राव होलकर वाले मामले में बहुत डराया। स्वयं जसवंत राव होलकर भी जब सन् १८०५ में महाराजा से अलग मिला तो उस ने भी अंग्रेजी सेना की कवायद और उन की युद्ध-प्रणाली की बहुत प्रशंसा की थी। यह मानव की प्रकृति का स्वभाव है कि यदि एक बार किसी वस्तु से भय लगने लगे तो उस का दूर होना कठिन हो जाता है। अंग्रेजों के विषय में रणजीतसिंह की यही दशा प्रतीत होती है। अपने शासनकाल के प्रारंभ में ही महाराजा के मन में अंग्रेजी सेना के महत्व का विचार पक्का हो चुका था। उसके बाद जब अंग्रेजों ने सतलज पार की सिख रियासतों को सन् १८०९ में अपनी शरण में ले लिया तो यह महत्व और भी पक्का हो गया।

उसको स्पष्ट रूप से यह भी दीख पड़ा कि अंग्रेज लोग जो कि कलकत्ता से चलकर देहली और देहली से चलकर सतलज तक पहुँच गये हैं, उन के लिये यहाँ रुक कर बैठना कठिन ही नहीं वरन् असंभव बात है। एक समय भारत के चित्र के ऊपर अंग्रेजी राज्य की लाल लकीरें देख कर महाराजा के मुख से अनायास ही यह शब्द निकल गये कि "एक दिन यह सारा चित्र लाल हो जायगा।" उस के हृदय में निस्संदेह यही विचार काम कर रहा था कि अंग्रेज सत-लज के किनारे आराम से नहीं बैठेंगे वरन् अवसर प्राप्त होने पर पंजाब के पाँचों दरिया लाँघ कर सिन्धु नदी तक या उससे भी आगे अपने राज्य की सीमाएँ ले जायँगे। इसीलिये जीवन भर उस की यही चेष्टा रही कि वह अपनी ओर से ऐसा कोई अवसर न दे जिस के कारण युद्ध तक नौबत पहुँच जाय। इसके साथ-साथ वह अपने व्यक्तिगत चेष्टाओं और देश के आर्थिक तथा

मानुषी साधनों के अनुसार इस भय को रोकने का भरसक प्रयत्न करता रहा तथा इस बात के लिये उसने सामग्री भी तैयार कर ली जिससे कि बचाव हो सके। उदारता के साथ धन-व्यय करके उसने अपने देश में कारखाने स्थापित किये, जिन में हर प्रकार की तोपें, बन्दूकें, गोले और शैल तथा बारूद इत्यादि तैयार होने लगे। बड़े-बड़े वेतन देकर तजुर्बाकार योरुपीय सैनिक अफ़सर नियुक्त किये ताकि वे पंजाबी लोगों को योरुपीय ढंग की युद्ध-प्रणाली सिखा दें। पंजाब में ही नहीं वरन् भारत भर में अभी इस काम में दक्ष भारतीय अफसर नहीं मिलते थे। इसलिए महाराजा को योरुपीय अफसरों की आवश्यकता पड़ी। अपने पंजाबी नवयुवकों को और विशेषकर सिख सरदारों के बच्चों को जो अंग्रेजी कवायद सीखकर प्यादा पल-टनों में खड़े हो कर लड़ना अपनी प्राचीन मर्यादा के विरुद्ध समझते थे, कभी प्यार से, कभी भेंट और उपहार देकर, कभी जागीर का प्रलोभन देकर और कभी डरा-धमका कर योरुपीय जंगी ढंग सीखने के लिए आखिर तैयार कर लिया। और अपने स्वर्गवास से पहले प्राचीन ढंग की सवारी सेना के अतिरिक्त लगभग चालीस हज़ार आदमी की नई सेना तैयार कर ली। जिस योरुपीय यात्री अथवा राजदूत ने इस सेना के प्रदर्शन और क़वायद देखी, उसने यही मत प्रकट किया कि महाराजा की यह सेना अंग्रेजों की सेना से किसी प्रकार भी कम नहीं है। जिन्होंने अंग्रेजों तथा सिखों की परस्पर लड़ाइयों का (१८४५-४६) विस्तृत रूप से अध्ययन किया है उन पर यह बात स्पष्ट है कि सिख सेना रणभूमि में अंग्रेजों के बराबर उतरी और कई बार इन्होंने वैरी के पाँव भी उखाड़ दिये। खालसा की पराजय तो अवश्य हुई परंतु वह इसलिए नहीं कि खालसा सेना किसी पहलू में अंग्रेजी सेना से घटिया थी वरन् इसलिए कि चंद एक बड़े-बड़े अफसरों ने उनके साथ धोखा दिया। यहाँ पर यह वर्णन करने का हमारा तात्पर्य यह है कि महाराजा ने अंग्रेज़ों के हाथ से अपने राज्य को बचाने का जो यत्न किया वह बे सोचे-समझे नहीं था; वरन् दूरदर्शिता पर आधारित था। उसके अपने मन में तो अंग्रेजों का प्रभाव था परंतु यह आवश्यक नहीं था कि उस के उत्तराधिकारी भी उसी विचार के होते। इसलिए उसने युद्ध संबंधी शस्त्र तथा सेना अपने जीवन काल में ही तैयार करवा डाले जिनको समय आने पर उसके उत्तराधिकारी प्रयोग में ला सकें। परंतु यह युद्ध ऐसी परिस्थितियों में हुआ कि उनका फल खालसा के विरुद्ध हुआ। न तो महाराजा के उत्तराधिकारी उसकी भाँति तीव्र बुद्धि वाले और सयाने थे और न लाहौर दरबार में उस समय एकता और संगठन था। वरन् इस के उलटा चंद एक ऊँचे पदाधिकारी खालसा सेना से रुष्ट थे तथा अंग्रेजो के हाथों में बिक चुके थे। यदि यह युद्ध महाराजा के जीवन काल में होता या उस समय कुँवर नौनिहाल सिंह जीवित होता तो सम्भव था कि युद्ध परिणाम कुछ और ही होता।[1]

लद्दाख पर विजय और अस्करदू

लद्दाख तथा काश्मीर का परस्पर अटूट संबंध है। उनका वणिज-संबंध एक दूसरे के साथ दीर्घकाल से चला आता है। लद्दाख की जनसंख्या में एक बहुत बड़ा भाग काश्मीरी मुसलमानों का भी है। लद्दाख को काश्मीर की वादी पर एक बढ़ौतरी प्राप्त रही है। वह यह कि इस ओर से वादी पर बड़ी सुगमता के साथ आक्रमण हो सकता है, विशेषकर हेमन्त ऋतु में, जब कि सभी नदी नालों का पानी जम जाता है और शेष सभी रास्तों पर बर्फ पड़ जाती है। उस समय पहाड़ी लोगों की फौजों के लिए आना-जाना सहल हो जाता है।

---

[1] उस समय का एक प्रसिद्ध पञ्जाबी कवि शाह मुहम्मद भी ऐसा ही लिखता है।
होन्दी अज सरकार ते मुल पान्दि, जिंवे खालसे ने तेगाँ मारियाँ ने।
शाह मुहम्मदा इक सरकार बाझों, फौजाँ जिन के अंत नू हारियाँ ने॥

चुनांचे जब से महाराजा रणजीत सिंह ने काश्मीर की वादी पर अपना अधिकार कर लिया, तब से वह इस बात के लिए चौकन्ना हो गया। महाराजा के काश्मीर पर विजय प्राप्त करने के शीघ्र ही बाद १८२० ई० में मूर क्राफ़्ट नामक एक अंग्रेज़ व्यापारी लाहौर से होता हुआ लद्दाख जा पहुँचा और वह लगभग एक वर्ष तक वहाँ ठहरा रहा। इस समय में वह लद्दाख के विषय में सभी सूचनाएँ अंग्रेजी सरकार को देता रहा। उदाहरणस्वरूप यह कि यहाँ के राजा की वार्षिक आय पाँच लाख रुपया के लगभग है, उसकी प्यादा तथा सवारी सेना तीन हजार से अधिक नहीं है। यहाँ पर पशम अर्थात् ऊन का बड़ा व्यापार है, जिसका अधिकतर भाग इस समय अमृतसर के व्यापारियों के कारिन्दों के हाथ में है। रणजीत सिंह इन बातों से अपरिचित नहीं था परन्तु पञ्जाब में अभी उसे अपनी शक्ति को दृढ़ करना था। इसलिए महाराजा ने केवल अपना प्रभुत्व जताने के लिए अपने काश्मीर के प्रशासक द्वारा लद्दाख से पत्र-व्यवहार करके खिराज माँगा। परन्तु दस बारह वर्ष पीछे अर्थात् १८३४ में जब कि सिन्धु पार का प्रदेश देहरा गाजीखान से लेकर पेशावर तक और इधर काश्मीर के आस-पास का इलाका अर्थात् मानसेहरा, हज़ारा, स्वात इत्यादि को महाराजा ने सीधे ही अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया तो फिर लद्दाख की ओर अपना ध्यान फेरा। चुनांचे लद्दाख राज्य के गृह-युद्धों में मियाँ जोरावर सिंह गवर्नर (प्रशासक)[1] ने हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया और एक बहाना पाकर देश के दक्षिणी भाग में दाखिल हो गया। और वहाँ एक दरबार की पार्टी के साथ जोड़-तोड़ प्रारम्भ कर दी। परिणाम यह हुआ कि राजा को गद्दी से हटा कर उसके मंत्री को राजा बना दिया गया। यह सब कार्यवाही मियाँ जोरावर सिंह की सैनिक सहायता द्वारा अमल में लाई गई। जिसके बदले में नये राजा ने तीस हज़ार रुपया प्रति वर्ष खिराज देना स्वीकार कर लिया और दो एक जिले किलों समेत जोरावर सिंह के हवाले कर दिये जिन में उस ने अपनी सेना रख दी। यह कार्यवाई करने के पश्चात् वह सन् १८३६ ई० में जम्मू वापस आ गया और बाद में जंडियाले के स्थान पर महाराजा की सेवा में उपस्थित हुआ। महाराजा ने प्रसन्न होकर उसे एक सादर खिलअत प्रदान की और उसकी वीरता की प्रशंसा की।

बातचीत के समय में मियाँ जोरावर सिंह ने अस्करदू की छोटी सी रियासत को जीतने की भी आज्ञा चाही और महाराजा को यह बतलाया कि उसकी कृपा से वह भी जीती जा सकती है। परन्तु महाराजा ने उसको ऐसा करने से रोक दिया और कहा कि जिस क़दर इस ओर से राज्य को विस्तार दिया जायगा उसी क़दर चीन सम्राट् से लड़ाई-झगड़ा बढ़ने का भय रहेगा। महाराजा स्वयं तो दूरदर्शी था और एक क्रिया के परिणाम को शीघ्र ही भाँप जाता था; परन्तु उसके अफसर किसी समय गलतियाँ कर बैठते थे। चुनांचे जब तक महाराजा रणजीतसिंह जीवित रहे, मियाँ जोरावर सिंह ने अस्करदू की ओर क़दम नहीं बढ़ाया। परन्तु ज्योंही सन् १८४० में उसको अस्करदू के राजा के पारिवारिक झगड़ों में हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हुआ, उसने अपनी लद्दाख वाली चाल प्रारम्भ कर दी और जिस पार्टी की सहायता करके राजासन का अधिकारी बनाया, उससे सात हज़ार रुपया वार्षिक खिराज लेना नियत कर लिया, परन्तु तत्पश्चात् अंग्रेजों और चीन सम्राट् के दखल देने पर यह शर्त हटानी पड़ी।

लाहौर दरबार और नेपाल सरकार

लद्दाख जीतने पर महाराजा के राज्य की सीमाएँ नेपाल की रियासत के अधिक निकट आ गई थीं। इसलिये दोनों राज्यों में पहले की अपेक्षा अधिक मेल-जोल आवश्यक हो गया था। पिछले सम्बन्ध न तो विशेष रूप से अच्छे थे और न कुछ बुरे।

---

[1] किश्तवाड़ और जम्मू का समूचा प्रदेश महाराजा ने जागीर के रूप में राजा गुलाब सिंह को दे रखा था। जोरावर सिंह, गुलाब सिंह की ओर से प्रशासक नियुक्त हो रहा था।

सन् १८१४-१६ में जिस समय अंग्रेज़ों और गोरखों में युद्ध हो रहा था, नेपाल सरकार की ओर से कई बार महाराजा को सहायता के लिये प्रार्थना पत्र आये; परन्तु महाराजा ने अंग्रेजों के विरुद्ध उन के साथ युद्ध में सम्मिलित होना उपयुक्त न समझा, फिर भी वह गोरखों की वीरता से प्रभावित अवश्य हुआ। प्रथम तो वह स्वयं पाँच वर्ष पहले कांगड़ा दुर्ग के युद्ध में जर्नल अमर सिंह थापा और उसके लिए जान तक देने के लिये तत्पर गोरखा सैनिकों के हाथ देख चुका था। अब अंग्रेजी सेना के सम्मुख भी जो वीरता गोरखा सैनिकों ने दिखाई उसका वृत्तान्त लाहौर दरबार तक पहुँच गया। इसलिये महाराजा ने गोरखों को अपनी नवीन प्यादा सेना में भरती करना आरम्भ कर दिया और उनकी दो पलटनें तैयार की गईं। जर्नल अमर सिंह थापा के पुत्र भूपाल सिंह को एक अच्छे पद पर नियुक्त कर दिया गया। इसी प्रकार बलभद्र सेन नामक गोरखा सरदार भी एक उच्च सैनिक पद पर नियुक्त था जोकि सन् १८२३ में टिबाटिरी युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया।

ऐसा प्रतीत होता है कि इन बड़े-बड़े अफसरों की सहायता से काठमाण्डू दरबार के साथ महाराजा की लिखा पढ़ी समय-समय पर होती रहती थी। लुधियाना के अंग्रेजी एजेन्ट के पत्र-व्यवहार से प्रतीत होता है कि सन् १८३४ में दशहरा के दिनों के लगभग एक नेपाली एजेन्ट लुधियाना के रास्ते से अमृतसर पहुँचा और महाराजा के साथ दरबार में भेंट की। उसके दो वर्ष पश्चात् अर्थात् लद्दाख की पराजय के शीघ्र ही बाद नेपाल से एक दूसरा राजदूत बनारस के रास्ते लाहौर पहुँचा, और बहुमूल्य उपहार दो हाथियों समेत महाराजा की सेवा में भेंट किये। मई मास सन् १८३७ में एक तीसरा दूतमण्डल लाहौर पहुँचा, जिसकी महाराजा ने बहुत आव-भगत की। ऐसा सम्मान पहले किसी गोरखा दूतमण्डल का नहीं किया गया। उसका कदाचित् यह कारण था कि उस समय अंग्रेज शाह शुजाउलमुल्क को काबुल के राज-सिंहासन पर बिठलाने का प्रयत्न कर रहे थे। हाल ही में उन्होंने रणजीतसिंह को शिकारपुर और सिन्ध लेने से भी रोका था। और स्वयं सिन्धी अमीरों के साथ व्यापारिक समझौता कर लिया था और अब वे काबुल के राज-सिंहासन पर अपना नियुक्त राजा बिठाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे महाराजा के राज्य के चारों ओर घेरा डालना चाहते थे। बहावलपुर पहले ही उनकी शरण में आ चुका था। अब सिंध और उसके आगे चलकर अफगानिस्तान की मुसलमान रियासतें इस चन्द्र-घेरे को पूरा कर रही थी। इसलिये सम्भव है कि महाराजा के मन में यह विचार उत्पन्न हो रहे हों कि एक स्वतंत्र हिन्दू रियासत के साथ मित्रता सम्बन्ध किसी समय पर उसके लिये लाभदायक और उपयोगी सिद्ध हो, विशेषकर उस समय जब कि अंग्रेजों और गोरखों के बीच राजनीतिक सम्बन्ध अच्छे न थे।

दूतमण्डलों का यह सिलसिला जारी ही था कि एक ऊँचे घराने के गोरखा अफसर जिसका नाम मुन्शी सोहन लाल ने मोतबिर सिंह लिखा है, का एक प्रार्थना पत्र महाराजा के सम्मुख उपस्थित किया गया जिस में उस ने लाहौर दरबार में नौकरी करने की इच्छा प्रकट की थी और लिखा था कि उस ने नेपाल राज्य की नौकरी छोड़ दी है। वह स्वयं भी लाहौर में उपस्थित होना चाहता था परन्तु अंग्रेजी एजेन्ट कप्तान वेड ने उसे लुधियाना में रोक लिया। महाराजा ने फकीर अजीज़उद्दीन को लुधियाना भेजा ताकि वह कैप्टन वेड से मोतबिर सिंह के विषय में पूरा हाल मालूम करे, साथ ही वेड के नाम यह संदेश भेजा कि वह मोतबिर सिंह के साथ कोई गुप्त वार्तालाप नहीं करना चाहता वरन् उस के युद्ध संबंधी ढंग देखना चाहता है। और अधिक से अधिक उसे अपनी सेना में नौकर रख लेगा। यदि महाराजा जीवित रहता तो कदाचित् वह नेपाल के साथ

कोई राजनीतिक संबंध स्थापित कर लेता परंतु उसका स्वास्थ्य दिन प्रति दिन बिगड़ रहा था और उसका शीघ्र ही जून सन् १८३९ में स्वर्गवास हो गया।

निज़ाम हैदराबाद का वकील

सन् १८२६ में निज़ाम हैदराबाद का वकील मियाँ दरवेश मुहम्मद लाहौर दरबार में आया और निजाम की ओर से बहुमूल्य उपहार लाया जिन में चार बढ़िया नसल के घोड़े, एक बड़ी मूल्यवान् चाँदनी[1], एक दोधारी तलवार, एक तोप और कई बंदूकें सम्मिलित थीं। महाराजा के अतिरिक्त दरवेश मुहम्मद ने राजकुमार खड़ग सिंह को भी कई एक मूल्यवान् वस्तुएँ भेंट कीं।

हिरात और बलोचिस्तान के एजेंट

इसी वर्ष हिरात नरेश का एजेंट सैफखान भेंट लेकर लाहौर दरबार में आया। तीन साल पीछे अर्थात् १८२९ में नवाब बलोचिस्तान से भी वकील आये और बहुत से घोड़े और युद्ध-संबंधी सामग्री भी भेंट के रूप में अपने साथ लाये। उपहार भेंट करने के पश्चात् महाराजा की सेवा में प्रार्थना की कि उनके दो गढ़—हरिन्द और दजेज जो डेरा गाजीखान प्रदेश की सीमा पर सिंधु नदी के पश्चिम में स्थित हैं, वे नवाब बहावलपुर ने छीन लिए हैं। उनके वापस लेने के लिए वे महाराजा की सहायता के इच्छुक हैं।

रियासत बहावलपुर के साथ संबंध

बहावलपुर की रियासत पर दाऊदपोतरा वंश के नवाब शासन करते थे। मुलतान प्रांत और सिंध प्रांत की भाँति बहावलपुर प्रांत भी काबुल नरेश के अधीन था। परंतु दुरानी राज्य के परस्पर झगड़ों तथा उसकी दुर्बलताओं के कारण दाऊद पोतरा नवाब भी बहावलपुर में स्वाधीन बन बैठा। इस रियासत की एक सीमा मुलतान प्रांत और डेरा गाजीखान के साथ मिलती थी और दूसरी सिंध प्रांत के साथ लगाव रखती थी। परंतु इस रियासत का लगभग संपूर्ण प्रदेश सतलज नदी की बाईं ओर स्थित था और वह भाग जो पंजनद के नीचे था, वह सिंधु नदी की बाईं ओर था। इस लिये उसके राजनीतिक संबंधों ने प्रारंभ में आश्चर्यजनक-सा रूप धारण कर लिया। वह यह कि सन् १८०९ में जब सतलज नदी, अंग्रेजों तथा रणजीतसिंह के राज्यों के बीच सीमा निश्चित हुई तो सतलज पार की रियासतों के साथ महाराजा का कोई राजनीतिक संबंध नहीं रहा। परन्तु नवाब के चंद-एक उपनिवेश चनाब तथा सिंधु नदी के बीच के भाग में स्थित थे, इसलिए महाराजा नवाब से उनके संबंध में बहुधा भेंट की माँग किया करता था। चुनांचे सन् १८१५ में भेंट वसूल करने के विचार से महाराजा ने कुछ सेना साथ लेकर बहावलपुर की ओर प्रस्थान किया। जब वह पाकपटन के पास पहुँचा तो नवाब ने कुछ धन भेंट के रूप में भेज दी और साथ ही मुकाबला करने के लिए भी तत्पर हो गया।

उधर से अंग्रेजों ने भी नवाब के साथ जोड़-तोड़ प्रारम्भ कर दिया और अन्य सिक्ख रियासतों की भाँति नवाब ने भी अंग्रेजों की शरण में आना स्वीकार कर लिया।

रणजीत सिंह ने सन् १८१८ में मुलतान और १८२० में डेरा गाज़ीखान पर विजय प्राप्त कर ली थी। मुलतान में तो महाराजा ने अपना प्रशासक नियुक्त कर दिया किन्तु डेरा गाज़ीखान का इलाका ३ लाख रुपया प्रति वर्ष के बदले में इजारे के रूप में नवाब बहावलपुर को दे दिया। परंतु हर वर्ष यह इजारा और नवाब की भेंट का धन बढ़ता चला गया। चुनांचे १८३१ में जब कि डेरा का इलाका महाराजा ने अपने राज्य में सम्मिलित किया, उस समय से नवाब बहावलपुर ५ लाख रुपया प्रति वर्ष भेंट के रूप दिया करता था।

---

[1] यह चाँदनी, महाराजा ने दरबार साहब श्री अमृतसर में भेज दी जहाँ यह अब तक मौजूद है। (बाबा प्रेम सिंह)

सिंधी अमीरों के साथ महाराजा का संबंध

जब डेरा गाज़ीखान को महाराजा ने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया तो जनरल वंतूरा को वहाँ का पहला शासक नियुक्त किया। इसमें एक विशेष रहस्य दीख पड़ता है, वह यह कि महाराजा की दृष्टि शिकारपुर और सिंध प्रांत पर बहुत देर से जम रही थी। और वह चाहता था कि वंतूरा वहाँ से सिंधी अमीरों के सैनिक तथा अन्य प्रकार के साधनों का ठीक रूप से अनुमान कर लेवे। चुनांचे जनरल वंतूरा ने दजेल और हरिन्द के दोनों बलोची गढ़ों पर फिर से अपना अधिकार कर लिया और शिकारपुर की ओर अपना रास्ता साफ कर लिया।

इस सिलसिले में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उस समय तक रणजीत सिंह ने सिंधु नदी के पार का इलाका अपने अधीन कर लिया था। पेशावर के पठान बिलकुल इजारादार का सा महत्त्व रखते थे। खलीफा सैयद अहमद जिसने पिछले पाँच वर्ष से इस तमाम इलाका में उपद्रव मचा रखा था, पराजित होकर रणभूमि में मारा जा चुका था और इसके साथ सम्पूर्ण फसाद पठानों के इलाके में बन्द हो गए। डेरा इस्माइल खाँ और डेरा गाज़ी खाँ का सारा इलाका महाराजा अपने आधिपत्य में ले चुका था। मुलतान पहले ही उसके पास था। आशय यह कि पंजाब राज्य की सीमा बिलकुल सिंध के पास तक आ पहुँची थी। महाराजा की सेना की तुलना में अमीरों की बलोची सेना कुछ महत्व नहीं रखती थी। इसके अतिरिक्त सिंध का इलाका तीन छोटी-छोटी रियासतों में बँट रहा था जिनमें एक हैदराबाद, दूसरी खैरपुर और तीसरी मीरपुर की बलोची रियासत थी। न तो इन तीनों अमीरों में कोई विशेष प्रेम प्यार तथा एकता थी और न किसी आक्रमणकारी को उनकी संगठित शक्ति से भय ही था। इसलिये सिंध प्रान्त पर विजय प्राप्त कर लेना महाराजा के लिए बिल्कुल मामूली-सी बात थी।

भूगोल-विद्या की दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति ने भी पंजाब और सिंध प्रान्त को एक ही धरती का अंश बना रखा है। ये दोनों प्रान्त सिन्ध नदी और उस की सहायक नदियों द्वारा सींचे जाते हैं और एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। वरन् भारत के अन्य भागों से भी पृथक हो रहे हैं। एक ओर से रेगिस्तान और दूसरी ओर से सुलेमान पर्वत का सिलसिला इनको हिन्दुस्तान से पृथक कर रहा है। कदाचित् यही कारण था कि प्राचीन काल में इन दोनों प्रान्तों के लोगों का रहन सहन भी एक ही प्रकार का था जैसा कि हड़प्पा ज़िला मॉन्टगुमरी और मोहिंजोदारों जिला लड़काना के खँडहरों से सिद्ध हो रहा है।

परन्तु रणजीतसिंह की इच्छा को अंग्रेजों ने ठुकरा दिया। पहले तो उन्होंने महाराजा से चोरी-चोरी सिन्धी अमीरों के साथ व्यापारिक समझौता कर लिया जिस से उनको यह बहाना मिल गया कि यदि रणजीतसिंह शिकारपुर और सिंध पर आक्रमण करेगा तो वाणिज्य को हानि होगी। शिकारपुर व्यापार की बड़ी भारी मण्डी थी। यहाँ पर अफगानिस्तान, खुरासान, ईरान, सिन्ध तथा हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े महाजनों ने अपनी-अपनी दुकानें खोल रखी थीं और आढ़ती कारिन्दे बिठा रखे थे। साठ हज़ार रुपया से कुछ अधिक प्रति वर्ष इस नगर की पथ-करों द्वारा आय थी। फिर भी महाराजा ने सिन्ध को जीतने का इरादा स्थगित न किया। तत्कालीन सिन्धी अमीर बलोचीवंश तालपुर से सम्बन्ध रखते थे। परन्तु अभी तक कलहोरा वंश के भी कुछ एक राजकुमार जीवित थे जिन से तालपुरियों ने रियासत छीन रखी की। चुनांचे रणजीत सिंह ने दो कलहूरी वंश के राजकुमारों के लिये गुजारा पैन्शन लगा रखी थी और उन को बढ़ियाँ भवन रहने के लिये कस्बा राजनपुर में दे रखे थे। ताकि यदि किसी समय तालपुरियों के विरुद्ध उन को खड़ा करना पड़े तो उसे सुविधा रहे। दूसरे यह कि तालपुरिये इस भय से महाराजा से डरते रहेंगे। सिन्धी अमीरों में से भी एक के साथ महाराजा ने मित्रता बना रखी थी। और वह

वह यों कि अंग्रेज़ों ने अमीर खैरपुर तथा मीरपुर के साथ अधिक सम्पर्क बना रखा था और अमीर नूर मुहम्मद हैदराबाद की राजनीतिक गठजोड़ में अधिक पूछ न की। चुनांचे इस से लाभ उठाकर महाराजा ने नूर मुहम्मद के साथ मित्रता का संबंध स्थापित करना चाहा बल्कि यहाँ तक कि एक बार महाराजा डेरा गाज़ी खान का इलाका उसे इजारा पर देने के लिए तैयार हो गया।

सन् १८३५-३६ में सिंध पर चढ़ाई करने का बहाना भी महाराजा को मिल गया। वह इस प्रकार कि मज़ारी वंश के पठान जिनका अधिकतर गुजारा लूट मार पर ही था, महाराजा के मुलतान प्रांत की सीमा पर बहुधा छापे मारा करते थे। मुलतान के शासक दीवान सावन मल ने उनके प्रदेश पर आक्रमण करके उन्हें भगाने का निश्चय कर लिया। चुनांचे उसकी सेना जिस में २००० सैनिक और ५० के लगभग हलकी तोपें थीं, वहाँ जा पहुँची। इधर महाराजा को ज्ञात हुआ कि खैरपुर का अमीर गुप्त रूप से मज़ारियों की सहायता कर रहा है। चुनांचे रणजीतसिंह ने सावन मल की सहायता के लिए दशहरा समाप्त होने पर लाहौर से ताज़ा दम सेना और निपुण जर्नल सरदार हरिसिंह नलुवा को मिठन कोट की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी और अपने होनहार पोते कुँवर नौनिहाल सिंह को भी इस सेना के साथ भेजा। कुँवर साहब और सरदार हरिसिंह को विशेष रूप से आदेश दिया गया कि वे मिठन कोट पहुँच कर सिंधी अमीरों से यह बात स्पष्ट कर दें कि अब उन्हें काबुल नरेश के स्थान पर महाराजा रणजीतसिंह का आधिपत्य स्वीकार करना होगा और जो प्रति वर्ष का धन वे खिराज के रूप में काबुल भेजते थे, उन्हें अब वह लाहौर में भेजना पड़ेगा। यदि वे इस में कुछ विलम्ब करें तो सरदार हरि सिंह को चाहिए कि वे सीधे शिकारपुर की ओर प्रस्थान कर दें। ऐसा प्रतीत होता है कि महाराजा इस बार वास्तव में ही सिंध पर विजय प्राप्त करने पर उतारू था। क्योंकि उपरोक्त सेना के अतिरिक्त वह स्वयं भी (यद्यपि उसका स्वास्थ्य उस समय ठीक नहीं था) लाहौर से मुलतान की ओर कूच करने की तैयारी कर रहा था।

इधर सेना के पहुँचने से पहले गवर्नर मुलतान ने मज़ारियों को पराजित कर के अक्टूबर सन् १८३६ में रुजानगढ़ और उस से आगे जाकर किन पर अपना अधिकार जमा लिया। इस प्रकार शिकारपुर और सिंध की ओर जाने के लिये रास्ता तैयार हो रहा था। यह देखकर अंग्रेज़ों को ज्यादा घबराहट हुई। चुनांचे कर्नल पोटैंचर और गवर्नर जनरल के बीच सिंध के विषय में विचार-विमर्श प्रारंभ हुआ। गवर्नर जनरल जैसे कि उत्तर-दाता अंग्रेज अधिकारियों के लिखने का प्रारंभ से ढङ्ग चला आता है, एक पत्र में लिखता है कि रियासत सिंध की परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हो रही हैं कि हम को विवश हो कर सिंधी अमीरों के साथ एकता के संबंध अधिक गहरे और सबल करने पड़ेंगे। सम्भव है कि इस समय ये लोग रणजीतसिंह की विजयों से डर कर हमारी शरण में आने के इच्छुक हों। इसलिए ऐसे दुर्लभ्य अवसर को हाथ से जाने नहीं देना चाहिए और सिन्धी शासकों के साथ आप को शीघ्र ही पत्र-व्यवहार प्रारंभ कर देना चाहिए। इस समय तो हमारी सरकार सिन्धी अमीरों तथा रणजीतसिंह के बीच के भेदों को दूर करेगी परंतु बाद में जब कि हैदराबाद दरबार में हमारी ओर से एक रैजीडैंट रखा जायगा तो उस समय हम रियासत सिन्ध के दूसरी राजनीतिक शक्तियों के साथ संबंध भी ठीक कर देंगे।

दूसरी ओर कैप्टन वेड जो कि लुधियाना में असिस्टैंट पोलीटिकल एजेन्ट के रूप में रहा करता था और महाराजा के पास बहुधा आया जाया करता था, उसको भी दिसम्बर १८३६

में गवर्नर जनरल ने लिखा कि वह महाराजा को शिकारपुर पर आक्रमण करने से रोके और महाराजा को स्पष्ट रूप से यह बता दे कि सिन्धियों तथा अंग्रेज़ों के बीच व्यापारिक समझौता हो रहा है। युद्ध छिड़ जाने पर व्यापार का सिलसिला टूट जायगा। दूसरे यह कि व्यापारिक समझौते के अनुसार अंग्रेज और सिंधी एक दूसरे के मित्र बन चुके हैं। इसलिए अंग्रेज यह बिलकुल सहन नहीं करेंगे कि कोई अन्य शक्ति उस के मित्रों के साथ कोई छेड़-छाड़ करे। चुनांचे कैप्टन वेड स्वयं लाहौर गया और उस ने बहुत ही चतुराई और बुद्धिमत्ता के साथ इस कठिनाई को सुलझाया और महाराजा को अपनी सेना समेत लाहौर से सिंध की ओर जाने से रोक दिया। साथ ही महाराजा की जो सेना कुँवर नौनिहाल सिंह और सरदार हरिसिंह नलुवा के सेनापतित्व में सिंधु नदी पर डेरा डाले पड़ी थीं, उनके नाम भी यह आज्ञा-पत्र लिखवा दिया कि वे आगे शिकार पुर की ओर न बढ़ें। महाराजा को क्रोध तो बहुत आया परंतु वह अंग्रेज़ों के साथ युद्ध करने के लिये कदापि तैयार नहीं था। विशेषकर इस अवसर पर तो महाराजा के बड़े-बड़े बुद्धिमान और उत्तर-दाता अधिकारी भी अंग्रेजों की इस क्रिया पर क्रुद्ध हो पड़े थे और युद्ध के लिए तैयार हो पड़े थे; परन्तु महाराजा अपना सिर फेरकर और इतना कहकर चुप हो रहा कि "अंग्रेजों से युद्ध करके इससे पहले दो लाख मरहठा सेना की क्या गति हुई थी?"

परन्तु महाराजा ने इतना अवश्य किया कि रोजानगढ़ को अपने ही अधिकार में रखा और किनगढ़ को गिराकर भूमि के साथ समतल कर दिया और सिन्धी अमीरों के साथ पुराने संबंध ज्यों के त्यों रहने दिये। जहाँ तक हमें प्रतीत होता है महाराजा का विचार यह था कि यदि वह स्वयं इस विचार को वश में नहीं कर सकता कि अंग्रेजों की शक्ति अजेय है तो संभव है कि जो सेना उसने योरुपीय तरीके पर तैयार कर रखी है, उस पर भरोसा करते हुए उसके उत्तराधिकारी, विशेषकर कुँवर नौनिहाल सिंह कभी अंग्रेजों की परवाह न करता हुआ सिंध पर विजय प्राप्त कर ले। परन्तु ईश्वर को कुछ और ही भाता था। यह होनहार राजकुमार जिस पर सारे देश व जाति की आँखें लगी हुई थीं, महाराजा के काल वश होने के १५ मास पश्चात् ड्योढ़ी की महराब के नीचे दबकर मर गया और उसके पश्चात् जो उपद्रव लाहौर दरबार में फैला उससे लाभ उठाकर अंग्रेजों ने एक छोटे से बहाने पर सन् १८४३ में सिंध को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

अफ़गान सम्राटों के साथ संबंध

रणजीतसिंह ने अपने शासनकाल के प्रारम्भ से ही यह बात जान ली थी कि पंजाब का अधिकतर भाग मुसलिम नवाबों के अधीन है और वह रणजीतसिंह का आधिपत्य स्वीकार करने के स्थान पर अपने सहधर्मी काबुल नरेश का आधिपत्य स्वीकार करना अच्छा समझेंगे। चाहे उस का निवासस्थान कोसों ही दूर क्यों न हो। इसलिए प्रारम्भ में नवयुवक महाराजा ने बड़ी बुद्धि और दूरदर्शिता से काम लिया। शाह ज़मान की प्रार्थना पर उसकी तोपें वापस कर दीं और आठ-नौ वर्ष जब तक कि काबुल का राज्य शक्तिशाली रहा, उसने पंजाब के नवाबों से कोई छेड़ छाड़ न की। परन्तु ज्यों ही दुर्रानियों का शासक वंश अशक्त हुआ और वे आपस में लड़ने झगड़ने लगे और पंजाब के नवाबों ने स्वाधीनता का पाठ पढ़ लिया तो रणजीतसिंह ने भी अपनी नीति में परिवर्तन कर लिया। सन् १८१० में शाह ज़मान और शाह शुजा-उल-मुल्क के काबुल से निकाले जाने पर महाराजा ने उनकी खूब आवभगत की। लाहौर में उनके निवास के लिए बढ़िया खुली हवेलियाँ सुरक्षित कर दीं और उनकी पेन्शन लगा दी। परंतु इन दुर्रानियों के स्थान पर बारकज़ाई सरदारों की जिस पार्टी ने अब शक्ति ग्रहण करनी प्रारंभ की, महाराजा ने उन के सरदार

वजीर फतह ख़ाँ के साथ अब एकता का संबंध स्थापित कर लिया। परंतु साथ ही काबुल राज्य की अक्षमता से लाभ उठाकर पंजाब के लड़ाके मुसलमान कबीलों की छोटी-छोटी स्वाधीन रियासतों को खतम करना भी प्रारंभ कर दिया। चुनांचे एक ही हल्ले में खुशाब, साहिवाल, शाहपुर इत्यादि के बिलोची सरदारों को पराजित करके इस इलाके को महाराजा ने अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। दूसरे हल्ले में एक ओर मुलतान जीतने का यत्न किया और काश्मीर जाने वाले रास्तों की नाकाबंदी प्रारंभ कर दी।

सन् १८१३ में ही दुर्रानियों की दुर्बलता से ही लाभ उठाकर महाराजा ने अटक के किले पर भी अधिकार जमा लिया था। तत्पश्चात् जब वजीर फतह ख़ाँ ने इस किले को काबुल सरकार के लिए वापस जीतने का प्रयत्न किया तो उसे निष्फल लौटना पड़ा। इसके पाँच वर्ष बाद सन् १८१८ में जब वजीर फतह ख़ाँ को शाह महमूद के बेटे ने कत्ल कर दिया तो अफगान राज्य में फिर से उपद्रव मच गया। वजीर फतह ख़ाँ के भाई जो काश्मीर, पेशावर इत्यादि इधर-उधर के राज्यों को संभाले बैठे थे, काबुल की ओर चल दिये। चुनांचे महाराजा ने झट अवसर पाकर मुलतान, काश्मीर तथा मनकेरा रियासत को जीत लिया।

परन्तु काबुल की स्थिति दो वर्ष के भीतर ही सुधर गई। सरदार मुहम्मद अज़ीम ख़ाँ ने जो कि उस समय बारकज़ई वंश का सब से वयस्क और अनुभवी व्यक्ति था, मंत्रि-मंडल की डोर अपने हाथ में ली तथा शाह अयूब को राजगद्दी पर बिठा दिया। जहाँ तक भारत में अफगानी राज्य तथा उसकी साख का संबंध था, मुहम्मद अजीम के लिए मुलतान, काश्मीर, किला अटक और रियासत मनकेरा (डेरा इस्माइल ख़ाँ) का तो महाराजा रणजीतसिंह से वापस लेना असंभव था, किंतु यदि प्रयत्न करता तो अटक से लेकर अकोड़ा और फिर वहाँ से नौशहरा और पेशावर का प्रदेश तो शायद वह खालसा के वार से सुरक्षित रख सकता था। चुनांचे वह ऐसा करने पर कटिबद्ध हो गया कि वह खालसा व अटक के पार कदापि नहीं आने देगा। क्योंकि यह संपूर्ण अफगानी प्रदेश काबुल सरकार के अधीन ही रहना चाहिए। इसलिए सन् १८२३ में एक बड़ी सेना लेकर वह पेशावर आ पहुँचा। उधर महाराजा भी एक निर्णायक युद्ध के लिए तुला हुआ था। नौशहरा (टिब्बा टेरी) के स्थान पर एक घमासान युद्ध हुआ जिस में अफगानों की पूर्ण रूप से पराजय हुई। अजीम ख़ाँ इस पराजय को सहन न कर सका और डेढ़ मास के अंदर ही शर्म के मारे मृत्यु को प्राप्त हुआ। अजीम ख़ाँ के मरने की देर थी कि काबुल राज्य का सिलसिला तितर-बितर होना प्रारम्भ हो गया और शाहजादा शाह महमूद दुर्रानी हरात प्रांत में अपना स्वाधीन राज्य स्थापित कर बैठा। अजीम ख़ाँ के स्थान पर उस के भाई दोस्त मुहम्मद ख़ाँ ने काबुल का मंत्रित्व अपने हाथ में लिया। परंतु उसके दूसरे भाई शेर दिल ख़ाँ ने कंधार प्रान्त को अपने अधीन कर लिया। इसी प्रकार तीसरे भाई सरदार यार मुहम्मद ख़ाँ ने महाराजा रणजीत-सिंह के सहायक के रूप में पेशावर का प्रशासन सँभाला। काबुल के अंदर ही उसका भतीजा हबी-बुल्ला ख़ाँ का सुपुत्र मुहमम्द अज़ीम ख़ाँ वज़ीर दोस्त मुहम्मद ख़ाँ के लिए एक भय सिद्ध हो रहा था। अभिप्राय यह कि दोस्त मुहम्मद के लिए कठिनाइयों का एक जाल-सा तन गया जिसको समेटते हुए उसे कम से कम छः वर्ष का समय लग गया। ज्योंही इन कठिनाइयों को उसने कूटनीति और बाहुबल से हल किया, शाह शुजा उल-मुल्क रण में आ कूदा। उसे काबुल के राजसिंहासन को दोबारा प्राप्त करने की धुन तो मुद्दत से समा रही थी और वह इसके लिए दो-तीन बार निष्फल प्रयत्न भी कर चुका था; परन्तु इस बार उसे अंग्रेजों की सहायता प्राप्त थी और थोड़ी बहुत सहायता देने का वचन महाराजा ने इस शर्त पर दिया था कि यदि वह काबुल का राज्य जीत ले तो वह महा-

राजा से पेशावर की माँग नहीं करेगा। चुनाँचे शाह शुजा १८३३ ई० में सिंध से होता हुआ दर्रा बोलन की राह से कन्धार तक जा पहुँचा परंतु दोस्त मुहम्मद ख़ाँ ने उसे ऐसी हार दी (१८३४ ई०) कि उसने लुधियाना आकर मार्च सन् १८३५ ई० में दम लिया।

सिंधु नदी के पारवाले स्थानों पर अधिकार

पहले उल्लेख हो चुका है कि सन् १८११ में डेरा ग़ाज़ी ख़ाँ को जीतकर रणजीतसिंह ने यह इलाक़ा तीन लाख रुपया प्रति वर्ष पर नवाब बहावलपुर को दे दिया था। इसी प्रकार डेरा इस्माइल ख़ाँ और आस-पास के ज़िले नवाब मनकेरा को गुज़ारे के लिये दिये गये थे जब कि उसका शेष राज्य सन् १८२१ में लाहौर राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था। पेशावर, कोहाट तथा हस्त-नगर की भी यही अवस्था थी। यहाँ का राज्यपाल दोस्त मुहम्मद ख़ाँ काबुल-नरेश का भाई था; परंतु महाराजा को कर देता था। चुनाँचे दस वर्ष तक महाराजा की नीति ऐसी ही रही, परन्तु सन् १८३१ में रणजीतसिंह ने इस सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने राज्य में सम्मिलित करने का निश्चय कर लिया। इसका एक कारण तो यह था कि अंग्रेज़ों ने इस इलाके में सक्रिय रूप से दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी। सर अलैग्ज़ैण्डर बर्नेज़ महाराजा के साथ भेंट करने के लिए बम्बई से चलकर सिंधु नदी के रास्ते ही लाहौर दरबार में आ रहा था। ज्योंही रणजीत सिंह को इसके आने की सूचना मिली उसने अप्रैल सन् १८३१ में जनरल वन्तूरा को डेरा गाज़ी ख़ाँ का राज्यपाल नियुक्त करके भेज दिया और नवाब बहावल पुर का ठेका समाप्त कर दिया।

अब वह पेशावर को भी पूर्ण रूप से अपने अधिकार में लेने की चेष्टा करने लगा और यह अवसर भी उसे हाथ लग ही गया। शाह शुजा और दोस्त मुहम्मद ख़ाँ मार्च सन् १८३४ में कंधार में परस्पर युद्ध में जुट रहे थे। महाराजा ने शीघ्र ही एक भारी सेना पेशावर में भेजी और अपने होनहार पोते कुँवर नौनिहाल सिंह को वहाँ का प्रशासक नियुक्त करके भेजा। सरदार हरि सिंह नलुआ जो कि उस समय हज़ारा में था, महाराजा की आज्ञानुसार पेशावर पहुँच गया। सरदार हरिसिंह ने पेशावर के निकट पहुँचते ही पीर मुहम्मद ख़ाँ तथा सुल्तान मुहम्मद ख़ाँ बारकज़ाई भाइयों को नगर ख़ाली करने के लिए आज्ञा भेजी, जिसे स्वीकार करने में ही उन्होंने अपनी भलाई समझी। २७ अप्रैल सन् १८३४ को कुँवर नौनिहाल सिंह ने नगर में प्रवेश किया और 'बाला हिसार' के ऊँचे दुर्ग की दीवारोंपर खालसा का केसरी झण्डा लहराने लगा। पेशावर के इतिहास में यह घटना बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि महाराजा जयपाल की राज्य-समाप्ति के पश्चात् लगातार ८०० वर्ष के दीर्घकाल में यहाँ पर तुर्कों, मुगलों और पठानों का शासन चला आ रहा था।

दोस्त मुहम्मद ख़ाँ की पेशावर पर चढ़ाई

पेशावर का सिक्खों के अधिकार में चला जाना दोस्त मुहम्मद ख़ाँ को एक आँख न भाया। रणजीतसिंह दिन-प्रतिदिन अटक पार वाले इलाकों पर अपना अधिकार प्रबल किये जा रहा था। पेशावर का नगर काबुल से इतनी ही दूरी पर स्थिर है जितनी दूरी पर अटक से पेशावर। अर्थात् महाराजा ने पेशावर पर अधिकार कर लेने के बाद एक प्रकार से काबुल का आधा रास्ता तै कर लिया था। साथ ही दोस्त मुहम्मद ने यह देखा कि रणजीतसिंह अपनी सैनिक सुरक्षा को भी हर प्रकार से प्रबल किये जा रहा है अर्थात् काबुल को जानेवाले दोनों रास्तों पर दो सशक्त दुर्गों का निर्माण कर रहा है, एक जमरोद दर्रा ख़ैबर के मुँह पर और दूसरा शबकदर के समीप। साथ ही वह अपनी सेना की संख्या भी बढ़ा रहा है जो कि उस समय ग्यारह हज़ार सुशिक्षित पैदल सेना और कम से कम ४० तोप और ज़म्बूरक थी। इसके अतिरिक्त अश्वारोही सेना भी चार-पाँच हजार के लगभग हो चुकी थी।

दोस्त मुहम्मद ने महाराजा से दो-दो हाथ करने का निश्चय कर लिया और धर्मयुद्ध (जिहाद) का झण्डा ऊँचा कर दिया। काबुल के बड़े मुल्ला ने उसे 'अमीर-उल मोमनीन' की उपाधि दी और वह अप्रैल १८३५ में पेशावर की ओर चल पड़ा। सारे कोहिस्तान से अफ़ग़ान लोग उत्साहपूर्वक उसके झण्डे के नीचे एकत्र होने शुरू हो गये। इधर महाराजा भी युद्ध पर तुल गया। एक दिन खुले दरबार में उसने घोषणा की कि अब दोस्त मुहम्मदखां के साथ निर्णायक युद्ध किया जायगा। यदि वह यह समझ रहा है कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ तो वह भूल पर है। उसे ज्ञात होना चाहिये कि मेरा दिल अभी जवान है।[1]

चुनांचे कुँवर नौनिहाल सिंह के पास एक दूत प्रतिदिन महाराजा के उत्साहपूर्ण और सांत्वनादायक पत्र ले जाया करता ताकि वह चतुराई के साथ अपने पद पर जमा रहे और घबराये नहीं। इतने में स्वयं एक भारी सेना लेकर महाराजा पेशावर को चल पड़ा। इस समय तक पंजाब राज्य के सभी नामी सेनाधिकारी, जिनमें जागीरदार भी सम्मिलित थे, अपनी-अपनी सेना सहित पेशावर पहुँच चुके थे।

१६ वैशाख को महाराजा पेशावर पहुँच गया और नगर से कुछ दूर बाग़ वज़ीर खां में डेरा डाल दिया। कुँवर नौनिहाल सिंह सरदारों सहित सेवा में उपस्थित हुआ और ४२० स्वर्ण बुतकी, सोने-चाँदी की ज़ीन के साथ चार घोड़े, पाँच सौ रुपया नक़द सरवारान के रूप में और ४५०० रुपये ज़ियाफत के रूप में भेंट किये। महाराजा अपने पोते से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसे अपनी गोद में बिठाया और प्यार किया।[2] तत्पश्चात् उसने मुख्य दरबारियों के साथ विचार-विमर्श किया जैसे कि उसका नियम था। ऐसे अवसर पर युद्ध करने से पहले कूटनीति के हथियारों को काम में लाने का निश्चय किया। चुनांचे फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन और हारलन को, जो कि एक अमेरिकन था और महाराजा की नौकरी में अभी आया था और बारकज़ाई सरदारों से परिचय रखता था, अमीर के पास भेजा और सन्धि की बातचीत प्रारम्भ कर दी। लगभग पन्द्रह दिन तक सन्धि की बातचीत चलती रही और इस समय में रणजीतसिंह ने चुपके-चुपके अपनी सेना को इस रूप से व्यवस्थित कर दिया कि अमीर दोस्त मुहम्मद का संपूर्ण कटक खालसा की लपेट में आ गया।

इधर फ़क़ीर अज़ीज़ुद्दीन ने दोस्त मुहम्मद के भाइयों को समझा-बुझाकर यह बात उनके मन में बिठा दी कि यदि रणजीतसिंह हार भी जाय तो भी पेशावर उनके हाथ नहीं आ सकता, क्योंकि दोस्त मुहम्मद स्वयं उसे अपने अधीन रखना पसन्द करेगा। इसके विपरीत यदि रणजीत सिंह सफल हुआ तो उन्हें हश्तनगर और कोहाट का प्रदेश जागीर में दिया जायगा, जिनकी वार्षिक आय तीन और चार लाख रुपया होगी और वे अपनी सुरक्षा के लिए कुछ सेना भी रख सकेंगे तथा अपना अमीराना ठाट-बाट भी स्थायी रख सकेंगे।

यह बात उनके मन को भा गई और सुलतान मुहम्मद तथा पीर मुहम्मद दोनों ने अपने भाई से पृथक् होने की ठान ली। दोस्त मुहम्मद खां हाल ही में अपने आपको काबुल-नरेश की उपाधि देने लग गया था। यह बात भी उन्हें अच्छी नहीं लगी थी और वे उसके साथ ईर्ष्या करने लगे थे।

दोस्त मुहम्मद खां की आंखें अब खुलीं। उसके लिए अब युद्ध करने या भाग जाने के अतिरिक्त तीसरा कोई रास्ता नहीं रहा था। चूँकि वह खालसा के घेरे में आ चुका था और सफलता

---

[1] ज़फ़रनामा, पृष्ठ २३०। "मा पीर शुदेम व दिल जवां अस्त हनूज़" रणजीतसिंह की आयु इस समय ५५ वर्ष की थी। [2] सोहनलाल द० ३, पृष्ठ २४५।

की आशा भी कम दिखाई देती थी, इसलिए वह ११ मई की रात को चुपके से अपना कैम्प उठाकर चलता बना। रणजीतसिंह ने भागती हुई अफ़ग़ानी सेना का पीछा करने से अपने अश्वसवारों को रोक दिया ताकि वे पहाड़ी दर्रों से अनभिज्ञ होने के कारण कहीं पठानों की लपेट में न आ जायँ और लेने के देने पड़ जायँ। महाराजा को इस बात का दुःख तो अवश्य हुआ और उसने कई बार अपनी वाणी से भी स्पष्ट किया कि दोस्त मुहम्मद खां बचकर निकल गया और उसके सामान में से कोई वस्तु भी उसके हाथ न आई।[1] पीर मुहम्मद और सुल्तान मुहम्मद को वचनानुसार कोहाट, हश्तनगर और हंगू की जागीर प्रदान की गई जिसकी वार्षिक आय ३,४०,००० रु० थी।

जमरोद की लड़ाई (अप्रैल सन् १८३७ ई०)

सन् १८३५-३६ में पेशावर का प्रबन्ध सरदार हरिसिंह नलुवा के हाथों में सौंपा गया। यह सुयोग्य सेनापति सैनिक दृष्टिकोण से राज्य का प्रबन्ध करने में संलग्न रहा। पेशावर और जमरोद के मध्य में एक शक्तिशाली गढ़ तैयार करवाया और जमरोद के दुर्ग को भी अधिक बलशाली बना लिया और वहाँ ६०० के लगभग चुने हुये सैनिकों का एक दस्ता नियुक्त कर दिया। दुर्ग के बुर्ज़ पर तोपें भी गाड़ दीं। जमरोद का दुर्ग काबुल जानेवाले प्रधानमार्ग पर स्थित है, इसलिए दोस्त मुहम्मद ने हरिसिंह की इन कार्यवाहियों को अपने लिए हानिकारक समझा और एक बार फिर सिखों से लोहा लेने की ठान ली। चुनांचे अप्रैल के महीने में १८,००० सेना, जिस की कमान उसके दो बेटों मुहम्मद अकबर खां, तथा शमसुद्दीन के हाथ में थी, पेशावर को रवाना की गई।

सरदार हरिसिंह नलुवा इस समय पेशावर में निवास कर रहा था। जमरोदगढ़ की कमान उसके नायब सरदार मियाँ सिंह के हाथ में थी और वहाँ छः सौ से अधिक सेना न थी। पंद्रह सौ के लगभग सेना सरदार लहना सिंह सिन्धानवलिया के अधीन उस समय शबकदरगढ़ में उपस्थित थी। चुनाँचे ज्योंही सरदार हरि सिंह नलुवा को अफगान सेना के आने की सूचना मिली तो उसने स्वयं दस हजार सेना के साथ जमरोद की ओर प्रस्थान कर दिया और इधर महाराजा को लाहौर में सहायता भेजने के लिए लिख भेजा। इस कार्य के लिये विशेष तीव्रगति वाले हरकारे भेजे गये। साथ ही सरदार लहना सिंह को शबकदरगढ़ में सूचना भेजकर उसे जमरोद में बुलवाया। परन्तु मुहम्मद अकबर ने शबक़दर वाली सेना को रोके रखने के भाव से पहले ही दो दस्ते उधर भेज दिये थे। चुनाँचे सरदार हरिसिंह अपनी सीमित सेना के साथ ही अफगानी सेना से लोहा लेने के लिये बढ़ा। सरदार मियाँ सिंह ने भी अपनी छः सौ जाँबाज सेना के साथ हजारों अफगानों का तीन चार दिन के लिये डटकर मुकाबला किया। सरदार हरिसिंह के हल्ले के सामने अफग़ान सेना जमरोद में अधिक देर तक न ठहर सकी। उसके पांव उखड़ गये और वह भाग निकली। उनकी १४ तोपें खालसा के हाथ आईं। इसके अतिरिक्त कैम्प का बहुत-सा सामान भी सिक्खों ने लूटा। परन्तु इस लूट में उनकी सैनिक व्यवस्था टूट गई। मुहम्मद अकबर खाँ यह सब कुछ एक टीले की चोटी पर बैठा देख रहा था। ज्योंही खालसा की व्यवस्था टूटी, उसने एक ताज़ादम सेना अपने भाई शमसुद्दीन की कमान में खालसा पर आक्रमण करने के लिये भेज दी। शमसुद्दीन बिजली की तेजी के साथ सिक्खों पर आ पड़ा। इस गड़बड़ में एक गोली सरदार हरिसिंह के पेट में जा लगी जिसने इस वीर सरदार का काम तमाम कर दिया।

[1] सोहनलाल, द० २, पृष्ठ २४६।

सरदार हरिसिंह की मृत्यु का समाचार शत्रु से गुप्त रक्खा गया और वीर खालसा ने साहस न हारा, जिसका परिणाम यह हुआ कि पांच-छः दिन प्रतीक्षा करने के पश्चात् अफगानी सेना जमरोद से ही वापस काबुल लौट गई। न तो पठान जमरोद पर अधिकार जमा सके और न शबकदरगढ़ पर और न पेशावर ही वापस ले सके। परन्तु महाराजा रणजीतसिंह को यह युद्ध इस कारण से अवश्य महँगा पड़ा कि उसमें खालसा का अनुपम सेनापति और चोटी का जर्नल मारा गया। खड्ग की शक्ति से पेशावर को वापस लेने का दोस्त मुहम्मद का यह अन्तिम प्रयत्न था जो निष्फल रहा। इसके दो वर्ष पीछे दोस्त मुहम्मद की दूसरी कथा आरंभ हो जाती है और इधर महाराजा रणजीतसिंह की भी मृत्यु हो जाती है।

पंद्रहवाँ अध्याय

आर्थिक तथा राजनीतिक प्रबंध

राज्य का फैलाव

महाराजा की मृत्यु के समय उसके विस्तृत राज्य का क्षेत्रफल एक लाख चालीस हज़ार वर्ग मील के लगभग था, जिसकी एक सीमा लद्दाख और सकरदु की ओर से तिब्बत तक फैली हुई थी। दूसरी ओर उसके राज्य की सीमा खैबर के दर्रे से चलकर सुलेमान पर्वत की पहाड़ियों से टकराती हुई दक्षिण में शिकारपुर सिंध तक जा पहुँची थी। यह राज्य चार बड़े-बड़े प्रान्तों में विभक्त था जिनके नाम महाराजा के सरकारी लेख-पत्रों में इस प्रकार लिखित हैं :—

(१) सूबा लाहौर (२) दारु-उल अमान सूबा मुलतान (३) जन्नत नज़ीर सूबा काश्मीर (४) ओलकाये पेशावर।

आय और व्यय

महाराजा रणजीतसिंह के समय में सरकारी आय-करों, टैक्सों, तथा अन्य साधनों द्वारा आय-व्यय इस प्रकार थी जिसके आंकड़े निम्नलिखित हैं।

नोट :—निम्नलिखित आंकड़े महाराजा के वित्त-विभाग के सरकारी कागज़ों में से संवत् १८९५ विक्रमी तदनुसार सन् १८३८—३९ ई० के इकट्ठे किये गये हैं। काश्मीर तथा मुलतान प्रान्त की आमदनी इजारे के रूप में ली जाती थी इसलिए इन दोनों प्रान्तों की आय हमने वित्त विभाग के संवत् १९०१ २ वि० के कागज़ों में से ली हैं जहाँ इन दो प्रांतों का पञ्चवर्षीय खाता दर्ज किया हुआ है। जागीरों का खाता किसी एक स्थान पर लिखित मौजूद नहीं है। यह रकमें भिन्न-भिन्न कागज़ों में से ली गई हैं। यह भी लगभग ठीक हैं।

(अ)	(१) लाहौर प्रान्त	११४९४२२१	रुपया
	(२) मुल्तान प्रान्त	२७२६३००	,,
	(३) काश्मीर ,,	२११५५९०	,,
	(४) पेशावर ,,	१२२१६३०	,,
	कुल	१,७५,५७,७४१	,,
(आ) भेंट	भेंट मुशख्सा	२८१५५७	,,
	,, गैर ,,	३२२१००	,,
	कुल	६०३६५७	,,
(इ) सायरात	(१) सायरात	९८०३०३	,,
	(२) आबकारी	८६९६	,,
	(३) रसूमात	७८६६०	,,
	(४) खान निमक	४६३९७५	,,
	कुल	१५३१६३४	,,
(ई) खिराज……		१२,५०,०००	
(ऊ) जागीरें		९११६०००	,,
	कुल आय	३०१५९०३२	,,
		प्रति वर्ष (लगभग)	

नोट :—महाराजा रणजीतसिंह के समय में चालू सिक्का को ज़रब नानकशाही अमृतसरिया के नाम से पुकारा जाता था। उसमें ग्यारह माशा और दो रत्ती चांदी होती थी।

खालसा सरकार के वार्षिक व्यय का सूचीपत्र

नोट :—निम्नलिखित रकमें भिन्न-भिन्न प्रमाणपत्रों से भिन्न भिन्न मदों के लिए ली गई हैं। यह सब रकमें लगभग ठीक हैं। सेना के व्यय के लिए अलग सूची दी गई है।

(१) निजी खर्च	४०००००	रुपया
(२) सरकारान महल खास	४१०००	"
(३) जियाफत इत्यादि	१५००००	"
(४) धर्मार्थ	१२००००	"
(५) [१] रोजीनादार	७६००००	"
(६) कारदार	२५१३००	"
(७) जागीर अहलकार	३६६०००	"
(८) अमला	१२५०.०	"
(९) [२]पेन्शन शहजादा	१५५०००	"
(१०) इनाम और खिलअत	३२००००	"
(११) गुलाबखाना	२०००	"
(१२) अस्तबल खास	५०००००	"
(१३) जखीरा जात	१५००००	"
सम्पूर्ण जोड़	३३७०३००	"

केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन

महाराजा रणजीतसिंह अपने राज्य के आर्थिक तथा राजनीतिक प्रबंध की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सका; क्योंकि वह पढ़ा-लिखा नहीं था। बचपन में ही पिता की मृत्यु के कारण राज्य का भार उसके कन्धों पर आ पड़ा था; इसलिए वह अपनी शिक्षा प्राप्ति की ओर ध्यान न दे सका। अपने पिता सरदार महाँसिंह के जीवन काल में भी उसे शिक्षा प्राप्त करने का कोई विशेष अवसर नहीं मिला क्योंकि सरदार महाँसिह अपनी छोटी-सी रियासत को संगठित करने में ही संलग्न रहा और तीस वर्ष की छोटी सी अवस्था में ही उसका स्वर्गवास हो गया। इसके अलावा रणजीतसिंह ने बपौती में कोई बहुत बड़ा प्रदेश नहीं पाया था, जिसका प्रबन्ध करने के कारण उसे शासन-प्रणाली में व्यावहारिक रूप से प्रवीणता प्राप्त होती। इसके अतिरिक्त इस काल में सिक्ख सरदार केवल प्रदेशों को जीतने के ढंग से ही परिचित थे। आर्थिक तथा राजनीतिक प्रबन्ध से न तो उन्हें कोई लगाव था और न इस ओर ध्यान देने का उन्हें अवसर ही मिलता था। इस काम को उन्होंने अपने हिन्दू मुंशियों तथा मुनीमों के सुपुर्द कर रखा था। रणजीतसिंह ने यही बातें विरसे में पाईं। इसी प्रकार के वातावरण में वह पला और जवान हुआ। लड़कपन में ही उसे अपने राज्य को शत्रुओं से बचाने के लिए संघर्ष करना पड़ा। बीस वर्ष की आयु प्राप्त होने से पहले ही उसने लाहौर पर अधिकार कर लिया। अब इसे यह शुभ और उत्कंठित भावना उत्पन्न हुई कि पंजाब की बिखरी हुई शक्ति को संगठित करके साँचे में ढालें। इसलिए प्रारम्भ से ही इसका ध्यान इस महान् कार्य में लगा रहा और सतत पच्चीस वर्ष तक वह विजय प्राप्त करने में संलग्न रहा।

---

[१] रोज़ीना दार का भाव ऐसे पैन्शनख्वार अथवा जागीरदार से है जिसको प्रतिदिन के हिसाब से रुपया गुजारा के लिए मिलता था। [२] यह पेन्शन अयूब शाह अब्दाली काबुलवाले तथा नवाब सरफराज खाँ मुलतानवाले को मिलती थी।

महाराजा के मार्ग में और भी कठिनाइयाँ थीं। प्रबन्ध का यह पहलू केवल उन्हीं व्यक्तियों की सहायता से पूरा हो सकता था जिन्हें राज्य के आर्थिक, राजनीतिक प्रबंध तथा अन्य राज्यकार्यों के नियमों का सम्पूर्ण ज्ञान हो। परन्तु पंजाब में गत साठ सत्तर वर्षों से नियमित शासन की श्रृंखला टूट चुकी थी; इसलिये इस प्रकार के व्यक्तियों का मिलना दुस्तर था।

फिर भी महाराजा ने राज्य के आवश्यक सीमों को उन्नत करने में कोई कसर उठा न रखी। वह सदा ही ऐसे व्यक्तियों की तलाश में रहता जो कि कार्यालयों को सुसंगठित करने के ढंग से परिचित हों। चुनाँचे जब सन् १८०१ ई० में काबुल सरकार का दीवान भवानीदास लाहौर आया तो महाराजा ने उसको अच्छा वेतन और जागीर देने का बचन देकर उसे अपने पास नौकर रख लिया। इसके बाद दीवान गंगाराम और फिर दीवान दीनानाथ को देहली से बुलवाया गया। इन निपुण पदाधिकारियों की सहायता से सरकार के भिन्न-भिन्न कार्यालयों का नियमित और सुचारु ढंग से संघटन तथा बँटवारा किया गया। लाहौर में कार्यालयों का निर्माण करके उनमें सचिव तथा मुन्शी लगाये गये। केन्द्रीय कोष का सम्पूर्ण प्रबन्ध करने के पश्चात् आय तथा व्यय के खाते सुव्यवस्थित किये जाने लगे। जिलों और तहसीलों में जायदाद की ख़रीद व फ़रोख़्त के लिए काज़ीख़ाने खुल गये। पटवारखानों तथा दफ़्तर कानूनगोओं के नियुक्त किये जाने के पश्चात् इन कार्यालयों में शजरे, खसरे, जमाबन्दी तथा ज़मीन की लगान से सम्बन्ध रखने वाले कुल सूचीपत्र तथा प्रमाणपत्र, रिकार्ड रखने के ध्येय से इकट्ठे किये जाने लगे। इसी प्रकार जिलों और तहसीलों के खजांचियों तथा तहसीलदारों से तमाम खाते लाहौर मँगवाये जाने लगे, जहाँ सारे राज्य के खाते बनाये जाते थे। इधर लाहौर सरकार द्वारा प्रान्तों के लिए नये शासकों तथा प्रदेशों के लिए नये कारदारों को नियुक्त किया जाने लगा। सारांश यह कि महाराजा के भरसक प्रयत्नों के फलस्वरूप पंजाब में एक नियमित केन्द्रीय और दफ़्तरी शासन का पुनर्निर्माण हुआ।

सरकारी कार्यालय

सरकार के नियमित कार्यालयों का निर्माण सन् १८०१ ई० में दीवान भवानीदास के लाहौर में आने के पश्चात् हुआ। जिस दिन से इन कार्यालयों का निर्माण हुआ, तब से लेकर खालसा शासन के अन्त तक सम्पूर्ण विभागों के प्रमाण-पत्र पंजाब-सरकार के रिकार्ड आफिस में मौजूद हैं। सन् १९१५ से १९१९ तक इस पुस्तक के रचयिता ने इस रिकार्ड का स्वाध्याय करके इसे व्यवस्थित किया था। इससे यह पता चलता है कि दीवान का दफ़्तर कई विभागों में बँटा हुआ था। कार्यालयों के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) दफ़्तर वित्त-विभाग :—इस कार्यालय में राज्य के सम्पूर्ण आय का हिसाब रखा जाता था। इसके चार भाग थे (प्रथम) तअल्लुकात—इस भाग में आय का वह अंश जो कि भिन्न-भिन्न परगनों, इलाकों तथा जिलों से मालीया अथवा लगान जमीन के रूप में लिया जाता था, खातावार दर्ज किया जाता था। (द्वितीय) साइरात:—इस भाग में महसूल चुंगी, खान नमक तथा अन्य गुज़र चौकियों से जो आमदनी होती थी, उसका हिसाब रखा जाता था। (तृतीय) वजूहात—इसमें उस आमदनी का भाग रखा जाता था जो कि भिन्न-भिन्न रसूमों में, जिस प्रकार कि आबकारी (मदिरा कर), जुरमाना या दण्ड, न्यायालय तथा कार्यालयों में होनेवाली आमदनी का हिसाब रखा जाता था और चतुर्थ भाग में नज़राना (भेंट) इत्यादि से प्राप्त होनेवाली आय का खाता रखा जाता था। नजराना दो प्रकार की होती थी—मुशख्खसा और ग़ैर-मुशख्खसा। मुशख्खसा में वे रकमें शामिल होती थीं जो कि नियमित खिराज के रूप में पहाड़ी

प्रदेशों—जैसे कि कुल्लू, मण्डी, सुकेत, बिलासपुर इत्यादि से ली जाती थीं। और गैर-मुशख्सा में हर प्रकार की आय —जैसे कि सिरवारना भेंट, शुकराना भेंट, मोहराना भेंट इत्यादि सम्मिलित थे।

(२) दफ़्तर तहवीलात :—महाराजा रणजीतसिंह के समय में प्रत्येक जिले में, तहसील अथवा परगने में नियमित रूप से सरकारी खज़ाना रखने का रिवाज नहीं था, किंतु फिर भी परगाना के सरकारी अफसरों के वेतन तथा अन्य सरकारी आवश्यकताओं को पूरा करने की वस्तुओं को खरीदने के लिए रुपया की बहुधा आवश्यकता रहती थी। इसके लिए महाराजा ने तहवीलदार नियुक्त कर रखे थे कि जिला के मुख्याधिकारी के अतिरिक्त दूसरे विश्वासपात्र तथा सम्मानित व्यक्तियों की देख-रेख में सरकारी रुपया छोड़ दिया जाता था और जिस समय कोई चीज़ खरीदने या बनवाने की आवश्यकता होती तो तहवीलदार के नाम वेतन पत्र लिख दिया जाता था और यह पत्र हिसाब-किताब के साथ आज्ञापत्र स्वीकृति का काम देता था । चुनांचे तहवीलदार द्वारा जो रुपया खर्च होता, उसका बहीखाता इसी कार्यालय में रखा जाता था। खज़ाना आम्रा का खाता, कारखाने जैसे कि तोप, बन्दूक, गोला-बारूद इत्यादि बनाने के खाते, मोदीखाने के तथा बज़ाज़ों, जौहरियों, सुनारों तथा मीनाकारों के खाते भी इसी कार्यालय में रखे जाते थे। इसलिये यह लेखपत्र उस समय की आर्थिक स्थिति को अच्छी तरह प्रकाशित करते हैं। तथा इस में नाना प्रकार की आवश्यक वस्तुओं के बाज़ारी मूल्य लिखित हैं।

(३) दफ़्तर जखीराजात :—राज्य के भिन्न-भिन्न दुर्गों में जमा करने के लिये जो वस्तुएँ खरीदी जाती थीं उस से सम्बद्ध हिसाब-किताब इसी कार्यालय में दर्ज होता था। साधारणतया गजगृह (फील खाने), विशेष सवारी के घोड़ों तथा तोपखाने के घोड़ों के लिये जो सामग्री मोल ली जाती थी, इस का खाता भी इसी कार्यालय में रखा जाता था।

(४) दफ़्तर मवाजिब :—इस कार्यालय में सब कर्मचारियों की माँग और वेतन का खाता रखा जाता था। वित्त विभाग के दफ़्तर की तरह यह भी एक काफी बड़ा दफ्तर था। इस में भी कई छोटे-छोटे भाग थे। जिस प्रकार (अ) आईन सेना सम्बन्धित सैक्शन अर्थात् सेना का वह भाग जो योरुपीय ढंग से तैयार किया गया था (सवारी, प्यादा, तोपखाना इत्यादि)। (आ) सवारी फ़ौज से सम्बद्ध अर्थात् प्राचीन घोड़चढ़ा सेना। (इ) प्यादा फौज अर्थात् जो सेना दुर्गों में रक्षा के लिये रहती थी —से सम्बद्ध। (ई) साइर सिपाह अर्थात् वह श्रेणी जो पहरा इत्यादि के लिये नियुक्त की जाती थी, इस भाग में उस के हिसाब किताब रखे जाते थे। इस के अतिरिक्त अकाली प्यादा सेना के कुछ डेरों के नामों का भी इन्हीं लेखपत्रों में परिचय प्राप्त होता है। (ओ) अमला अथवा कर्मचारियों का हिसाब। कार्यालय के इस भाग में सरकारी कारखानों के मजदूरों अर्थात् लोहार, तोपें बनाने वाले, डाकिये सक्के, खेमें बनाने वाले, मरम्मत करने वाले, फ़र्राश तथा माली इत्यादि के वेतनों का हिसाब रखा जाता था।

(५) मदद खर्च अथवा सहायता व्यय का दफ़्तर:—जो धन राजनीतिक पैन्शन के रूप में अथवा गुजारे के लिये किसी और रूप में विशेष व्यक्तियों को दिया जाता था, उस का हिसाब इसी कार्यालय में रखा जाता था। उदाहरण के रूप में महाराज की खास सेवा के नौकरों, अहलकारों, रोज़ीनादारों तथा कार्यालय के अन्य प्रकार के विविध खर्च का परिचय इन्हीं लेखपत्रों से मिलता है। इन लेखपत्रों से यह भी स्पष्ट होता है कि महाराजा की ओर से मुल्तान के नवाब, अयूब शाह अबदाली तथा राजा तेग सिंह किशतवाड़िया के लिये कितना धन जीवन-निर्वाह के लिये निश्चित किया गया था।

(६) दफ़्तर रोजनामचा:—इस दफ़्तर में प्रतिदिन जो व्यय खजांची के द्वारा किया

जाता था, उस का खाता रखा जाता था। तदुपरान्त यह खाता इस दफ़्तर के लेखपत्रों से उतार कर हर एक रकम को नियमित रोकड़ में लिखा जाता था।

संक्षिप्त जोड़ :—इस शब्द का तात्पर्य उस संक्षिप्त आय तथा व्यय से है जिन का ब्यौरा ऊपर नं० १ से पाँच तक आ चुका है।

दफ़्तर तोशाखाना :—यह कार्यालय भी पर्याप्त बड़ा था। इस के प्रधानाधिकारी को साधारण बोलचाल में तोशाखानिया कहा जाता था। इस की देख-रेख में उपहार वस्त्र, भूषण, सोना-चाँदी, मणियाँ, मूल्यवान पत्थर तथा अन्य प्रकार की दुर्लभ तथा आश्चर्यजनक वस्तुयें रहती थीं। महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक सरकारी लेखपत्र जैसे कि दूसरी रियासतों के साथ संधि-पत्र इत्यादि भी तोशाखाना के अधिकारी की देख रेख में रखे जाते थे।

बड़े तोशाखाने के अतिरिक्त एक छोटा तोशाखाना भी था जिसे 'तोशाखाना बहला' कहा जाता था। इस में आवश्यकता के अनुसार धन तथा अन्य सामान सन्दूकों में रखा रहता था। यदि महाराजा कहीं दौरे पर जाते तो यह संदूक भी उन के साथ होते थे। क्योंकि महाराजा की यह आदत थी कि ज्यों ही किसी को बहादुरी का प्रमाण देते हुए देखते उसे फौरन ही पुरस्कार तथा खिलअत प्रदान कर देते। यह पुरस्कार इत्यादि इसी तोशेखाने से प्रदान किये जाते थे।

तोशाखाना के लेखपत्रों में पहले पहल मिश्र बस्तीराम का नाम आता है। यह व्यक्ति महाराजा के पिता सरदार महानसिंह के पास भी नौकर था। मिश्र बस्तीराम की मृत्यु के पश्चात् यह पदाधिकार महाराजा ने उसके भाँजे मिश्र बेली राम को सौंपा। मिश्र बेलीराम को इस कार्य का सात-आठ साल से अनुभव था तथा वह व्यक्ति दयानतदार और राजभक्त था। चुनाँचे वह सत्ताइस वर्ष तक इस पद पर नियुक्त रहा। कोहनूर हीरा इसी की देख रेख में रखा था और उस के अतिरिक्त किसी भी दूसरे व्यक्ति को यह ज्ञात नहीं था कि कोहनूर हीरा किस डिबिया और किस सन्दूकचे में बन्द है। मिश्र बेली राम के तीन और भाई लाहौर दरबार में दूसरे बड़े-बड़े पदाधिकारों पर स्थित थे। मिश्र रूपलाल जालन्धर का शासक (गवर्नर) था। मिश्र सुखराज आईनी सेना में जरनैल के पद पर नियत था और इस की कमान में चार पलटन प्यादा तथा एक तोपखाना था। मिश्र मेघराज अमृतसर में गोबन्धगढ़ के किले के तोशाखाना का अधिकारी था। इसी प्रकार 'तोशाखाना बहला' भी एक ही कुटुम्ब के आधीन रहा। पहले पहल मिश्र जसामल सं० १८१७ में इसका संरक्षक नियुक्त हुआ। इस की मृत्यु के पश्चात् इसके छोटे पुत्र मिश्र लाल सिंह को यह कार्यभार सौंपा गया। यह वही व्यक्ति है जो कि महाराजा की मृत्यु के पश्चात् शक्तिशाली बना और सिक्खों तथा अंग्रेजों के बीच होने वाली पहली लड़ाई में सरदार तेजासिंह के साथ सेना की कमान कर रहा था। युद्ध के उपरांत जब अंग्रेजों ने लाहौर पर पूर्णरूप से अधिकार कर लिया तो इस व्यक्ति को अंग्रेजों के प्रति युद्ध में की हुई सेवा के बदले में राजा की उपाधि से सम्मानित किया गया। किंतु बाद में उसे फिर से पदच्युत कर दिया गया और साथ ही उसे पंजाब से निर्वासित कर दिया गया। इसके धन सम्पत्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि पदच्युत होते समय इस की सम्पदा की वार्षिक आय एक लाख पंचानवे हज़ार थी। तोशाखाना के पत्र प्रमाणों में कभी-कभी ऐतिहासिक सूझ-बूझ की वस्तुओं का ज्ञान भी प्राप्त होता है। उदाहरण के रूप में मुलतान पर विजय-प्राप्ति के समय में हाथ लगने वाली धन-सम्पत्ति जो कि नवाब मुजफ़्फ़र खान के तोशेखाने में थी, वह सम्पूर्णरूप से इन लेखपत्रों में ब्यौरेवार लिखित है। इस के अतिरिक्त पेशावर की लूट तथा रईसों की जागीरों की जब्ती इत्यादि भी इन्हीं में दर्ज हैं।

महाराजा का खजाना

'उमदतुलतवारीख' में मुन्शी सोहनलाल ने वर्णन किया है कि प्रारंभ में महाराजा के कोष में धन की इस कदर कमी थी कि एक दो मौके पर वह अपनी सेना को वेतन देने में असमर्थ थे। एक बार सेना को केवल दस हजार रुपया देने की आवश्यकता थी; किंतु उस की प्राप्ति भी कठिन थी। आखिर दीवान मुहकमचंद ने पाँच सौ रुपया महाराजा से लेकर सेना में थोड़ा-थोड़ा धन बाँट दिया और फिर सेना को साथ लेकर भेंट वसूली के लिये दौरे पर निकल गया तथा छोटे-बड़े सरदारों से धन प्राप्त करके सेना को वेतन प्रदान किया। इस प्रकार उस ने महाराजा का मान रखा। चालीस साल के शासन के पश्चात् महाराजा अपने खजाने में करोड़ों रुपया रोक, सोने की मोहरें और लगभग बीस लाख रुपये के हीरे छोड़कर मरा। इस के अतिरिक्त संसार भर का सर्वश्रेष्ठ, अनुपम तथा अनमोल कोहनूर हीरा महाराजा के कोषगृह को चार चाँद लगा रहा था। सन् १८४९ में पंजाब की पराजय के समय रणजीतसिंह का खजाना अंग्रेजों के हाथ लगा जिसका मुख्याधिकारी डाक्टर लोगन नियुक्त हुआ। इसने उन सभी वस्तुओं की जो कि महाराजा के तोशेखाने में उपस्थित थीं एक सूची तैयार की। इन में से नमूना के तौर पर इसने निम्नलिखित चंद वस्तुओं के नाम अपनी पत्नी को पत्र में विलायत लिख भेजे थे: कोहनूर, अनगिनित मूल्यवान पत्थर, रोक तथा जिनस, सोने-चाँदी के प्याले, प्लेटें, ग्लास, लोटे, खाना पकाने के बर्तन, काश्मीर के मूल्यवान दुशाले, चोगे और वस्त्र इत्यादि। इस के अलावा महाराजा की सुनहरी कुर्सी, चाँदी की बारहदरी[1] काश्मीरी चाँदनी, चाँदी की चोबों सहित वेतान, जड़ाऊ कवच, शाहशुजा का वेतान, गुरु गोविंद सिंह की कलगी, हजरत मुहम्मद की यादगारी वस्तुयें तथा महाराजा के पिता सरदार महासिंह का वह जोड़ा जो उन्होंने अपने ब्याह के समय पहना था, भी उपस्थित थे। यह मूल्यवान तोशाखाना तथा धन-धान्य से भरपूर कोष-गृह महाराजा के बाहुबल का परिणाम था।

राज्य-प्रबंध

मुलतान, काश्मीर तथा पेशावर प्रांतों के लिये नाज़िम अर्थात् गवर्नर नियुक्त थे। लाहौर प्रांत में परगनावार कारदार नियत थे। बाद में बहुत से परगनों को मिला कर प्रांत को बड़े-बड़े जिलों—जैसे कि जालंधर, काँगड़ा, वजीराबाद तथा गुजरात में विभक्त कर दिया गया। इन जिलों का दरजा छोटे-छोटे प्रांतों के बराबर समझा जाता था।

वैसे तो प्रांत के प्रबंध के लिये नाज़िम उत्तरदायी होता था; किंतु वास्तव में कारदार ही एक ऐसा अधिकारी था जिसको अपने शासन-क्षेत्र के लोगों से पूरा-पूरा परिचय होता था। भूमि-कर का लगाना, इस की उगराही, अवैध भूमिदारों से रिक्ति इत्यादि इस के कर्त्तव्य होते थे। इस के अतिरिक्त न्यायालयों का सिलसिला नियमित न होने के कारण न्याय का कार्यभार भी इसी अधिकारी के कंधों पर था। इलाका की पुलिस भी इसी के अधीन होती थी। वाणिज्य की

---

[1] महाराजा के सरकारी लेखपत्रों में इस के लिए 'बँगला नुकरा' का शब्द व्यवहार में लाया गया है। फारसी में नुकरा का अर्थ चाँदी होता है। इस की दो मंजिलें थीं। भेंट स्वीकार करते समय महाराजा इस बँगले की नीची मंजिल में बैठता था। तीसरे पहर इस की ऊपरी मंजिल पर बैठ दशहरा के दिन सेना की परेड देखा करता था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में भी भारतीय राजाओं और महाराजाओं के पास ऐसे चाँदी के बँगले मौजूद थे। क्योंकि जब महमूद गज़नवी ने महाराजा जयपाल का खजाना तथा तोशाखाना लूटा तो इस में भी इसी प्रकार का चाँदी का बङ्गला उस के हाथ आया था। लोगन एण्ड दलीपसिंह, पृष्ठ १८२।

देख-रेख भी इसी अफसर के सुपुर्द होती थी। उद्योग-धंधों के विकास के लिये भी कारदार ही सहायक होता था। सारांश यह कि आधुनिक समय के डिप्टी कमिश्नर की तरह जिला का हर काम कारदार के हवाले था। इस की नियुक्ति के समय जो नियम-पत्र इसको दिया जाता था उस में उस के कर्त्तव्यों का संक्षेप रूप में उल्लेख होता था। दफ़्तर माल के लेखपत्र देखते समय लेखक को ऐसे बहुत से नियम-पत्र दृष्टिगोचर हुये हैं। उदाहरण के लिए एक ऐसा नियम-पत्र परिशिष्ट के रूप में दिया गया है।

यद्यपि कारदार के कर्त्तव्य इतने महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायित्व से भरपूर थे; किंतु न तो इस का वेतन ही कुछ अधिक था और न सरकार ने इसकी सहायता के लिये अधिक कर्मचारी ही दे रखे थे। इस के कार्यालय में केवल एक खजांची (जिसको २० रुपये मासिक वेतन मिलता था) और एक मुन्शी (जिसका वेतन २५ से ३० रुपये तक प्रति मास था) थे। कारदार की व्यक्तिगत तनख्वाह के लिये कोई नियम अथवा ग्रेड निश्चित नहीं था। रणजीतसिंह के अधिकतर वित्त-संबंधी प्रमाण-पत्रों में उस भाग के कारदार के नाम तथा उनका मासिक वेतन लिखित है। यह वेतन ३० रुपये प्रतिमास से लेकर १५० रुपये तक है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारदार के वेतन का निश्चय भूमि-कर की रकम पर निर्भर था। एक ओर इस रकम और दूसरी ओर कारदार के मासिक वेतन का हिसाब लगाने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक हजार रुपया वार्षिक भूमि-कर के बदले में कारदार को एक आने से लेकर दो आने तक वेतन के रूप में प्रतिदिन मिलता था। परंतु यह मात्रा प्रांत के गवर्नर के वेतन पर लागू नहीं होती थी। गवर्नर का वेतन पर्याप्त अधिक होता था। उदाहरणस्वरूप, मुलतान के गवर्नर लाला सुखदयाल का वेतन सन् १८२० में छब्बीस हजार रुपया प्रति वर्ष था। जनरल अवी तवेला को जिस समय पेशावर का गवर्नर नियुक्त किया गया तो उसका वेतन इकतालीस हजार प्रति वर्ष नियत हुआ। दीवान मोतीराम गवर्नर काश्मीर का वार्षिक वेतन वित्त-विभाग के लेखपत्रों में एक लाख रुपया लिखित है। इस के अतिरिक्त हमने महाराजा रणजीतसिंह की सिविल गवर्नमेंट का औसत व्यय निकालने की भी कोशिश की है; परंतु यह औसत कभी भी दस प्रतिशत से बढ़ने नहीं पाया बल्कि साधारणतया चार और छः प्रतिशत के बीच में ही सीमित रहा।

आशय यह कि आज से एक सौ वर्ष पहले पंजाब प्रांत की सरकार का व्यय तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम था। इस विषय में यह प्रश्न उठता है कि क्या आधुनिक सरकार से तुलना करते हुए महाराजा रणजीतसिंह का शासन इतना सस्ता होते हुए भी प्रभावोत्पादक था? इस बात का अनुमान लगाने के लिए हमारे पास अधिक सामग्री उपस्थित है। बहुत से योरुपीय (अंग्रेज, फ्रांसीसी, इटालियन, जर्मन आदि) महाराजा के शासनकाल में पंजाब में आए। उन्हों ने बड़े-बड़े शहरों, कसबों और ग्रामों का भ्रमण किया। अपने सफरनामों में उन्हों ने महाराजा के शासन-प्रबंध तथा शासन-व्यवस्था की बहुत सराहना की है। कई एक पंजाबी महानुभावों ने जोकि या तो महाराजा के नौकर थे या उस समय जीवित थे, महाराजा के समय की घटनाओं को वर्णन करते हुए महाराजा की शासन-व्यवस्था की बहुत प्रशंसा की है इन साक्षियों से भी कहीं अधिक प्रामाणिक लेख हमारे पास महाराजा के प्रमाण-पत्रों के रूप में हैं। यह परवाने अथवा आज्ञापत्र महाराज के वार्षिक (तिथिवार) चालू प्रमाणों में संगृहीत हैं। इस संग्रह के अध्ययन से प्रतीत होता है कि महाराजा को जिला अधिकारियों की प्रतिक्रिया का कितना परिचय होता था। यदि कोई पदाधिकारी शासित लोगों से दुर्व्यवहार करता अथवा अपने अधिकारों की सीमा का उल्लंघन करता तो या तो उसे वहाँ से तबदील कर दिया जाता या कुछ समय के लिए उसे पदच्युत होना पड़ता था। यह बात संपूर्ण अधिकारियों को भली-भाँति ज्ञात थी कि महाराजा

एक सूझ-बूझ वाला शासक है। ईश्वर ने स्मरणशक्ति भी ऐसी प्रदान की थी कि एक बार की भेंट के पश्चात् न इसे किसी व्यक्ति का नाम भूलता और न रूप। यह भी एक कारण था कि जिलाधिकारी मनमानी कार्यवाही करने से डरते थे। आज्ञापत्रों से स्पष्ट है कि महाराजा बड़े-बड़े अधिकारियों को भी फटकार डालने में संकोच नहीं करता था। एक आज्ञापत्र में तो युवराज खड़गसिंह को भी बहुत कठोर शब्दों से संबोधित किया गया है। यातायात तथा डाक-संचार के साधनों की कमी होने के कारण मुख्याधिकारियों को अधिक अधिकार देना आवश्यक था किंतु फिर भी उन पर महाराजा की कड़ी दृष्टि रहती थी और लोगों को अधिकारियों के अनुचित हस्तक्षेप का डर नहीं था।

सरकार की योग्यता की जाँच की दूसरी कसौटी यह होती है कि क्या उस समय के लोग समृद्धिशाली तथा विकासोन्मुख थे या नहीं। क्या इन्हें पहनने के लिए कपड़ा, रहने के लिए मकान तथा भरपेट भोजन प्राप्य था या नहीं। जितने योरोपियन महानुभावों के सफरनामें पढ़ने का हमें सुअवसर प्राप्त हुआ है। उन में कहीं भी इस बात का वर्णन नहीं मिलता कि गलियों तथा बाजारों में आजकल की तरह भिखारी भीख माँगते दीख पड़ते हों। मुगलों और सिक्खों के शासन काल में धन-धान्य की दृष्टि से सोसाइटी में कोई मिडिल क्लास (मध्यमवर्ग) उपस्थित नहीं था। फिर भी साठ सत्तर वर्ष की संतत अशांति के पश्चात् रणजीतसिंह के शासनकाल में लोगों को चैन और शांति प्राप्त हुई। इन की आजीविका के नए-नए साधन प्राप्त हुए। फौज में एक स्वस्थ युवक के लिए पर्याप्त गुंजाइश थी। कारीगर तथा उद्योगी लोग सरकारी और प्राइवेट कारखानों में नौकरी कर सकते थे। चमड़े के कारखाने, बंदूक, तोप, तलवार, कवच तथा बारूद बनाने के कारखाने देश में आम खुल चुके थे। महाराजा की ७०,००० सेना का आवश्यक सामान इन्हीं कारखानों में तैयार होता था। इस के अतिरिक्त साधारण लोगों के लिए भी आजीविका कमाने के पर्याप्त साधन प्राप्त थे। देश में चैन और शांति के साथ व्यापार को भी बढ़ावा मिल रहा था और व्यापारियों को एक बार फिर रुपया कमाने का सुअवसर मिल गया था। इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि राज्य-कर इतने अधिक नहीं थे कि लोगों के लिए असह्य हों। इन सच्चाइयों के होते हुए हम इस प्रकार की सरकार को अयोग्य नहीं ठहरा सकते। समय की आवश्यकता के अनुसार रणजीतसिंह का राज्य सुव्यवस्थित और सुगठित था। प्रजा उस से प्रसन्न थी। प्रत्येक सम्प्रदाय के साथ उसका व्यवहार निष्पक्ष तथा प्रभावोत्पादक था। कोई पंजाबी ऐसा अनुभव नहीं करता था कि सरकार उसकी अपनी नहीं।

भूमि-कर-प्रबन्ध[1]

भूमि-कर वसूल करने का जो ढंग मुगल साम्राज्य के अंतिम दिनों में अथवा सिख मिसलदारों के समय में प्रचलित था, महाराजा रणजीतसिंह ने भी उसे ही बनाए रखा। यह ढंग सीधा-सादा बटाई का ढङ्ग था। लकड़ी का टोपा (जो उस समय का परिमित प्रमाण था) लेकर कुल अनाज नाप लिया जाता था। कारदार सरकारी भाग अपने अधीन कोठे में इकट्ठा कर लेता था और कृषक अपना भाग स्वयं ले लेता था। किंतु इस ढंग में कई प्रकार की बुराइयाँ और न्यूनताएँ थीं। जब तक अनाज का बँटवारा न हो लेता वह कृषक के खेत में ही पड़ा रहता। बँटवारे से पहले अनाज के ढेर से चोरी का हर समय खटका रहता। कुसमय की वर्षा का डर कारदार तथा भूमिदार दोनों को ही रहता। इस के साथ जगह-जगह से अनाज इकट्ठा करके सरकारी गोदाम तक पहुँचाने के लिए कारदार

[1] अधिक विस्तार सहित वर्णन के लिए लेखक का अंग्रेजी भाषा में लिखित निबन्ध देखिये जो कि सन् १६१८ में जर्नल आफ पंजाब हिस्टॉरिकल सोसाइटी में छपा था।

को कई एक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। परन्तु जब तक महाराजा अपनी विजय-प्राप्ति के काम में लगा रहा उस समय तक वह इस ढङ्ग को बदल नहीं सका। किंतु सन् १८२४ तथा इसके बाद के पत्रों के प्रमाणों से प्रतीत होता है कि बहुत से जिलों में बँटाई की जगह पर कनकौत का ढङ्ग चालू हो चुका था। इस ढङ्ग के अनुसार खड़ी फसल को नाप लिया जाता था और उससे यह अनुमान कर लिया जाता कि कटाई के पश्चात् उस से कितना अनाज इकट्ठा होगा। तत्पश्चात् पिछले दस वर्षों के भाव की औसत निकाल कर मूल्य का अनुमान कर लिया जाता। इसी आधार पर सरकार और भूमिदार का भाग निश्चित करके दर्ज कर लिया जाता था। यह बात उल्लेखनीय है कि इस काल के वित्तविभाग के सम्पूर्ण योरुपीय और हिन्दुस्तानी अधिकारी अपनी रायें प्रकाशित करते हुये लिखते हैं कि खड़ी फसल को जाँचने और नापनेवाले अपने कार्य में इस प्रकार दक्ष और विशेषज्ञ थे कि उनके अनुमानों में गलती रहने की बहुत ही कम सम्भावना थी।

सन् १८२३ तक रणजीतसिंह अपनी विजय-साधना को समाप्त कर चुका था। जम्मू, कांगड़ा, काश्मीर, हजारा, अटक, खैराबाद, डेरा इस्माइलखाँ, डेरा गाजीखाँ तथा मुलतान, लाहौर राज्य का एक अंग बन चुके थे और इन प्रदेशों में पठान शासकों के स्थान पर हिन्दू तथा सिक्ख अधिकारी नियुक्त किये जा रहे थे। यद्यपि पेशावर पराजित हो चुका था किंतु उसे अभी तक लाहौर राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया था। इतने विस्तृत राज्य के प्रबन्ध को बनाये रखने के लिये सेना में वृद्धि और असैनिक भागों को बढ़ाने की आवश्यकता बढ़ रही थी। इसके अतिरिक्त भारत के अन्य शासकों के साथ मेल-मिलाप पैदा करने के लिये मूल्यवान उपहारों का सिलसिला जारी करने के लिये धन की आवश्यकता भी थी। रोक धन की इसलिये भी आवश्यकता थी कि महाराजा ने योरोपीय ढङ्ग से सुशिक्षित सेना को एक बड़ी मात्रा में रखने के लिये सुझाव पेश कर रखा था। खालसा घुड़सवार सेना को या तो वेतन के बदले में जागीर दे दी जाती या उनको वर्ष में दोबार फसल के अवसर पर तनख्वाह बाँट दी जाती। किंतु कवायददान सेना के लिये नकद वेतन देने का ढंग ही प्रचलित था। यही कारण था कि सरकार को अपनी बजट अथवा आय तथा व्यय का पहले से ही अनुमान करने की आवश्यकता हो रही थी।

ज्यों-ज्यों सरकारी आवश्यकतायें बढ़ती गईं वैसे ही मालीये की वसूली का ढङ्ग संशोधित होता गया। चुनांचे महाराजा के आखिरी पाँच छः साल के शासनकाल के लेखपत्रों से ज्ञात होता है कि लाहौर का अधिकतर भाग इजारा के रूप में बड़े-बड़े उत्तरदायी अधिकारियों के संरक्षण में दे दिया जाता। हर एक से पट्टानामा लिखवाकर यह बात निश्चित कर ली जाती कि वह अपने इलाके में से सरकार को इतना रुपया देगा। क़िस्तों की अदायगी के लिये तिथि निश्चित कर ली जाती थी। पट्टादार के लिये यह आवश्यक था कि वह अपनी आय तथा व्यय का ब्यौरेवार खाता रखे ताकि सरकार आवश्यकता के समय उसकी पड़ताल कर सके।

दीवान कृपाराम और मिस्टर जॉन होम फरहंगी की कारदारी के समय में जिला गुजरात में उपजाऊ भूमि को माप कर प्रति बीघा अथवा प्रति कनाल मालीया लगाने का तरीका नियमित कर लिया गया था। यदि महाराजा कुछ समय और जीवित रहते तो राज्य के दूसरे जिलों में भी यही प्रथा प्रचलित हो जाती।

मालीया के विषय में यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राचीनकाल से ही हमारे देश में विशेष प्रकार की पैदावार पर प्रायः रोक लगान लेने का ही नियम रहा है। इन उत्पाद्य वस्तुओं में गन्ना, कपास, तम्बाकू, नील, शाक-सब्जी इत्यादि सम्मिलित होती थीं। बोई हुई पृथ्वी को नाप लिया जाता था और प्रति बीघा या प्रति कनाल के हिसाब से दर नियमित कर लिया जाता था। फसल के तैय्यार होने पर यदि कुछ भूमि की फसल नाश हो जाती तो कुल जोड़ में से उतना घटा

लिया जाता था। इसके अतिरिक्त भूराजस्व लेने की एक और प्रथा भी जारी थी। अर्थात् खास-खास जिलों में नकद जमा कूपों के हिसाब से लगाया जाता था। एक कूप जितनी भूमि सींचता था उसी दृष्टि से लगान उस कूप पर लगा दी जाती थी। वित्तविभाग के लेख-पत्रों में इनको 'चाहान इसतिकरारी' के नाम से पुकारा गया है।

यद्यपि मुलतान, लाहौर और पेशावर प्रांत एक ही राज्य के भाग थे, किंतु हर एक में बँटवारे का ढङ्ग तथा बँटवारे का दर भिन्न था। पेशावर प्रान्त में (शहर और आस-पास के इलाका) सरकार भूमि के उत्पादन की छठे भाग से लेकर तीसरे भाग तक ($\frac{1}{6}$ — $\frac{1}{3}$) की मालिक होती थी। कदाचित् यही कारण था कि प्रदेश अत्यधिक शुष्क तथा पथरीला था। मुलतान की अधिकतर भूमि शुष्क तथा ऊसर (बञ्जर) थी। दीवान सावनमल ने कच्चे तथा पक्के कूपों, बरसाती नालों तथा नहरों की सहायता से भूमि को उपजाऊ बनाने का भरसक प्रयत्न किया। मालीया के दर में कमी कर के लोगों को इस भाग में बसाने का अनुरोध भी किया। इसी कारण से मुलतान में लगान को छठे और तीसरे भाग तक नियमित किया गया था। अलबत्ता लाहौर के कई जिलों में जहाँ भूमि अधिक उपजाऊ थी और थोड़े परिश्रम से ही अच्छी फसल तैयार हो जाती थी, सरकारी भाग पैदावार के आधे तक नियमित था। अन्यथा तीसरा भाग लेने की प्रथा तो साधारणतया प्रचलित थी।

इसके अतिरिक्त चंद एक अबवाब भी लगान के रूप में कृषकों से वसूल किये जाते थे। हमने महाराजा रणजीतसिंह के लेख-पत्रों की रकमों का जोड़ किया है, जिससे पता चलता है कि साधारणतया 'अबवाब' की कुल रक़म मालीये के कुल जोड़ का पाँच और सात प्रतिशत होती थी। और कहीं-कहीं दस और बारह प्रतिशत के बराबर भी चली जाती थी।

रणजीतसिंह के समय में लगान इकट्ठा करने के लिये परगने के वही अफसर नियत थे जो कि मुगल सम्राटों के समय हुआ करते थे। पटवारी के संरक्षण में जमाबन्दी, शजरा अथवा खसरा के लेख-पत्र होते थे। लम्बरदार अथवा मुक़द्दम तहसीली लगान के लिये उत्तरदायी होता था। आजकल के समान जिला का रिकार्ड सदर कानूगो के अधीन होता था। जिलाधीश अर्थात् कारदार नकद रुपया अपनी देख-रेख में मँगवा लेता था और तत्पश्चात् संगीन गार्द के संरक्षण में किसी समीप के कोषगृह में भेज देता था अथवा हुण्डियों के द्वारा लाहौर और अमृतसर में भेज देता था। बहुधा सरकार के आज्ञापत्र के जारी होने पर जखीरा इकट्ठा करने के लिए माल खरीद किया जाता था।

कृषकों की सहायता और सुरक्षा

रणजीतसिंह के जारी किये हुए परवानों और मुन्शी सोहनलाल कृत "रोजनामचा रणजीत-सिंह" सत्यता के साक्षी हैं कि महाराजा कृषकों की भलाई तथा सुरक्षा का विशेष रूप से ध्यान रखता था; प्रत्येक कारदार और इजारादार के लिये आवश्यक था कि अपने इलाके में नये-नये आबादकार लाये तथा उन्हें अपने सद्व्यवहार से प्रसन्न रखे। "आबादि-ए-मुलक मुकद्दम दारंद, बहुसन-ए-सलूक-ए-खुद रिआया रा राज़ी व आबाद साजंद"; इस प्रकार का आज्ञापत्र सदा ही कारदार के नाम जारी किया जाता था तथा प्रस्थान के समय सेनाधिकारियों को आज्ञापत्र द्वारा सचेत कर दिया जाता कि फ़सलों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाई जावे और न तो जलाने के लिए कूपों के चक्र और काष्ठ को प्रयोग में लाया जाय। यदि आज्ञा के उल्लंघन की कोई सूचना महाराजा तक पहुँचेगी तो इसके लिए सेनापति को उत्तरदायी ठहराया जायगा। इस प्रकार की आज्ञा केवल लिखित रूप में ही नहीं रहती थी किंतु इसको व्यवहार में भी लाया जाता था।

मुंशी सोहनलाल लिखते हैं कि एक बार महाराजा की आज्ञा से राजकुमार खड्ग सिंह को फसल की हानि (जो कि उसकी सेना द्वारा हुई थी) का बदला चुकाने के लिए कृषकों को रुपया (मुआवज़ा) देना पड़ा था। इस सुरक्षा के अतिरिक्त यह कानून भी प्रचलित था कि कोई साहूकार अथवा ऋणदाता ऋण की वसूली के समय किसी कृषक का ढोर-डाँगर, हल-पंजाली अथवा भूसा इत्यादि की कुड़की नहीं करवा सकता[1]। भूमिदारों को सरकार की ओर से तकावी तथा कर्जे दिये जाते थे और नये कूप खुदवाने के लिए उनकी आर्थिक सहायता भी की जाती थी।

न्यायालय और दंड

रणजीतसिंह के समय में न्यायालय-प्रणाली सीधी-सादी थी। सिलसिलेवार बड़ी और छोटी अदालतें नहीं थीं जहाँ कि किसी छोटे न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध किसी बड़े न्यायाधीश अथवा निर्णायक के न्यायाल में अपील की जा सके। अलबत्ता लाहौर नगर में एक महान्यायालय स्थित था, किन्तु लेखपत्रों में यह बात वर्णित नहीं है कि इस न्यायालय के लिए न्यायाधीश किस प्रकार नियुक्त किये जाते थे। इनके लिए किस प्रकार की योग्यता अथवा सक्षमता की आवश्यकता थी। अथवा वे कौन से कानून का प्रयोग करते थे तथा उनके अधिकार कहाँ तक विशाल अथवा सीमित थे।

साधारणतया मुकद्दमों का निर्णय करने के लिए उप-नगरों तथा ग्रामों में पंचायतें बनी हुई थीं। फौजदारी अथवा दीवानी के मुकदमें इन पंचायतों के सम्मुख पेश होते थे। जिन-जिन योरुपीय इतिहासकारों ने महाराजा की पंचायत-प्रथा का जिक्र किया है, उन का कहना है कि उच्च कोटि के सत्यवादी, सूझ बूझ वाले अथवा चरित्रवान व्यक्तियों को ही पञ्च नियुक्त किया जाता था।

इन पञ्चायती न्यायालयों के लिये कोई नियम-व्यवस्था लिखित रूप में उपस्थित नहीं थी कि जिनका पालन उन के लिये आवश्यक हो। जैसा कि आजकल के न्यायालयों के लिये ताज़िरात-हिन्द अथवा जाब्ता-फौजदारी का पालन आवश्यक है। साधारण दीवानी मुकदमों जैसा कि लेन-देन, ऋण, नाता निस्बत, शादी-ब्याह, चोरी, अयारी, नक़द संपत्ति तथा जायदाद का निर्णय आम प्रचलित मर्यादा के अनुसार होते थे। किन्तु सम्पत्ति के बँटवारे से सम्बद्ध सम्पूर्ण मुकदमों का निर्णय प्रमाणिक दस्तावेज़ों के आधार पर होता था, और ऐसे प्रमाण-पत्र दफ़्तर कानूनगो अथवा काज़ीखानों से उपलब्ध हो सकते थे। गवाहों से वेद, कुरान, ग्रन्थ साहब और गङ्गाजल की सौगन्ध उठवाने की प्रथा प्रचलित थी। और यह रिवाज़ तत्पश्चात् अंग्रेजी शासन में भी चालू रहा। चोरी का पता करवाने के लिये पद-चिह्न की खोज निकालने वालों की सहायता ली जाती थी। जब पद-चिह्न किसी गाँव में पहुँचता तो चोर को पकड़वाने का उत्तरदायित्व सम्पूर्ण ग्राम पर होता था और ग्राम पंचायत यत्न करके चोर को पकड़वा देती थी। फौजदारी अर्थात् लड़ाई-झगड़े की पुकार के मुकद्दमें उस भाग के कारदार की कचहरी में पेश होते थे। वह जिसको अभियुक्त ठहराता उसको शारीरिक अथवा जुरमाने का दण्ड मिलता। जेल भेजने या बन्दी बनाने का रिवाज़ नहीं था। चोरी और डाका इस प्रकार प्रचलित नहीं था कि हर समय लोगों को जान व माल का भय लगा रहता हो। ग्रामवालों के आपसी लड़ाई-झगड़े प्राय: खेत के बन्ने (सीमा) या फ़सल के आधार पर हो जाया करते थे। किन्तु सरकार इस पर कोई खास ध्यान न देती वरन् गाँव के लोग परस्पर लड़-झगड़ कर बाद में सुलह-सफ़ाई कर लिया करते थे।

---

[1] "व वरुद परवाना वाला मुवलग़ा हा खत्तरी मज़कूर बमूजब आबादी-ए-रिआया सिवाए नर गावान व तूड़ी वग़ैरा अज़ ज़मीनदारान खत्तरी मजकूर अदाए न कुनानीदा दिहंद, मुद्दाए कि नरगावान व तूड़ी कसे शाहुकार रा अज ज़मीनदारान गिफ्तन न दिहंद।"

सम्वत् १८९१ वि० के प्रमाण पत्रों से ज्ञात होता है कि जब कभी किसी व्यक्ति को महाराजा के सामने पुकार करने का अवसर मिलता तो महाराजा उस की पुकार तो सुन लेता किन्तु वैधानिक रूप से वह अपने कारदार जिला या अपने किसी अन्य मुख्याधिकारी को आज्ञा देता कि अमुक व्यक्ति ने राज्यदरबार में यह बयान दिया है। इसका धर्म के अनुसार न्यायालय से शीघ्र ही निर्णय करवाना आवश्यक है। इस प्रकार की आज्ञा कारदार जिला को आगे के लिये सचेत कर देती थी।

कई निवेदन पत्रों (अर्ज़ियों) का निर्णय महाराजा स्वयं ही अविलम्ब कर दिया करता था। इस प्रकार की एक-दो मनोरंजक घटनाएँ हम यहाँ दरज करना उपयुक्त समझते हैं। १६ बिसाख १८९१ वि० में सरदार फतह सिंह मान ने कोट शुजाबाद वासी प्यारा नामक किसी खत्री साहुकार से उसके कथनानुसार ६००० रुपया ऋण के रूप में लिया था। लगातार सात साल तक उपरोक्त सरदार प्यारा खत्री से टाल-मटोल करता रहा और उसे एक कौड़ी भी अदा न की। जब यह विवाद महाराजा के पास लाहौर में पहुँचा तो उस ने मुकदमे की सुनवाई के पश्चात् उपरोक्त साहुकार को १५०० रुपये पर ही फैसला करने के लिये राजी कर लिया और रुपया खजाने से मंगा कर साहुकार के हवाले कर दिया। तत्पश्चात् सरदार तेज सिंह अफीसर कमांडिंग फौज के नाम आज्ञा पत्र भेज दिया कि वह चन्द एक सैनिक भेज कर के सरदार फ़तेह सिंह की जागीर से १५०० रुपया वसूल कर लाये और रक़म सरकारी कोषगृह में दाखिल कर दे। आज्ञा पत्र की लेख-शैली में इस बात पर जोर दिया गया है कि धन की वसूली में किसी प्रकार का विलम्ब न हो, ताकि फ़तेह सिंह स्वयं महाराजा के सम्मुख उपस्थित होकर इसकी अदायगी के लिये मुआफ़ी प्राप्त न कर ले और इस से सरकारी धन की व्यर्थ हानि न हो। एक दूसरे २० मग्घर संवत् १८९१के आज्ञापत्र में भी इसी प्रकार की एक घटना लिखित है। सरदार कर्म सिंह अटारी वाले के नाम साधुराम नामक एक महाजन का ३००० रुपया ऋण था। महाराजा के कहने पर कुल ऋण केवल १६०० रुपया में ही चुका लिया गया। इन निर्णयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराजा की मध्यस्थता का यह ढंग आजकल के डेट कान्सीलिएशन बोर्ड्स के फैसलों के समान था।[1]

आजकल की तरह मुकदमें के चालू करने के समय 'कोर्ट फीस' का लगाना आवश्यक नहीं था। किन्तु यह प्रथा चालू थी कि मुकदमा निपटने पर डिगरीदार से २५ प्रतिशत अर्थात् चौथाई भाग सरकार वसूल कर लेती। इसी प्रकार चोरी का माल बरामद होने पर सरकार का भाग शुकराने के रूप में लिया जाता। मोहराना के रूप में दो रुपया सैकड़ा के हिसाब से वसूली की जाती थी।

रणजीतसिंह के समय में आजकल की तरह कैदखाने नहीं थे। और न भिन्न प्रकार के अभियोगों के लिये भिन्न-भिन्न दण्ड निश्चित थे। साधारणतया जुरमाने का दण्ड दिया जाता था। बेंत और कोड़े भी लगाये जाते थे। कभी-कभी कड़ा जुर्म करने अथवा बार-बार जुर्म करने के बदले में शारीरिक अंग जैसा कि हाथ, नाक, तथा कान काट लिये जाते थे। किन्तु हमारे अध्ययन में यह बात नहीं आती कि महाराजा ने किसी को फाँसी का दण्ड दिया हो। किन्तु एक-दो-बार ऐसा अवश्य हुआ था कि महाराजा ने अपने प्रशासकों की झाड़-फटकार की, क्योंकि उन्हों ने एक-दो अभियुक्तों को प्राणदण्ड (फाँसी) दिया था।[2]

---

[1] पूर्णपृष्ट :— मध्यस्थता अथवा सालसी इत्यादि के दृष्टिकोण को छोड़ कर ऐसी घटनायें इस काल के उच्चवर्ग के व्यक्तियों के निजी अर्थिक जीवन पर भी प्रकाश, डालती हैं। [2] विस्तार के लिये देखो कर्त्ता का लेख जो 'जरनल आफ़ इण्डियन हिस्टरी' पाँचवें खण्ड में प्रकाशित हुआ था।

इसी विषय में एक दूसरा अंग्रेज इतिहासकार लिखता है कि उस ने जब अपनी उपस्थिति में महाराजा द्वारा दिये गये हाथ कटवाने के दण्ड पर आश्चर्य प्रकट किया तो महाराजा ने उस की ओर देखकर कहा "हम दण्ड अवश्य देते हैं किन्तु प्राण किसी के नहीं लेते"।

कभी-कभी दण्ड भी आश्चर्यजनक दिये जाते थे। उदाहरण स्वरूप लोहा गर्म करके अपराधी के मस्तक को दाग़ दिया जाता था। अथवा मुँह काला करके गधे पर पूँछ की ओर चढ़ाकर अपराधी को बहुधा नगर के गली-कूचों में फिराया जाता था। सैनिक लेख-पत्रों में एक बार वर्णन मिलता है कि जब सन् १८४३ में कुमेंदान लाफ्रौन्ट फिरंगी की सेना के सैनिकों ने उपद्रव किया तो इन में से कुछ को नौकरी से निकाल दिया गया। कुछ सैनिकों को जुरमाने का दण्ड दिया गया। काहन सिंह सिपाही का एक कान काट दिया गया और इसके मस्तक पर दाग़ दिया गया। अमीअत सिंह ने उबलते तेल की कड़ाही में हाथ डाल कर निरपराधी होने का प्रमाण दिया। चुनांचे न केवल उसे क्षमा कर दिया गया बल्कि उसे सैनिक के पद से तरक्की देकर नायक नियुक्त किया गया।[1]

आजकल की नियम-व्यवस्था की तुलना में रणजीत सिंह द्वारा स्थापित राज-प्रबन्ध निरंकुश दिखाई देता है क्योंकि उस समय कानून लिखित नहीं हुआ करते थे। भिन्न प्रकार के अपराधों के लिये तदानुसार दण्ड का कोई विधान नहीं था। प्रत्येक निर्णय का आधार जिला के कारदार तथा उस के अधीन पंचों की सम्मति पर निर्भर होता था, किन्तु इस संबंध में किसी प्रकार की राय निश्चित करने से पहले हमें उस समय के समाज के आचार, शिक्षा, समाज तथा सभ्यता सम्बन्धी पहलुओं को दृष्टि में रखना होगा। लिखित नियम-विधान की अनुपस्थिति में भी प्रजा प्रसन्न थी। इस देश में कभी ऐसी प्रथा प्रचलित हुई भी नहीं थी इसीलिये लोग इसकी कमी का अनुभव नहीं करते थे। वरन् जब अंग्रेजों ने पहले पहल पाश्चात्य सभ्यता के आधार पर कुछ नियम चालू किये तो जन साधारण ने इन्हें पसन्द-करने की बजाय नापसन्द किया। आजकल मुकदमें का फैसला प्राप्त करने के लिये जनता को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है वह किसी से छिपी नहीं। कार्य तथा समय का अपव्यय, धन का आवश्यकता से अधिक व्यय, गवाहों की खुशामदें तथा वकीलों की संतत माँगें, बेचारे दावा करने वाले की कमर तोड़ देते हैं। आजकल के न्यायालयों की तरह महाराजा रणजीत सिंह के समय में मुकद्दमों के निपटारे में छः छः मास अथवा वर्ष भर का विलम्ब नहीं होता था, बल्कि एक या दो पेशियों में ही फैसला सुना दिया जाता था। इन परिस्थितियों के प्रकाश में रणजीत सिंह द्वारा स्थापित प्रथा को असंगत कहने में हम वास्तविकता से दूर होंगे।

महाराजा की धार्मिक तथा राजकीय नीति

शासक होने के रूप में रणजीत सिंह की धार्मिक नीति उदारता पर निर्धारित थी। इसने कभी किसी पर अत्याचार करके उसे सिक्ख सम्प्रदाय में लाने की चेष्टा नहीं की। न तो इस प्रकार के ही कुछ अधिक उदाहरण मिलते हैं कि महाराजा ने धन अथवा जागीर का लोभ देकर किसी को अपने सम्प्रदाय में प्रवेश करवाने का प्रयत्न किया हो।[2] महाराजा के शासन काल के

---

[1] विस्तार के लिए देखो लेखक का लेख जनरल आफ़ इण्डियन हिस्ट्री, खण्ड पांचवाँ,

[2] हमारे अध्ययन में केवल दो ऐसे उदाहरण मिले हैं जहाँ किसी व्यक्ति को सिख धर्म की पाहुल लेने पर पुरस्कृत किया गया हो। एक सरकारी लेख पत्र में (४विसाख १८६१ वि०) यह वर्णन मिलता है कि दीवान सिंह खिदमतगार को सिक्ख धर्म ग्रहण करने के बदले ५०० रुपया की जागीर मिली। मुन्शी सोहनलाल लिखता है कि ईसकर पं० मधुसूदन के पुत्र को महाराजा ने कहा कि यदि तुम पाहुल ले लो तो तुम्हें सेना में पद मिलेगा। द०३ पृष्ठ २०४

प्रारम्भ से पहले भी पंजाब में बहुधा हिन्दुओं की प्रवृत्ति गुरुवाणी की ओर अधिक थी। यद्यपि वे सम्पूर्ण रूप से खालसा धर्म में प्रविष्ठ नहीं हुये थे महाराजा के समय में कसबों तथा नगरों में धर्मशालाओं की मात्रा बढ़ती गई और इस प्रकार लोगों का रोहजान गुरुवाणी कि ओर बढ़ता गया। यथा राजा तथा प्रजा, वाला मामला सदा ही चलता आया है। महाराजा खालसों को संख्या की बढ़ता हुआ देखकर प्रसन्न अवश्य होता था। चुनांचे बहुत से हिन्दू महाराजा को प्रसन्न करने के लिये अपनी खुशी से पाहुल लेने में गर्व का अनुभव करते थे। इसी विषय में सर ऐलेग्ज़ेण्डर बर्नज़ जो कि कई बार महाराजा के दरबार में आया, ने एक माननीय सिक्ख के मुख से सुन कर यह लिखा कि औसतन ४ हज़ार के लगभग व्यक्ति प्रति वर्ष सिक्ख धर्म में प्रविष्ट होते थे।[1] सर लैपल ग्रिफन भी इस बात को पुष्ट करते हुये लिखता है कि महाराजा के शासन में खालसा धर्म के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी।

किन्तु रणजीत सिंह ने असिखों पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया और न तो उन की पूजा-प्रणाली में किसी प्रकार की रुकावट डाली। मुसलमान इतिहासकार मुहम्मद लतीफ़ ने अपनी पुस्तक में शिकायत के तौर पर लिखा है कि रणजीत सिंह के शासन काल में मुसलमानों को अज़ान देने की मनाही थी। इस विषय में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अज़ान का देना महाराजा के शासनकाल में या उसकी आज्ञा से नहीं बन्द हुआ। यह प्रतिबन्ध सिक्ख मिसलदारों के शासन में था, क्योंकि फर्रुखसियर तथा मीर मनु के अत्याचारों को सिक्ख अभी तक नहीं भूले थे। हां, महाराजा के समय में यह प्रतिबन्ध हटाया नहीं गया। वास्तविकता तो यह है कि रणजीत सिंह के समय में तो धर्म-सम्प्रदाय का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। जहाँ तक राज्य में नौकरी का सवाल था किसी प्रकार का साम्प्रदायिक भेद-भाव नहीं बरता जाता था। यदि सिक्खों के लिये मुलाज़मत के द्वार खुले थे तो असिखों के लिये वे बन्द नहीं थे। प्रारम्भ में महाराजा के तोपखाना का मुख्याधिकारी मियाँ गौस खान था। उस की मृत्यु के पश्चात् उस का पुत्र सुलतान महमूद खाँन बढ़ते-बढ़ते अपने बाप के पद तक पहुँच गया था। फकीर अज़ीज़ुद्दीन के सामन्त के दरजे के समान किसी अन्य का दरजा न था। देश के दूतावासों के विशेष कार्यों को फकीर अजीज़ुद्दीन को ही सौंपा जाता था। दीवान मुहकमचन्द और मिश्र दीवान चन्द खालसा फौज के सम्मानित तथा चुने हुये जरनैलों में से थे। दीवान मोती-राम, मिश्र रूपलाल और दीवान सावनमल चोटी के गवर्नर थे जिन के संरक्षण में महाराजा ने अपने सब से बड़े प्रान्त दिये थे। दीवान सावनमल का नाम मुलतान के लोग आज तक बड़े गर्व से लेते हैं। इस के छब्बीस वर्षीय शासनकाल में मुलतान उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। दीवान भवानीदास, दीवान गंगाराम और दीवान दीनानाथ की देख-रेख में सम्पूर्ण राज्य के आय तथा व्यय का खाता रहता था। सरकारी कोष-गृह तथा तोशाखाना मिश्र बेलीराम तथा उस के भाइयों के अधीन था। मियाँ राजा ध्यान सिंह तथा उसके भाई मियाँ राजा गुलाब सिंह डोगरा को जो सम्मान महाराजा के दरबार में उस के जीवन के अन्तिम दिनों में था वह कदाचित् ही किसी दूसरे व्यक्ति को प्राप्य हुआ हो। तात्पर्य यह कि हम इस मामले को चाहे किसी भी पहलू से अध्ययन करें हमें इस का एक ही उत्तर जान पड़ता है कि महाराजा की विशाल शासन प्रणाली उदारचित्तता पर निर्धारित थी और इस में धर्म तथा सम्प्रदाय के आधार पर किसी से भी भेद-भाव नहीं बरता जाता था।

---

[1] सर एलैग्ज़ेण्डर बर्नज़ सन् १८३१में महाराजा के दरबार में आया था।

सोलहवाँ अध्याय

महाराजा की सेना तथा उसकी व्यवस्था

महाराजा रणजीत सिंह की सरकार के वेतन-विवरण के लेखपत्रों से पता चलता है कि महाराजा की सेना चार भागों में विभक्त थी। पहले भाग को 'फौज आईन', दूसरी को 'कदीमी घुड़चढ़ा', तीसरे को 'किला जात' और चौथे को 'फौजे जागीरदारां' के नाम से पुकारा जाता था। सेना का अधिकतर भाग कवायददाँ था। और यह योरुपीय सेनाओं की तरह पलटनों तथा रिसालों में विभक्त थी और उसी ढंग पर युद्ध-विद्या तथा कवायद सीखी हुई थी। इस सेना की वर्दी में भी योरुपीय सेनाओं की तरह जाकेट और पतलून सम्मिलित थीं।

मुगल सम्राटों के समय में मुगल सेना का अधिकतर भाग केवल सवारी सेना के रूप में होता था। तोपों का रिवाज़ कम था। लोग तोपखाना के विज्ञान से अधिक परिचित नहीं थे। प्यादा सेना अधिकतर पोलिस, पहरादारी, डाक, चौकी अथवा पालकी उठाने के काम पर नियुक्त की जाती थी। चुनाँचे यही रिवाज हमारे देश में अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक प्रचलित रहा। तत्पश्चात् जब अंग्रेज तथा फ्रांसीसी लोग यहाँ आये तो करनाटक की लड़ाई में उनकी छोटी सी सुशिक्षित प्यादा सेना ने तथा प्रवीण तोपचियों ने भारतीय नवाबों की सेनाओं के घण्टों में ही मुँह फेर दिये तो यह बात सब पर स्पष्ट हो गई कि सवारी फौज के आक्रमण चाहे वे कितने वेग से क्यों न किये जायँ, प्यादा सेना की गोलियों की सतत बौछार के सम्मुख सफल नहीं हो सकते। और न तो तोपों से बरसती हुई आग के सामने सवारी सेना की पेश ही चल सकती है। चुनाँचे शनैः शनैः सिंधिया, हुलकर सुलतान टीपू और निज़ाम हैदराबाद ने अपने पास अंग्रेज तथा फ्रांसीसी नौकर रखने प्रारम्भ कर दिये तथा अपनी सेना में योरोपीय युद्धप्रणाली प्रचलित कर दी। किन्तु पंजाब में अभी तक उसी प्राचीन सवारी सेना का ही रिवाज था। खालसा मिसल-दारों की सम्पूर्ण सेना ही घुड़सवारों के रूप में थी। इस को योरुपीय ढंग में ढालने का विचार महाराजा रणजीत सिंह के मन में कदाचित् सन् १८०५ में आया। इन दिनों में मरहट्टा राजा जसवंतराव होलकर अमृतसर में महाराजा की शरण में आया। जसवंतराव की सेना योरुपीय ढंग से सुसज्जित थी। रणजीत सिंह ने इस सेना की कवायद देखी। दूरदर्शी महाराजा शीघ्र ही भाँप गया कि सुशिक्षित सेना रणभूमि में अशिक्षित सना से अवश्य बढ़ जायगी। चार वर्ष पीछे (१८०६) में महाराजा ने अमृतसर के स्थान पर चार्ल्स मटकाफ़ के छोटे से दस्ते को वीर अकालियों से लड़ते हुए देखा। इस से वह सुशिक्षित सेना की महानता को और भी मानने लगा।

चुनाँचे महाराजा ने अपने मन में यह निश्चय कर लिया कि वह अपनी सेना को योरोपीय ढंग पर शिक्षा देगा। उसे पूरा विश्वास था कि इसकी सेना कवायद सिखाने पर हर प्रकार से लाभदायिक सिद्ध होगी। खालसा सैनिक अभय, वीर तथा योद्धा तो पहले ही से थे। कवायद सीखने पर वह अजेय हो जाते और उनके सामने कोई शत्रु नहीं ठहर सकता।

इस सुझाव पर शीघ्र ही अमल करने का एक और कारण भी था कि सं० १८०६ में अंग्रेजों ने अपने अधिकार क्षेत्र को सतलज नदी तक बढ़ा लिया था। और पटियाला, नाभा, झींद, फ़रीदकोट इत्यादि सिक्ख राज्यों को अंग्रेजों ने अपनी शरण में ले लिया। चुनाँचे

अंग्रेजों तथा महाराजा रणजीत सिंह के इलाकों के बीच सतलज को ही सीमा निश्चित किया गया। महाराजा के मन से यह खटका दूर होना असम्भव था कि अंग्रेज जो कि धीरे-धीरे अपना राज्य-क्षेत्र बढ़ाते हुए कलकत्ता से सतलज तक आ पहुँचे हैं सतलज पर ही सदा आराम से बैठे रहेगें। कभी न कभी स्वयं इसे अथवा उस के उत्तराधिकारियों को उन से लोहा लेना पड़ेगा। इसलिये रणजीत सिंह ने अपनी सेना को पड़ोसी अंग्रेजों की सेना की तरह योरोपीय युद्ध-विद्या सिखाने तथा उस में पाश्चात्य ढंग के जंगी हथियार प्रचलित करने में ही भलाई समझी।

प्यादा सेना

प्रारम्भ में महाराजा रणजीत सिंह ने अपने खालसा सैनिकों को योरोपीय ढंग की कवायद सिखाने के लिये ऐसे व्यक्तियों को नौकर रखा जो अंग्रेजी सेना में नायकी अथवा छोटे-छोटे पदों पर काम कर चुके थे तथा अब या तो वहाँ से भाग आये थे या पदच्युत किये जा चुके थे। इन में से अधिकतर आगरा व अवध प्रान्तों के लोग होते थे, जिन्हें पंजाब में पूर्विये या हिन्दुस्तानी पुकारा जाता था। चुनाँचे प्रारम्भ में महाराजा ने सिखों तथा पूर्वियों की मिली-जुली पाँच पलटने तैयार कीं।[1]

इसके बाद महाराजा ने बड़ी पर्याप्त तनख्वाहें देकर फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ अफसरों को अपनी नौकरी में लिया, जिन्होंने खालसा सेना को सम्पूर्णतया योरोपीय ढंग पर सिखाया।[2] परन्तु महाराजा को अपने ध्येय की प्राप्ति में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। सिख सैनिक घोड़े पर चढ़ कर लड़ने के आदी थे और वे प्यादा सेना में भरती हो कर तथा कन्धे पर बन्दूक रखकर लड़ने को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखते थे। साथ ही वे इस बात से भी सहमत नहीं थे कि उन पर कोई फौजी प्रतिबन्ध लगाया जाय। महाराजा की नवीन प्रकार की सेना पर सिख सैनिक बहुधा फबकियाँ उड़ाते किन्तु महाराजा अपनी धुन का पक्का था। वह यह जानता था कि सिख सैनिक अभी तक योरोपीय ढंग की कवायद की महानता नहीं समझते इसलिये महाराजा ने सिख नवयुवकों को जागीर, पुरस्कार और दूसरे लोभ देकर नवीन प्रकार की पलटनों में भरती करना प्रारम्भ किया। महाराजा इन का साहस बढ़ाने के लिये उन की कवायद स्वयं देखता। इन के करतब देख कर प्रसन्न होता। अपने हाथ से पुरस्कार बाँटा करता, ताकि सिख नवयुवक स्वयं भरती होना प्रारम्भ कर दें तथा उन के मन में नवीन प्यादा सेना के लिये सम्मान बढ़े। चुनाँचे ऐसा ही हुआ और महाराजा के सतत प्रयत्न आठ-दस वर्ष के समय में ही सफल हुए। सेना का यह भाग सिखों में सर्वप्रिय हो गया। महाराजा की मृत्यु के समय सिखों की कवायददाँ प्यादा सेना की संख्या सत्ताईस हज़ार तक पहुँच गई थी।[3]

तोपखाना

प्यादा सेना की तरह महाराजा रणजीतसिंह ने अपने तोपखाना को बेहतर बनाने के लिये भी कसर उठा न रखी। सत्य तो यह है कि योरोपीय लोगों के आने से पहले देश में तोप बनाने और गोला चलाने की विद्या को ठीक प्रकार से जानने वाले बहुत कम व्यक्ति थे। मुगलों का तोप-

---

[1] चार्लस मटकाफ ने स्वयं ये पलटने लाहौर में देखी थीं। वह अपने पत्रों में इसका वर्णन करता है। [2] इन अफसरों की विस्तारपूर्ण सूची पुस्तक के अन्त में दी गई है।

[3]महाराजा रणजीतसिंह के कार्यालय के सेना विभाग के लेख-पत्र देखने से इस बात की पुष्टि हो सकती है। इन नवीन पलटनों में सन् १८१३ से पहले बहुधा पूर्बिये, हिन्दुस्तानी, गोरखे तथा पठान सैनिकों के नाम आते हैं। तत्पश्चात् सिखों के नाम ज्यादा हैं। प्यादा सेना के विस्तारपूर्ण ज्ञान के लिये देखो लेखक का लेख जो जरनल आफ इण्डियन हिस्ट्री, फरवरी सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ था। यह लेख लगभग उसी का संक्षेप है।

खाना और उसके गोला बरसाने वाले हमारी दृष्टि में चाहे कितने ही निपुण क्यों न हों किन्तु योरोपीय तोपों के सामने इन की तोपें घटिया थीं। यही हाल मुगलों के पश्चात् भी रहा। सिख मिसलदारों के पास न तो इतनी तोपें थीं और न इन्हें तोपखाना-विज्ञान का अधिक परिचय ही था। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है रणजीत सिंह इस बात को भली भाँति समझ चुका था कि रणभूमि में तोपखाना की बरसती हुई अग्नि के सम्मुख सवारी सेना अधिक देर नहीं ठहर सकती। इसलिये महाराजा ने इस नवीन तथा प्रभावशाली शस्त्र का खालसा सेना में प्रयोग करने का निश्चय अपने शासनकाल के प्रारम्भ से ही कर लिया था। चुनांचे बहुत सा धन खर्च करके कई स्थानों पर तोपें ढालने के कारखाने चालू किये। पंजाब के भिन्न-भिन्न स्थानों से सकुशल तथा प्रवीण मिस्त्री मँगवाये गये और उन्हें काम पर लगाया गया। महाराजा के प्रयत्नों का फल यह निकला कि पंजाब के मिस्त्रियों ने तोपें बनाने की विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर ली तथा खालसा सेना के लिये बढ़िया सुन्दर और सफल तोपें तैयार कीं। महाराजा के कारखानों में बनी तोपें योरप की तोपों से किसी भी प्रकार कम न थीं। वरन् कई योरोपीय सैनिक अधिकारियों की सम्मति में उन से भी बढ़िया थीं। सन् १८३१ में लार्ड विलियम बैन्टिंग ने महाराजा को चन्द तोपें भेंट के रूप में दी थीं। महाराजा ने इन्हीं के नमूनों पर दूसरी बहुत सी तोपें तैयार करवाईं। सात वर्ष बाद जब ब्रिटिश प्रधान-सेनापति सर हैनरी फैन लाहौर में आया तो वह लार्ड बैन्टिंग वाली तोपों को जो कि पंजाब में बनी तोपों में मिला जुला कर रखी हुई थीं, ऊपरी दृष्टि से पहचान न सका।[1]

महाराजा ने अपनी तोपों के आकर्षक नाम रखे थे जैसे कि 'जंग बिजली', 'फतह जंग' 'ज़फ़र जंग', 'नश्तर जंग', 'शेर-दहान' तथा 'सूरज मुखी' इत्यादि। हर तोप पर उस का नाम तथा निर्माण-वर्ष खुदा हुआ होता था। इसके अतिरिक्त कुछ और भी लेख होता था। कई बार फारसी भाषा में पद या छंद खुदे हुए होते थे जिनकी निर्माण-तिथि 'हरूफे अबजद' द्वारा ज्ञात हो सकती था।

महाराजा के तोपखाना में उस के स्वर्गवास के समय बड़ी और छोटी तोपें मिलाकर ४७० के लगभग थीं, जिन के तोपचियों की मासिक तनख्वाह ३३००० रुपया के लगभग थी। गोला चलाने के काम में सिख सैनिक इतने प्रवीण हो गये थे कि जब १८४५—४६ में सिखों और अंग्रेजों का युद्ध हुआ तो सिख तोपचियों ने ब्रिटिश तोपखाने का बड़े साहस और वीरता से मुकाबला किया तथा शत्रु ने भी इस की सराहना की।

नवीन रिसाला फौज

पैदल सेना तथा तोपखाना के अतिरिक्त महाराजा ने थोड़ा-बहुत सवारी फौज में संशोधन किया और नवीन प्रकार के रिसाले तैयार किये, जिनको महाराजा के फ्रांसीसी अफसर जनरल अलार्ड ने शिक्षा दी। परन्तु सेना के इस भाग की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने में सिख सैनिक पहले से ही प्रवीण थे। साथ ही वे प्राचीन लड़ाई के ढंग को बदलने को तैयार भी नहीं थे।

प्राचीन घुड़सवार सेना

रणजीतसिंह ने नवीन ढंग की पलटनें और रिसाले तैयार कर लिये थे, किन्तु प्राचीन ढंग की सवारी सेना को भी उस ने स्थायी रखा। प्रारम्भ में इसी सेना की सहायता से उस ने पंजाब पर विजय प्राप्त की थी। सेना के इस भाग में अधिकतर सिख सैनिक थे और इसका

[1] तोपों के कारखानों की इस प्रकार आश्चर्यजनक वृद्धि में महाराजा के अफसर सरदार लहनासिंह मजीठा का बहुत हाथ था। यह सरदार गणना, ज्योतिष तथा विज्ञान-विद्या में प्रवीण था। इसकी विस्तारपूर्ण जीवनी के लिये देखो 'पंजाब चीफ्स।'

बहुत सा भाग उन सैनिकों का था जो किसी समय उन स्वतंत्र सरदारों की नौकरी में थे जिन्हें रणजीतसिंह ने समय-समय पर पराजित किया। सरदारों को पराजित करने के पश्चात् वह उनकी सेना को अपनी फौज में मिला लेता था, क्योंकि वह न तो किसी वीर सैनिक को हाथ से खोना चाहता था और न पराजित सरदारों को असहाय रूप में छोड़ शत्रुओं की संख्या में वृद्धि ही करना चाहता था। महाराजा उन्हें खालसा राज्य को विस्तृत करने में लगाये रखता था। महाराजा की मृत्यु के समय ऐसी सेना की संख्या ११००० के लगभग थी, जिनका वार्षिक वेतन बत्तीस लाख रुपए के लगभग था।

जागीरदारी सेना

जागीरदारी सेना की प्रथा भारत में मुसलमानों के समय से बराबर चली आई है। सिख मिसलदारों ने भी इस प्रथा को बनाये रखा और महाराजा रणजीतसिंह ने भी उसे ज्यों का त्यों रखा परंतु बाद में वह इसकी संख्या को घटाता चला गया। सिख सरदारों के ठाट बाट को बनाये रखने के लिये महाराजा उन्हें जागीरें दिया करता था। ऐसे सरदारों के लिए आवश्यक था कि बदले में महाराजा के लिए फौजी सेवायें उपस्थित करें, चुनांचे हर जागीरदार को जागीर के आधार पर एक विशेष संख्या सवारों की अपने पास रखनी पड़ती थी। महाराजा के बुलावे पर उन्हें युद्ध में सम्मिलित होना आवश्यक था। इस सेना के अस्त्र-शस्त्र, पोशाक तथा रसल-रसाईल का प्रबन्ध जागीरदार को करना पड़ता था। यह सब शर्तें पट्टानामा पर दरज होती थीं[1] तथा प्रत्येक सवार और उसके घोड़े का रूप लिखा जाता था। जिसकी प्रतिलिपि सरकारी कार्यालय में रखी जाती थी। इस से जागीरदार किसी प्रकार का धोका नहीं दे सकता था। यह सब बातें केवल लिखित रूप तक ही सीमित न थीं वरन् महाराजा के शासनकाल में इस पर पूरे ध्यान से अमल किया जाता था। समय समय पर जागीरदारों की सेना की पड़ताल भी की जाती थीं और फर्क पड़ने पर बड़े-बड़े सरदारों को दण्ड देने में भी सङ्कोच नहीं होता था[2]। महाराजा के कार्यालय के लेख-पत्रों से इस सेना का संपूर्ण पता नहीं चलता किंतु हमारा अनुमान है इसकी संख्या चार हजार से कम न थी क्योंकि उस के लिये पंद्रह लाख प्रतिवर्ष से कुछ अधिक जागीर सुरक्षित थी।

फ़ौजी शस्त्रागार

सेना के प्रत्येक भाग के साथ शस्त्रागार तथा मिस्त्रीखाना होता था, जहाँ उस के लिए गोला, बारूद, तंबू, कनात तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का सामान इकट्ठा रहता था तथा मिस्त्री-खाने में हथियारों की मरम्मत के लिये प्रबन्ध किया जाता था। आईन सेना के मिस्त्रीखाने का संचालक एक व्यक्ति जवाहरमल नामक था। वह कई वर्ष तक इस पद पर स्थित रहा। इसके नाम पर जो आज्ञापत्र लाहौर से जारी होते थे उनसे प्रतीत होता है कि मिस्त्रीखाने का प्रबंध बड़ी मात्रा में किया हुआ था। प्यादा सैनिकों का सब से बड़ा शस्त्र उनका बंदूक था। तथा

---

[1] नमूने के लिये पट्टानामा की एक नकल दरज की जाती है :

दरीन वक्त फ़रखन्दा रख्त अज़ राहे मिहरबानी तालुका खन्ना अज़ जागीर ५० सवार वजेह नौकरी इवज़ मुबलग़ २५००० रुपया नानकशाहि साल तमाम बदीन मूजब बख-शीदा शुद :—अमरसिंह मिनहालिया ३० नफर; वरयामसिंह मिनहालिया १२ नफर; सरदूलसिंह मिनहालिया ८ नफर; सवारान शाईस्ताकस; लाईक नौकरी, पसंद हुज़ूर अनवर बाशन्द; चिहरा हा पुख्ता दर दफ्तर आली नवीसानीदा दर खिदमत जनाबवाला हाज़ार सरगरम बाशन्द; २१ भादों सं० १८७२ परवानगी खास! असपान उमदा, सिंघान उमदा, जवान शाईसता, सिलाह उमदा, लिबास शुस्ता।[2] एक बार इसी प्रकार की गलती के लिए सरदार हरिसिंह नलुवा जैसा सरदार दण्ड को प्राप्त हुआ था। देखो उमदा उल-तवारीख पृष्ठ, २७१ द्वितीय भाग।

घुड़सवार सैनिक बन्दूक, तलवार तथा बरछे से सुसज्जित होते थे। तोपखाना में कई प्रकार की तोपें थीं। बड़ी-बड़ी तथा भारी-भारी तोपों के लिए महाराजा के रिकार्ड में 'तोप जिन्सी' शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे हलकी तोप को 'तोप अस्पी' और सब से हलकी तोप को तोप 'ज़म्बूरक' के नाम से पुकारा जाता था।[१] इसके अतिरिक्त दो तीन प्रकार की दूसरी तोपों के नाम भी महाराजा के पत्रलेखों में पाये जाते हैं। एक प्रकार की तोप के लिए शब्द 'भरमार' अथवा 'फरमार' लिखा है तथा दूसरी के लिए 'होबठ' अथवा 'होबट' शब्द का प्रयोग किया गया है। भरमार तोपें बोझ में हलकी और शक्ल में लम्बोतरी हुआ करती थीं। इनको दीवार में गाड़ कर या तीन टाँगों वाली चौकी पर रख कर चलाया जाता था। इस की मार बहुत दूरी तक होती थी। 'होबट' शब्द फ्रांसीसी शब्द 'Hobit' अथवा अँगरेजी शब्द 'Howitzir' से बिगड़ कर बना प्रतीत होता है। जहाँ तोप होबट का वर्णन मिलता है वहाँ गोला शब्द के स्थान पर 'शेल' (Shell) शब्द का प्रयोग किया गया है जिस से स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि महाराजा रणजीत सिंह ने पहाड़ी प्रदेशों में युद्ध करने के लिये रासी तोपें प्रचलित कर रखी थीं। यह तथा अन्य शस्त्र सामग्री, कारबीन, पिस्तौल, जज़ाइल, कवच तथा गोला बारूद इत्यादि हर प्रकार की पंजाब में ही तैयार की जाती थीं। सरकारी कारखानों के अतिरिक्त मिस्त्री लोगों ने अपने कारखाने भी चालू कर रखे थे। सरकार उन से ठेका पर काम करवाया करती थी। मुलतान, अमृतसर, लाहौर, वजीराबाद तथा भेरा इत्यादि में पर्याप्त मात्रा में शस्त्र तथा गोला, बारूद बनाये जाते थे। इसी प्रकार चमड़े की वस्तुएँ जैसे कि जीन, गात्रे, सैनिकों की पेटियाँ, तोशदान और पाँव के जूते बनाने के कारखाने भी देश में प्रचलित थे। योरपीय देशों की बनाई हुई वस्तुओं की तुलना में यह चीजे चाहे देखने में बहुत सुन्दर प्रतीत नहीं होती थीं किन्तु युद्ध के समय में तथा व्यवहार के समय यह वस्तुएँ उनसे किसी प्रकार से भी घटिया न थीं। बल्कि उसी प्रकार सफल और लाभदायक थीं। प्रति वर्ष आठ लाख रुपया की शस्त्र सामग्री, माल ढोने के यंत्र तथा सैनिकों की वर्दी इत्यादि पंजाब में ही बनती थी। इसी से ही इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि महाराजा कितना दूरदर्शी था। देश का धन देश में ही रहता तथा पंजाब के मिस्त्री विलायती ढङ्ग का अस्त्र-शस्त्र बनाना सीख गये। यदि पंजाब अँगरेजों के शासन में न चला जाता तो सम्भव था कि यह कारखाने उसी प्रकार चालू रहते और इससे भी अधिक उन्नति करते परन्तु अँगरेज के राजनीतिक तथा आर्थिक स्वार्थ ने बीस पच्चीस वर्ष के अन्दर-अन्दर शस्त्र-निर्माण की इस कला को देश से सम्पूर्ण रूप से ही मिटा दिया।

दुर्गों तथा किलों की सेना

महाराजा रणजीतसिंह के शक्तिशाली होने से पहले पंजाब का प्रत्येक गाँव तथा नगर सम्पूर्णतया एक दुर्ग के समान था क्योंकि बाहरी आक्रमणों के कारण, बचाव के लिए ऐसा आवश्यक था। परन्तु जब रणजीतसिंह अपने राज्य को शक्तिशाली बना चुका तो या तो उसने इन दुर्गों को मिसमार करवा दिया, या उनको गोदामों के रूप में प्रयोग में लाने लगा। केवल उन दुर्गों को स्थायी रखा गया जिनकी फौजी दृष्टिकोण से आवश्यकता थी।

राज्य के भिन्न-भिन्न दुर्गों में रहने वाली सेना को 'फैजकिलाजत' (दुर्ग-सेना) के नाम से पुकारा जाता था तथा उसकी शक्ति और संख्या दुर्ग की सैनिक स्थिति पर निर्भर थी। उदाहरणस्वरूप अटक, पेशावर, मुलतान, कांगड़ा तथा काश्मीर के गढ़ों में सेना की दृढ़ता पर विशेष

[१] 'अस्प' फारसी भाषा में घोड़े को कहते हैं। इन तोपों को खींचने के लिये घोड़ों और खच्चरों और बड़ी तोपों के लिये बैलों का प्रयोग किया जाता था। ज़म्बूरक तोपों को ऊँट की पीठ पर रखकर चलाया जाता था।

ध्यान दिया जाता था। इनमें रसद और अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिक आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ जमा रहती थीं। अन्य छोटे-छोटे गढ़ों में सेना की संख्या नाममात्र होती थी। साधारणतया ऐसे दुर्गों में सेना की नफरी २५ से ५० तक होती थी। शान्ति के समय में सेना के इस भाग की कुल संख्या १४,८०० थी तथा इनका मासिक वेतन १,०४,१५० हजार रुपये था।

प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से यह सेना भिन्न-भिन्न कम्पनियों (बिरादरियों) में विभक्त थी। प्रत्येक बिरादरी (कम्पनी) अपने अफसर के नाम से पुकारी जाती थी। तलब-तनख्वाह के लेखपत्रों में इस अफसर को जमादार लिखा जाता था। किले में रहने वाली सेना के पैदल सैनिक का वेतन पाँच से लेकर सात रुपया प्रतिमास तक था और जमादार का वेतन इससे अधिक या दुगुना तक होता थी। सेना का वेतन गढ़ के मुख्याधिकारी के द्वारा ही बाँटा जाता था किन्तु बाँटते समय बख्शी तथा दीवान का एक-एक मुंशी वहाँ उपस्थित होता था।

जहाँ तक गढ़ की आन्तरिक प्रबन्ध-व्यवस्था का सम्बन्ध है, गढ़ का अधिकारी (थानेदार किला) पूर्णरूपेण स्वतन्त्र था और जिला के अधिकारी (कारदार) को गढ़ के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। गढ़-संरक्षक के कर्त्तव्य, अधिकार तथा उत्तरदायित्व बड़े महत्वपूर्ण होते थे। पाठकों को परिचित करने के लिए हम ऐसे कर्त्तव्यों को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हैं, जो कि उनके लिए मनोरंजन का कारण होगा।

दुर्ग के थानेदार पर गढ़ की सम्पूर्ण सुरक्षा की जिम्मेदारी लागू होती थी। थानेदार के लिए आवश्यक था कि वह सूर्यास्त होने पर गढ़ के द्वार बन्द कर दे तथा सूर्योदय होते ही उन्हें खोलवा दे। गढ़ की चाबियाँ अपने संरक्षण में रखे। बाहर का कोई व्यक्ति दुर्ग के अन्दर प्रवेश न करे। मनोरंजन के लिए गणिकाओं और गाने-बजाने वालों को दुर्ग में बिलकुल न आने दिया जाय। सैनिकों को दुर्ग के भीतर मदिरापान तथा किसी प्रकार का लड़ाई-झगड़ा करने की मनाही थी। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि दुर्ग के सैनिकों तथा समीप के नागरिकों में किसी प्रकार का बिगाड़ उत्पन्न न हो। किला में स्थित सैनिक शहरी दुकानदारों का हिसाब प्रति मास चुकता कर दिया करें। कोई सैनिक अपने वेतन से अधिक व्यय न करे। वरन् अपनी वेतन का आधा भाग वह स्वयं खर्च करे और आधा घरवालों को भेजे। दुर्ग की मरम्मत इत्यादि का कार्य भी थानेदार के जिम्मे होता था। किसी सैनिक की मृत्यु या किसी के भाग जाने पर थानेदार स्वयं उस रिक्ति की पूर्ति नहीं कर सकता था बल्कि इस बात की पूर्ण सूचना उसे सरकार को भेजनी पड़ती थी। (अधिक जानकारी के लिए परिशिष्ट २ देखिए)

सैनिक भरती

महाराजा रणजीतसिंह के समय में सरकार को फौजी भरती के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता न थी। गत पचास साठ वर्ष से फौज की नौकरी योद्धा और वीर नवयुवकों के लिये आकर्षक थी क्योंकि उन्हें किसी सरदार के साथ लूट मार में भाग लेने का अवसर मिल जाता था। प्रारंभ में महाराजा को अपनी कवायददाँ प्यादा सेना में भरती के समय काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा क्योंकि पंजाब के हिंदू तथा सिक्ख सवारी सेना को प्यादा सेना से अच्छा समझते थे। परन्तु रणजीतसिंह ने नवयुवकों को नकद तनखाह, इनाम, पुरस्कार इत्यादि का प्रलोभन देकर इस नौकरी को सर्वप्रिय बना दिया। इसके अतिरिक्त पंजाब के भिन्न-भिन्न जिलों में कुछ ऐसे कबीले आबाद थे जिनका पेशा प्रारम्भ से ही सिपाहीगीरी था। उदाहरण-स्वरूप शाहपुर के टिवाने तथा अवान, झंग तथा चनियोट के सियाल, माझे तथा मालवे प्रदेश के जाट, कांगड़ा और जम्मू के राजपूत, मुहयाल और ब्राह्मण सदैव ही सेना की नौकरी को दूसरी प्रकार की नौकरियों से अच्छा समझते थे।

सेना में रूप तथा आकृति लिखने की प्रथा प्रचलित थी। भर्ती होते ही प्रत्येक नवयुवक सैनिक के रङ्ग-रूप को लिख लिया जाता था जिस में उसका नाम, उसके बाप व दादा का नाम दरज होता था। उस की आयु, उसका वरण, रूप-रेखा, नौकरी में प्रवेश करने की तिथि तथा वेतन इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन होता था। तदोपरांत जब उसके वेतन अथवा पद में वृद्धि होती जाती थी तब उस लेखपत्र में सब कुछ तिथि समेत लिख लिया जाता था। अर्थात् यह लेख-पत्र एक प्रकार से मौजूदा 'सर्विस बुक' का काम देता था। एक सवार की स्थिति में उस के घोड़े का स्वरूप भी दरज कर दिया जाता था। यदि बीमारी अथवा मृत्यु के कारण घोड़ा बदल लिया जाता तो यह बात शीघ्र ही नोट कर ली जाती। सन् १६१४ में जब लेखक महाराजा रणजीतसिंह के दरबार के लेख-पत्रों को व्यवस्थित रूप दे रहा था तो इस प्रकार के हजारों रूप-रेखा-पत्र (कागजात चिहरा नवीसी) उस की दृष्टि से गुजरे। उदाहरण के लिये एक आध की फोटो भी "खालसा दरबार रीकार्ड प्रथम भाग" में प्रकाशित की गयी थी।[1]

वेतन बाँटने का ढंग

महाराजा रणजीतसिंह के समय में रोक तथा प्रति मास वेतन बाँटने की प्रथा चालू की गई। सिक्ख मिसलदारों के समय में मालिये अथवा भूराजस्व-धन से ही वेतन प्रदान किये जाते थे। एक गाँव के मालिये की आय का कुछ भाग प्रति वर्ष नियत कर दिया जाता था और एक आज्ञा-पत्र जारी कर दिया जाता था कि अमुक सवार को इस कदर धन उसके वार्षिक वेतन के बदले में भूराजस्व-धन में से दिया जायगा। विस्तारस्वरूप यह भी लिख दिया जाता था कि फसल रबी के समय इस कदर और फसल खरीफ़ के अवसर पर इस कदर रुपया अथवा अन्न दिया जायगा। दूसरे शब्दों में वेतन-प्रदान का ढंग न तो मासिक और न वार्षिक बल्कि फसलाना था। बड़े-बड़े सरदारों तथा अफसरों को एक-आध गाँव जागीर के रूप में प्रदान कर दिया जाता था, जिस की आय से वह सरदार अपना वेतन भी वसूल कर लेता और अपने सवारों की तनख्वाह भी काट लेता।

जैसा कि पहले भी वर्णन हो चुका है कि ज्यों-ज्यों महाराजा रणजीतसिंह सिक्ख मिसलदारों के भागों को जीतकर अपने राज्य में मिलाता गया उसी प्रकार वह उन की संपूर्ण सेना भी अपनी सेना में सम्मिलित करता गया। इस प्रकार महाराजा के वेतन संबंधी लेख-पत्रों से यह बात स्पष्ट है कि शुरू-शुरू में रणजीतसिंह की सेना में वेतन बाँटने के तीन ढङ्ग प्रचलित थे। अर्थात् जागीरदारी प्रथा, फसलाना प्रथा और रोक मासिक वेतन प्रथा। अंतिम प्रथा पहले पहल केवल कवायददाँ प्यादा सेना के लिए ही प्रचलित की गई थी, क्योंकि इस सेना में भरती होने-वाले सैनिक तथा अधिकारी प्रायः पूर्बिये अर्थात् गैर पंजाबी थे तथा वे प्राकृत रूप से रोक वेतन प्राप्त करने के इच्छुक थे। शनैः शनैः प्रत्येक भाग में प्राचीन प्रथा बन्द करके रोक वेतन की प्रथा प्रचलित की गई।

वेतन की मासिक मात्रा नियत करके उसे नियमित रूप से गिना जाता था।[2] परंतु आजकल की तरह वेतन-प्रदान प्रति मास नहीं होता था। बल्कि एक आदमी का पाँच-छः मास का वेतन सरकार के अधीन रहता था। किंतु खालसा दरबार के चालीस वर्ष के लेख-पत्र देखने पर यह बात हमारे निरीक्षण में आती है कि आईन सेना की स्थिति में (१) मास वैशाख से श्रावण तक अर्थात् चार मास का वेतन असूज अथवा कार्तिक में बाँटा जाता था। (२) भादों मास तथा

[1] देखिये कैटलाग खालसा दरबार रेकार्ड, प्रथम भाग, सन् १६१६।

असूज का वेतन पौष अथवा माघ में दिया जाता था। (३) कार्तिक तथा मग्घर का वेतन वैशाख अथवा ज्येष्ठ में बाँटा जाता था। (४) पौष तथा माघ का वेतन बिसाख अषाढ़ मास में दिया जाता था। (५) फागुन तथा चैत का वेतन सावन अथवा भादों में बाँटा जाता था। अभिप्राय यह कि वेतन की बाँट का सिलसला कम-बेश सारे वर्ष में चालू रहता था। घोड़चढ़ा अर्थात् बे-कवायद सेना के लिए कोई ऐसा नियमित ढंग प्रचलित नहीं था। बहुधा यह लोग अपना वेतन जागीर अथवा मालिये के भाग के रूप में लेना पसन्द करते थे। जब उन में से अधिक संख्या को रोक वेतन देने की प्रथा प्रचलित हुई तो भी वेतन वर्ष में दो या तीन बार से अधिक नहीं बाँटा जाता था क्योंकि इन में अधिक संख्या प्रायः अमीर तथा ऊँचे घराने के व्यक्तियों की ही हुआ करती थी। इस लिये वेतन में किसी प्रकार के विलम्ब के लिए वे किसी प्रकार अनुपयुक्त तथा क्रोधपूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन नहीं करते थे। महाराजा भी इन से बहुत दयालुता का व्यवहार करता तथा मन में उन का सम्मान करता था। यही लोग उस के प्राचीन साथी थे और इन्हीं की सहायता से उस ने कांगड़ा, जम्मू, काश्मीर, मुलतान तथा पेशावर जैसे प्रदेशों को जीता था।

घोड़चढ़ा सेना के सवारों का वेतन प्रायः तीन सौ से चार सौ रुपया प्रति वर्ष नियत था किंतु इनके बड़े-बड़े अफसरों तथा सरदारों को बड़ी-बड़ी जागीरें प्रदान कर रखी थीं जिस से वे अपने इज्ज़त आबरू को कायम रख सकते थे। जिस जिस योरोपीय यात्री ने अपने सफरनामें में महाराजा रणजीतसिंह की इस सेना का वर्णन किया है उस ने इस घुड़सवार सिपाही की बहुत प्रशंसा की है। वे लिखते हैं कि इस सेना का प्रत्येक युवक स्वास्थ्य तथा आरोग्यता का नमूना तथा आदर्श होता था। लंबा कद, पतला और फुरतीला शरीर, भरा चेहरा, तेजपूर्ण नेत्र, सिर पर चमकता हुआ खोद, तन पर कवच, कमर में सुनहरी पेटी तथा उस के साथ लटकती हुई चमकदार खड्ग, पीठ पर जड़ाऊ ढाल तथा कमान और त्रिपुंड, कंधे पर लटकी हुई नालीदार बंदूक और हाथ में लम्बा नेजा। घोड़े पर सवार यह युवक जब सामने से गुजरता तो मुख से हठात् निकल जाता है "ईश्वर! वीरता का कैसा आदर्श स्वरूप है। यदि आज यह वीर सारे संसार को पराजित करना चाहे तो इसके लिये कोई बड़ी बात नहीं। विजय की देवी स्वयं इसके चरण चूमेंगी।"

कवायददाँ सेना के विषय में योरोपीय इतिहासकारों की रायें[1]

जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है, महाराजा रणजीतसिंह खालसा सेना की वीरता और साहस से भली-भाँति परिचित था। उसे पूर्ण विश्वास हो चुका था कि यदि उसे योरोपीय ढङ्ग पर शिक्षा देकर पाश्चात्य युद्ध-प्रणाली से परिचित कर दिया जाय तो लाहौर सरकार की यह सेना एक दिन अजेय बन जायगी। चुनांचे ऐसा ही हुआ। सन् १८४६ में जब अंग्रेजों और सिक्खों की बड़ी रक्तपातक लड़ाइयाँ हुईं तो उस समय यद्यपि महाराजा स्वयं स्वर्ग सिधार चुका था और सेना की अगवाही (पथ-प्रदर्शन) करने के लिए कोई विश्वासपात्र तथा काबिल नेता नहीं था, फिर भी सिक्ख सेना अंग्रेजी सेना के समान बलशाली थी। ब्रिटिश सेना का प्रधान सेनापति लार्ड गफ स्वयं इस बात को मानता है कि 'यदि खालसा सेना में इस समय कोई योग्य सेनापति उपस्थित होता जो इन्हें पूर्ण रूप से युद्ध के ढंग और हुनर दिखलाने का अवसर देता तो हम नहीं कह सकते कि इस युद्ध का परिणाम क्या होता।'

---

[1] इस संबंध में देखो लेखक का लेख 'जरनल आफ् इंडियन हिस्टरी' सं १९२२।

महाराजा रणजीतसिंह की सेना की सूची सन् १८३८-३९

ब्यौरा		संख्या	वार्षिक वेतन (रुपये में)
I कवायददाँ सेना :—	(अ) (प्यादा)	२६६१७	२७३१६२०
	(आ) रिसाला	४०६०	१०८४५००
	(ई) तोपखाना	४५३५	३९४८७२
		३५२१२	४२११२९२
II सवारी सेना :—			
	(अ) डेरा सरदाराधीन	९५९५	२५३२५६८
	(आ) घोड़चढ़ा खास	१२००	६३६१४६
	(इ) डेरा जागीरदारां	३४००	१६०००००
III	दुर्ग सेना	१००००	६०००००
		५९४०७	९५८०००६
IV अंग्रेज तथा फ्रांसीसी अफसरों का वेतन जो शेष पत्रों में पृथक् दरज है।			२०००००
		सम्पूर्ण जोड़	९७८०००६ वार्षिक

[नोट – उपरोक्त रकमों के अतिरिक्त लगभग आठ लाख रुपया प्रति वर्ष से अधिक विभाग मैगजीन का सामान खरीद करने में खरच किया जाता था। अर्थात् फौज, पर कुल व्यय १०५८०,००० रुपया के लगभग था।]

मासिक वेतन की सूची

[जो रणजीतसिंह के प्रशासन में सैनिकों तथा अफसरों को मिलती थी। महाराजा की मृत्यु के पश्चात् खालसा सेना ने अपनी कमजोर सरकार से अनुरोध करके अपने वेतन में वृद्धि करवा ली थी। हमने वेतन की वह मात्रा दरज नहीं की।]

पद	प्रारंभिक वेतन (रुपयों में)	अधिकतम वेतन (रुपयों में)
जरनैल	४००	४६०
करनैल	३००	३५०
कुमेदान	६०	१५०
अजुटैन	३०	६०
मेजर	२१	२५
सूबेदार	२०	३०
जमादार	१५	२२
हवलदार	१३	१५
नायक	१०	१२
सारजैन्ट	८	१२

फुरिया	७½	१०
साइर (सैनिक)	७	८½

कर्मचारी गण (अमला) जिनमें खलासी, सक्का, चड़्याली, सारयान, झण्डा उठानेवाला और खागरी सम्मिलित थे, प्रत्येक व्यक्ति चार रुपया प्रति मास के हिसाब से वेतन पाते थे। परंतु बेलदार को पाँच और मिस्त्री को छ: रुपए प्रतिमास मिलते थे।

---

[1] यहाँ यह बतला देना अनावश्यक न होगा कि उस समय एक फौजी जवान के खाने का मासिक खर्च दो रुपये से अधिक नहीं था। विस्तार के लिये देखो लेखक का लेख 'इंडियन हिस्टारिकल रिकार्ड्ज़ कमीशन प्रोसीडिंगज़' नं० ३१ जनवरी १६५५ पृ०६।

सत्रहवाँ अध्याय

महाराजा का दरबार

पंजाब में मुगल साम्राज्य की अवनति के साथ ही उनके दरबारों का ठाट-बाट भी समाप्त हो गया और प्रचलित रस्में भी समाप्त होने लगीं। यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दि के मध्य में ये रस्में सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो गईं। पंजाब में मुगलों के उत्तराधिकारी या तो सिक्ख मिसलदार थे या काबुल के नामज़द पठान प्रशासक। परन्तु उनके आर्थिक साधन इतने कम और सीमित थे कि न तो उन में मुगलों की पुरानी शान-शौकत को बनाये रखने की सामर्थ्य थी और न उन की संस्कृति और सभ्यता इस प्रकार की थी की इस रुचि को प्राप्त कर सकें। चुनांचे जब रणजीतसिंह के शासनकाल में पंजाब का पुनर्निर्माण हुआ और लाहौर दरबार में फिर से भारत के अन्य राज्यों के वकील आने-जाने लगे तथा परस्पर भेंट आदि देने का सिलसिला फिर जारी हुआ तो महाराजा को भी रस्मों से सम्बद्ध नियम तथा खिलअत इत्यादि के लिये कायदे बनाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। किंतु, जिस प्रकार रणजीतसिंह ने अन्य प्रबन्ध-विषयक मामलों में मुगलों द्वारा स्थापित नियम-विधान में समय अनुसार परिवर्तन कर लिया था उसी प्रकार भिन्न-भिन्न रस्मों और रिवाजों को भी अपने विचारों और स्तर के अनुकूल ढाल लिया।

महाराजा रणजीतसिंह तथा मुगलों में एक स्पष्ट अन्तर था। जहाँ मुगल सम्राट् ताज और तख्त को राजकीय चिन्ह समझते थे वहाँ महाराजा के दरबार में ये दोनों ही वस्तुएँ नहीं थीं। रणजीतसिंह ने अपने बैठने के लिये न तो राजासन (तख्त) बनवाया और न पहनने को ताज। दरबार लगाते समय वह एक बाजूदार कुर्सी पर पालथी मार कर बैठ जाता। कभी-कभी सामने पाँव रखने के लिए एक चौकी उपस्थित होती थी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महाराजा को पालथी मार कर बैठने में ही आनन्द आता था। राज-दरबारियों तथा मंत्रि-गण के लिये भूमि पर गलीचे बिछे हुए थे। राजदरबार के नियमों को दृष्टि में रखते हुए किसी व्यक्ति को बोलने अथवा अनुपयुक्त बातचीत करने की आज्ञा न थी। महाराजा के संकेत पर प्रधान मंत्री बोलता या जब महाराजा किसी से स्वयं कोई बात पूछता तो उसका उत्तर दे दिया जाता। अन्यथा दरबार में लोग मौन रहते। प्रतिदिन दरबार में बहुधा राज्याधिकारी तथा तहवीलदार उपस्थित रहते और उनकी सहायता से सरकारी कार्य पूर्ण होते थे। यह आवश्यक न था कि रोजाना सबेरे का दरबार केवल किले अथवा महल में ही लगाया जावे। यह दरबार जहाँ महाराजा का जी करता—कभी किसी उद्यान की बारादरी में, या वृक्षों के झुण्ड में, या वितानों तले किसी खुले मैदान में—लगा लिया जाता था।

जब बाहर से आया हुआ कोई अधिकारी अथवा किसी राज्य का दूत या कोई यात्री समय पर दरबार में उपस्थित होता तो निर्धारित रस्म के अनुसार और पद की योग्यता के अनुसार रोक रुपये से महाराजा का सिरवारना करता। तदुपरान्त रोक या पदार्थों के रूप में भेंट उपस्थित करता। मुगल-राज्य के समय की लंबी चौड़ी पाद-चुम्बी सलामें या प्रणाम (कोरनश) करने का नियम महाराजा के दरबार में प्रचलित नहीं था और न तो महाराजा की कुर्सी के दोनों ओर दण्ड-रूपी राज्य-चिह्न लिए चोबदार खड़े होते थे। सरकार की ओर से बाहर से आने वाले अतिथियों तथा राजदूतों की बहुत आव-भगत होती थी। मेहमानों की संख्या और सामर्थ्य के अनुसार उन्हें हर प्रकार की सूखी रसद दे दी जाती थी।

महाराजा रणजीतसिंह का दरबार

(पंजाब सरकार के रिकर्ड विभाग के सौजन्य)

रणजीतसिंह के समय में दरबारी पोशाक में भी स्पष्ट रूप से परिवर्त्तन आ चुका था। चौड़ी-चौड़ी शलवारें, घुटनों से नीचे तक आने वाले जामे, कमर बन्द, फूली हुई पगड़ी आदि सब लुप्त हो चुके थे। अब उन के स्थान पर चुस्त पाजामें, घुटनों तक या उससे जरा ऊपर तक मलमल के अँगरखे, गले में दुपट्टे, और सिर पर घुटो हुए पगड़ियाँ प्रचलित थीं। बड़े-बड़े अमीर तथा दरबारी लोग गर्मियों में मलमल और सर्दियों में काश्मीरी पश्मीने के कपड़े पहनते थे।

दरबारी भाषा

महाराजा रणजीतसिंह के हर प्रकार के सरकारी लेख-पत्र जैसे कि हिसाब-किताब, आज्ञा-पत्र तथा परवाने लेखक की दृष्टि से गुजरे हैं। यह सब फारसी भाषा में ही लिखे हुए हैं, क्योंकि उस समय फारसी ही प्रचलित थी। मुगल शासनकाल में इस्लामी शिक्षा तथा संस्कृति हमारे लिखे-पढ़े लोगों पर इस प्रकार प्रभुत्व जमाये हुए थी जैसे कि आज कल अंग्रेज़ी भाषा अथवा अन्य योरुपीय विद्या या संस्कृति। चुनांचे मुगलों के पश्चात् भी जो थोड़ा बहुत शासन प्रचलित रहा उसका सम्पूर्ण कार्य फारसी भाषा में ही होता था। जब सिक्ख मिसलदारों ने राज्य-स्थापित किये तो दफ़्तरी कार्यों के लिये इसी भाषा को प्रचलित रखा और यही दशा महाराजा रणजीतसिंह के समय में भी थी। परन्तु भाषा तथा प्रस्ताव की दृष्टि से रणजीतसिंह की फारसी मुगलों की फारसी से कुछ भिन्न थी। इसमें न तो वह निबंध-व्यवस्था की झलक थी और न परवानों और आज्ञापत्रों की भाषा मुहावरेदार और रवानीवाली थी। वरन् उसकी शब्दावली और व्याकरण पर पंजाबी भाषा का प्रभाव स्पष्ट था। अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी के कुछ शब्द भी उस में सम्मिलित हो चुके थे।

यद्यपि महाराजा के दरबार में लिखने के लिये फारसी भाषा का रिवाज आम था तथापि दरबार की बोलचाल तथा मौखिक कार्रवाई के लिए पंजाबी का ही प्रयोग होता था। महाराजा को स्वयं पंजाबी भाषा से विशेष प्रेम था। एक बार महाराजा शालीमार बाग की सैर कर रहा था कि सहसा शालीमार शब्द पर बाद विवाद छिड़ गया। महाराजा ने फरमाया कि शब्द 'शालामार' पंजाबी भाषा में बहुत बुरा शब्द है। क्योंकि इसका अर्थ 'खुदा की मार' है। जब महाराजा को बताया गया कि यह तुर्की शब्द है और उसका अभिप्राय प्रसन्नता अथवा आनंद-दायक स्थान है तो महाराज ने व्यंग सहित हँस कर उत्तर दिया कि पंजाब में पंजाबी बसते हैं न कि तुर्की। इसलिए प्रसिद्ध स्थानों के नाम उसी भाषा में होने चाहिये जिसे साधारण सूझ-बूझ के लोग भी समझ सकें। चुनांचे यही सुझाव स्वीकार हुआ और 'मार' का शब्द उड़ाकर बाग का नाम 'शाला बाग' रख दिया गया।

महाराजा ने पंजाबी भाषा के साधारण तथा घरेलू शब्दों को भी सरकारी लेखों में फारसी भाषा में परिवर्तित करने की आज्ञा न दी। चुनांचे खाना खाने के लिए 'परशाद छकना', मुँह हाथ धोने और मल-त्याग के लिए 'सूचेता" और स्नान के लिए सदा ही 'इश्नान' का प्रयोग होता रहा। महाराज के सरकारी लेख-पत्रों तथा परवानों में तथा मुन्शी सोहनलाल कृत "रोज-नामचा रणजीतसिंह" में ऐसे बिसियों शब्द खोजे जा सकते हैं तथा प्रत्येक दरबारी भी इस बात को पसंद करता था, क्योंकि चंद एक योरुपीय तथा काश्मीरी पंडितों को छोड़ कर सभी सामन्तों की मातृभाषा पंजाबी थी। महाराजा अपने हस्ताक्षर भी पंजाबी में ही करता था। प्रत्येक लेख-पत्र पर वह गुरमुखी में 'सही' लिख देता था, तथा सरकारी मुहर पर गुरमुखी शब्दों में 'अकाल सहायी रणजीतसिंह' खुदा हुआ था।

खास-खास दरबार

विशेष अवसरों पर दरबार बड़ी शान-शौकत तथा धूम-धाम से लगाये जाते थे। दशहरा का दरबार तो एक अनुपम दृश्य उपस्थित करता था। प्रातःकाल ही महाराजा प्राचीन मर्यादा के अनुसार अश्व (घोड़ा) तथा खड्ग (तलवार) की पूजा किया करता था। मध्याह्नोपरांत राज्याधिकारियों से भेंट (नजराने) ली जाती थी। बड़े-बड़े सरदार रीति-अनुसार एक बढ़िया घोड़ा, सोने या चांदी की जीन के साथ तथा सोने की बुतकी तथा अशर्फियाँ भेंट करते थे। कम दरजे के कर्मचारी केवल सोने की बुतकी तथा रोक रुपया ही महाराजा को देते थे। इस अवसर पर महाराजा सदा ही अपने 'बंगला नुकरा' अथवा चांदी के बंगले में आसीन होता।[1] दशहरा के उत्सव के दरबार पर सारी सेना की हाजरी जरूरी थी तथा गैर हाजरी के लिए दंड निश्चित था। दोपहर के पश्चात् महाराजा बंगले की ऊपरली छत पर बैठ कर सेना की 'परेड' देखा करता था। जब तक रावण के बुत को आग न लगा दी जाती, उस समय तक परेड चालू रहती। इसी प्रकार बसंत और होली के त्योहार पर भी दरबार लगता था। किंतु दशहरा का दरबार ठाट-बाट की दृष्टि से अनुपम था।

रोपड़ के स्थान पर लार्ड विलियम बैंटिंग तथा महाराजा के बीच ऐतिहासिक भेंट के समय भी एक अनुपम दरबार लगाया गया था। इस दरबार की सजावट तथा ठाट-बाट देख कर वहाँ उपस्थित अंग्रेज आश्चर्यचकित रह गये थे। रीति के अनुसार महाराजा ने गवर्नर जनरल की अगवानी के लिए अपने दोनों राजकुमारों कँवर खड़ग सिंह और कँवर शेर सिंह को दरिया के उस पार भेजा। महाराजा स्वयं भी हाथी पर सवार हो कर दरिया के इस ओर पुल तक स्वागत के लिए आये। महाराजा की ओर से यह आदर-सम्मान गवर्नर जनरल को ही प्राप्त हुआ था।[2] गवर्नर जनरल के सम्मान में तोपें चलाई गईं और खालसा सेना ने बाकायदा सलामी उतारीं। जब गवर्नर जनरल का हाथी महाराजा के हाथी के बिलकुल समीप पहुँच गया तो लाट साहब अपने हाथी के हौदे से निकल कर महाराजा के हौदे में चले आये।

दरबार में पहुँच कर भेंट का सिलसिला शुरू हुआ। प्रत्येक सरदार ने एक एक सोने की मोहर भेंट के रूप में दी जो गवर्नर जनरल ने हाथ लगा कर वापस कर दी। तत्पश्चात् राग-रंग का सिलसिला प्रारम्भ हुआ जो पर्याप्त समय तक चालू रहा। चलते समय महाराजा की ओर से गवर्नर जनरल को बहुमूल्य तोहफ़े और खाद्य पदार्थ से भरे हुये थाल पेश किये गये। इस से पूर्व जब महाराजा को गवर्नर जनरल ने अपने दरबार में निमंत्रित किया था तो उस ने भी महाराजा के आदर-सम्मान में कोई कसर नहीं उठा रक्खी थी।

सवारी का जुलूस

जिस समय महाराजा के जुलूस की सवारी निकलती उस समय रीति व नियम के

---

[1] ऐसा प्रतीत होता है कि चाँदी का बंगला बनवाने की रीति हमारे देश में चिर काल से चली आती है। जब महमूद गज़नवी ने कांगड़े के राजा के खज़ाना को लूटा तो उसमें भी। एक चाँदी का बंगला महमूद के हाथ आया।[2] यद्यपि महाराजा रणजीतसिंह एक अनपढ़ प्रशासक था फिर भी वह सभा-संबंधी शिष्टाचार से भली भाँति परिचित था। जब कँवर नौनिहाल सिंह के ब्याह पर हैनरी फेन प्रधान सेनापति महाराजा के दरबार में आया तो उस समय महाराजा अपनी कुर्सी से उठ कर सामने फर्श पर बिछे हुए कालीन के सिरे तक उसके स्वागत के लिए आया। नवाब मुलतान का लड़का जुलफकार खान सन् १८१८ में जब पराजित हो कर लाहौर दरबार में उपस्थित हुआ तो महाराजा ने कुर्सी से उठकर बड़े आदर के साथ उसे अपने पास बिठाया। इस से स्पष्ट होता है कि महाराजा को राजकीय शिष्टाचारों का कितना ख्याल था और वह अपने शत्रुओं से भी बड़ी कृपालुता का व्यवहार करता था।

अनुसार एक सौ सवार पहलू-ब-पहलू दोनों ओर से पंक्तियों में आगे-आगे होते। इस के पीछे महाराजा अपने तेज गति वाले और सुंदर घोड़े पर सवार होते थे। उनके दोनों ओर एक-एक अर्दली तथा एक छाता उठाने वाला होता था। महाराजा के पीछे राजकुमार अपने-अपने अर्दलियों तथा छाता उठाने वालों के साथ घोड़े पर चढ़े होते। इस के बाद अन्य राज्याधिकारी अपने-अपने छाता उठाने वालों के साथ जुलूस में सम्मिलित होते। सब से अन्त में जीनों से सुसज्जित खाली घोड़े तथा हाथी होते थे। नियम यह था कि जब महाराजा हाथी पर सवार होता तो अन्य अधिकारियों के लिए भी हाथी पर सवार होना आवश्यक था।

खिलअतें व उपाधियाँ

महाराजा रणजीत सिंह ने जहाँ अपने दरबारियों से भेंट लेने की प्रथा चालू की वहाँ मुगल सम्राटों की तरह उन्हें राज्य-सेवा के बदले में पुरस्कार तथा खिलअतें प्रदान करने की रीति भी चलाई। महाराजा के तोशाखाना के लेख पत्रों और मुन्शी सोहनलाल द्वारा रचित रोजनामचा रणजीतसिंह के पढ़ने से ज्ञात होता है कि जिस समय किसी व्यक्ति को किसी उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया जाता तो उसे खिलअत का सम्मान प्रदान किया जाता। यह प्रथा मुगलों के समय में भी प्रचलित थी। खिलअत में बहुधा पश्मीने के दुशाले या फरद, कमख्वाब के थान, गुलबदन के थान, दुपट्टे, पगड़ियाँ, रुमाल, जामावार, कमरबंद इत्यादि वस्त्र होते थे। आभूषणों में सोने के कंठे, कड़े, कंगन, बाजू-बंद, मोतियों की मालायें, कलगी, जीगा, सरपेंच इत्यादि के नाम बहुधा तोशाखाना के लेख-पत्रों में लिखित हैं। इसी प्रकार शस्त्रों में जड़ाऊ खड्ग, करद, तीर तथा तरकश का नाम उल्लेखनीय है।

प्रायः ग्यारह वस्त्रों की खिलअत प्रथम दरजे की खिलअत समझी जाती थी। इस के बाद सात वस्त्र और तीन वस्त्र की खिलअत का दरजा था। इस के अतिरिक्त पंद्रह वस्त्रों की एक और भी खिलअत होती थी जिसे 'खिलअत खास' कहा जाता था। जरनैल अबुतबेला (Avatabile) को जब पेशावर का शासक नियुक्त किया गया तो उसे ग्यारह वस्त्र, एक जोड़ी सोने के कड़ों सहित खिलअत के रूप में प्रदान किये गये थे। इसी प्रकार एक मास पूर्व बारकजई सरदार पेशावर नरेश को ग्यारह वस्त्र तथा दो हीरे, जड़ाऊ जीनों सहित दो तीव्र गतिवाले घोड़े तथा एक हाथी जड़ाऊ हौदे के साथ लाहौर दरबार से प्रस्थान के समय दिये गये थे। सन् १८२१ में मनकेरा के घेरा डालने के समय अनुपम वीरता दिखाने पर सरदार दल सिंह नहेरना को खास खिलअत प्रदान की गई थी। इस में पंद्रह वस्त्र, एक जोड़ी सोने के कंगन, जीगा तथा जड़ाऊ कलगी तथा हौदा सहित एक हाथी सम्मिलित थे। इस प्रकार के खिलअत खास कई एक अवसरों पर सरदार हरि सिंह नलुवा, मिश्र दीवान चंद, दीवान मोहकम चंद इत्यादि को प्रदान किये गये थे। मई सन् १८३८ में जब कँवर नौनिहाल सिंह को पेशावर सेना का संरक्षक नियुक्त किया गया तो चलते समय उसे पंद्रह वस्त्र, पाँच हीरे, एक हाथी कंचनीय हौदे सहित, और बारह हजार रुपया रोक सफर-खर्चा के रूप में दिया गया। इस से बड़ी इक्कीस वस्त्रों की खिलअत हुआ करती थी। एक अवसर पर राजा नाभा को इक्कीस वस्त्रों की खिलअत, जड़ाऊ आभूषण, एक घोड़ा व एक हाथी तथा दूसरे अवसर पर कप्तान वेड पोलिटिकल एजेन्ट लुध्याना को इक्कीस वस्त्र, पाँच हीरे, जड़ाऊ खड्ग, करद, एक घोड़ा जड़ाऊ जीन सहित तथा ज़मुर्रद की नगीनेवाली अँगूठी प्रदान की गई।

खिलअत के अतिरिक्त महाराजा रणजीतसिंह ने मुगल सम्राटों की तरह पालकी तथा सुसज्जित पीनस की सवारी का सम्मान प्रदान करना भी प्रारम्भ किया। इस से यह अभिप्राय नहीं कि अन्य व्यक्तियों के लिये पालकी की सवारी वर्जित थी। वरन् सरकार की ओर से सवारी

का प्रदान किया जाना गर्व तथा सम्मान का कारण था। तथा ऊँचे पद का चिह्न समझा जाता था। इसी प्रकार नौबत या नगाड़ा बजाने की स्वीकृति का मिलना भी एक प्रकार का सम्मान समझा जाता था। इस के साथ ही जब किसी अधिकारी को पदच्युत किया जाता तो जैसा कि कई एक उद्धरणों से प्रतीत होता है, उसे इन सम्मानों से भी वंचित कर दिया जाता।[1]

यद्यपि मुगल सम्राटों की तरह रणजीतसिंह के दरबार में सम्मानों, उपाधियों तथा खिलअतों का सिलसिला बड़ी मात्रा में प्रचलित नहीं था परंतु महाराजा इन के महत्त्व तथा आदर व सम्माम से भली-भाँति परिचित था। वह जानता था कि सुयोग्य व्यक्तियों के साहस को बढ़ाने के लिये ऐसी उपाधियों का होना आवश्यक है, ताकि जिन लोगों को उपाधियाँ प्राप्त करने की इच्छा हो वे हर प्रकार से सरकार की सहायता करें तथा उसके हितैषी बने रहें। यह कोई नई बात नहीं है और प्राचीनकाल से ही चली आती है। मुगलों तथा रणजीत-सिंह की उपाधियों की भाषा में भिन्नता प्रत्यक्ष थी। जहाँ रणजीतसिंह की उपाधियों की भाषा प्रायः संस्कृत, हिंदी, फारसी तथा अरबी से मिली-जुली भाषा थी वहाँ मुगलों की उपाधियों में केवल फारसी तथा अरबी भाषा के शब्दों का प्रयोग होता था।

इन उपाधियों का एक उल्लेखनीय पहलू यह भी है कि जो उपाधियाँ ब्राह्मणों, पुरोहितों तथा ग्रंथियों को प्रदान की जाती थीं वे भाषा तथा अर्थ की दृष्टि से सैनिक तथा असैनिक पदाधिका-रियों से भिन्न होती थीं। जहाँ सैनिक उपाधियाँ साहस, वीरता तथा ऊँचे आदर्श जैसी विशेष-ताओं से भरपूर होतीं, वहाँ असैनिक उपाधियाँ दयानतदारी, परिश्रम तथा जाँफिशानी की प्रतीक थीं। ब्राह्मणों तथा ग्रंथियों को दी गई उपाधियाँ आध्यात्मिक उच्चता, सद्‌विचारों तथा साधुता को प्रकट करनेवाली होती थीं। सैनिक अफसरों के लिये बहुधा 'तहवुर पनाह', 'शुजा-उद्दौला', 'समसामुद्दौला', 'फतह व नुसरत नसीब', 'ज़फर ज़ंग बहादुर'; असैनिक अफ़सरों के लिये 'दियानत पनाह', 'मुशख़स पनाह' और ब्राह्मणों तथा ग्रंथियों के लिये 'ओजल दीदार', 'निर्मल बुद्ध', 'कृपानिधान', 'तरन तारन दो जहान', 'ब्रह्म मूर्त्ति', इत्यादि की उपाधियाँ थीं। सरदार लहनासिंह सिंधावालिया की उपाधि मिली-जुली भाषा का एक मनोरंजक उदा-हरण था।[1] इसकी उपाधि में यह शब्द आते हैं: ओजलदीदार, निर्मल बुद्ध, सरदार बा विकार, हज़ ज़बरे जंग, सरदार लहना सिंह।

यह बात विशेष रूप से देखने में आई है कि महाराजा के समय में दीवान की उपाधि कम ही प्रदान की जाती थी। असैनिक अधिकारियों के लिए राजा के अतिरिक्त इसे सब से बड़ी उपाधि समझा जाता था। महाराजा के सभी वित्त मंत्रियों जैसे कि दीवान भवानी दास, दीवान गङ्गा राम, दीवान दीनानाथ व दीवान रत्नचंद को यह उपाधि मिली हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में यह उपाधि सैनिक अधिकारियों को भी प्रदान की जाती थी क्योंकि दीवान मोहकमचंद, दीवान देवी सहाय तथा दीवान हुकुम सिंह चिमनी तीनों ही चोटी के सैनिक अधिकारी थे।

सरदार की उपाधि केवल सिक्खों के लिए निश्चित थी। इसे इस कदर बड़ा समझा जाता था कि बड़े-बड़े जागीरदार तथा सैनिक अफसरों को सरदारी के सिवाय दूसरी उपाधि नहीं दी जाती थी। ज्यादा से ज्यादा सरकारी परवानों में 'बाविकार', 'अजीमुशान', आली इकतदार' इत्यादि

---

[1]मिश्र सुखदियाल अफ़सर तोपखाना को जब अयोग्यता के कारण पदच्युत किया गया तो उस से कई एक वस्तुएँ वापस माँगी गईं "लिहाज़ा फ़ील व पीनस व चन्द रास अस्पान वगैरा असबाब अज़ मुशारिलह गिरफ़्ता अज़ कारो बार मरजुहा मांज़ूल फरमूदन्द"; सोहनलाल दफ़्तर दोम पृष्ठ नम्बर ३७६-७७।

शब्दों से उन्हें सम्बोधित किया जाता था ताकि उनके पद तथा स्थिति का पता लग सके। सरदार हरिसिंह नलुवा, सरदार दल सिंह नहेरना, तथा सरदार गुरमुखसिंह को केवल यही उपाधि मिली हुई थी।

दीवान की उपाधि की तरह राजा की उपाधि भी बहुत कम प्रदान की जाती थी। यह खिताब केवल जम्मू के तीन भाइयों गुलाबसिंह, ध्यानसिंह तथा सुचेतसिंह को या राजा ध्यान सिंह के पुत्र हीरासिंह को दिया गया था। राजा ध्यान सिंह को तो बाद में क्रमशः 'राजा कलां, राजा राजगान, राजा हिंद पत' इत्यादि की उपाधियों से निवाजा गया था। तत्पश्चात् सन् १८३८ 'में वजीर आजम, नायबुलसलतनत, तथा मुखतारुलमुल्क' इत्यादि की उपाधियाँ भी प्रचलित की गईं तथा उन्हें सारे राज्य में प्रकाशित किया गया। राजा ध्यान सिंह को इन उपाधियों से भी सम्मानित किया गया।[१]

कौकबे-इकबाले-पंजाब

इस पुस्तक में पहले भी वर्णन आ चुका है कि पंजाब में पाश्चात्य शिक्षा व कला और पश्चिमी ढङ्ग की संस्थाएँ स्थापित करने के लिए महाराजा ने भरसक प्रयत्न किया था। चुनांचे जहाँ प्राचीन मुगल रीतियाँ प्रचलित की गईं वहाँ योरोपीय ढङ्ग के पद भी प्रचलित किये गये। इन पदों तथा उपाधियों के साथ जो पदक (मैडल) दिया जाता था वह रूप में सितारे जैसा था। इसलिए इस उपाधि को 'कौकबे-इकबाले-पंजाब'[१] के प्रसिद्ध नाम से पुकारा गया। यह सम्मान पहली बार कँवर नौनिहाल सिंह के ब्याह के समय सन् १८३७ में शुरू हुआ इस लिए इस सम्मान का संरक्षक भी उसी को नियुक्त किया गया।

यह मेडल सोने का बना हुआ था तथा इसके तीन दरजे थे। प्रथम दरजे में अलमास का पत्थर, द्वितीय दरजे में ज़मुर्रद तथा अलमास के दो छोटे-छोटे पत्थर तथा तृतीय श्रेणी में मूल्यवान् पत्थर का एक ही टुकड़ा जटित होता था। सोने का बना हुआ यह पदक सितारे की शकल का था तथा इसमें पाँच बड़ी और पाँच छोटी किरणें निकलती दिखाई देती थीं। मेडल के मध्य में एक ओर महाराजा की छोटी सी प्रतिमा तथा दूसरी ओर महाराजा का नाम मीनाकारी से खुदा हुआ था। माप के लिहाज से इस पदक का वृत्त व्यास दो गिरह के लगभग था।

प्रथम श्रेणी का पदक प्रायः महाराजा के कुटुम्बियों को दिया जाता था अथवा उन अधिकारियों को प्रदान किया जाता था जिनकी ईमानदारी तथा सद्भावनाओं पर महाराजा को पूर्ण विश्वास होता था। द्वितीय श्रेणी का पदक प्रायः सेना विभाग के बड़े-बड़े जरनलों या राजनीतिविभाग के बड़े-बड़े विश्वासपात्र अफसरों को दिया जाता था। तृतीय श्रेणी का पदक सेना विभाग के करनल, कप्तान तथा मेजर इत्यादि को व्यक्तिगत वीरता के आधार पर तथा राज्य के अन्य अधिकारियों व कर्मचारियों को दयानतदारी के लिए दिया जाता था।

मेडल के साथ लाल तथा पीले रंग का रेशमी फीता लगा होता था ताकि प्राप्तकर्त्ता उसे सुविधा से गले में लटका सके। जिसे यह सम्मान प्रदान किया जाता उसे दो या तीन हीरे, शस्त्र तथा एक लेखपत्र प्रमाण के रूप में भेंट किया जाता था। चुनांचे प्रथम श्रेणी वालों के लिए राजा का खिताब, एक जोड़ा सोने के कंगन, मणियों की एक माला, एक खड्ग तथा उन के नाम के पीछे 'बहादुर' की उपाधि लगाई जाती थी। द्वितीय श्रेणी वालों को सरदार की उपाधि एक जोड़ी सोने के कंगन, एक खड्ग तथा एक सिपर प्रदान किया जाता था। तृतीय श्रेणी वालों को एक जोड़ी सोने के कंगन, एक खड्ग तथा उनके नाम के पीछे केवल 'बहादुर' की उपाधि लगाई जाती थी। उपाधि-विषयक नियमों में यह बात भी लिखी है कि उपाधि प्राप्त करने वाले पर यदि किसी कारण

---

[१] सोहन लाल दफ्तर ५ पृष्ठ १४७ [२] पदक की बनावट फ्रांस के सम्राट नैपोलियन बोना पार्ट के पदक "लीजियन डी आनर" से मिलती जुलती थी।

से दुराचार अथवा किसी अन्य प्रकार का अभियोग लगेगा तो उससे यह उपाधि वापस ले ली जायगी तथा सरकारी रजिस्टर से उसका नाम काट दिया जायगा।

मुन्शी सोहन लाल रोजनामचा रणजीत सिंह में लिखता है कि सब से पहले यह पदक कँवर खड्ग सिंह, कँवर शेर सिंह व कँवर नौनिहाल सिंह को मिला। फिर डोगरा भाइयों राजा गुलाबसिंह, राजा ध्यान सिंह व राजा सुचेत सिंह को दिया गया। तत्पश्चात् सरदार सिंधांवालिया, धनासिंह मलवै, तथा मजीठिया सरदारों को दिया गया। कँवर नौनिहाल सिंह के ब्याह के अवसर पर चन्द एक अंग्रेज़ अफसरों को भी यह मान बख़्शा गया परंतु उन्होंने इस शर्त पर मेडल स्वीकार किया कि यदि उनकी अपनी सरकार को इस पर कोई आपत्ति न हुई तो उसे वे रक्खेगें अन्यथा लौटा देंगे।

दरबारी सामंत

महाराजा रणजीत सिंह के शासनकाल के पहले पन्द्रह बीस वर्ष के दरबारी सामन्तों के वंशानुक्रम का निरीक्षण किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनमें अधिकतर ऐसे सरदार (जैसे कि सरदार फ़तह सिंह, सरदार मित सिंह, सरदार अत्तर सिंह धारी, सरदार हुक्म सिंह अटारी वाला, दीवान मुहकम चन्द, सरदार हुकमा सिंह चिमनी) सम्मिलित थे जो महाराजा के उत्थान से पहले या तो स्वयं देश के स्वामी थे या ऐसे सरदारों के सम्बन्धी या उनके पास ऊँचे पद पर नियुक्त थे। सारांश यह कि पहले इस दृष्टि से योग्य तथा कुलीन व्यक्तियों को ही ऐसे पद दिये जाते थे। राज्य के अन्तिम काल में दरबार में भी सामन्तों की एक नई श्रेणी की वृद्धि हुई। इनमें दीवान भवानीदास, दीवान गंगाराम, दीवान दीनानाथ, तथा मिश्र दीवानचन्द जैसे व्यक्ति तो अपनी योग्यता के कारण ही महाराजा के प्रिय बन गये परंतु कुछ एक जैसे कि जमादार खुशहाल सिंह, तथा सरदार तेजासिंह केवल झूठी प्रशंसा तथा चापलूसी से ही उच्च पदों पर पहुँच गये। महाराजा ने भी इन लोगों पर विशेष कृपा दृष्टि रखी। जब तक महाराजा जीवित रहा वे उसके पूर्ण रूप से हितैषी व भक्त रहे परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् वे अपनी राज-भक्ति पर अचल न रह सके। राजगद्दी पर अधिकार के लिए जो परस्पर संघर्ष हुआ उसमें इन लोगों को एक या दूसरे पक्ष का साथ देना पड़ा।

महाराजा के दरबार का सब से महत्त्वपूर्ण तथा दूसरा पहलू यह था कि महाराजा रणजीत सिंह के अंतिम काल के पंद्रह वर्षों में बड़े-बड़े अधिकारों पर पंजाब के हिंदू, मुसलमान तथा जम्मू के डोगरे और कश्मीरी पंडित तथा चंद योरुपीय व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर नियुक्त थे। यही लोग महाराजा के सामंत और सलाहकार भी थे। सिक्ख घरानों में केवल मजीठा सरदारों का ही एक घराना था जिस के व्यक्तियों को शासक के उच्चाधिकार को प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त था। अन्य घरानों के सिक्ख सरदार अधिकतर सेना के बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त थे। प्रशासन तथा 'सिविल सर्विस' में उन का दखल बहुत कम था।

इस के अतिरिक्त लाहौर दरबार की यह विशेषता थी कि कई वंशों के तीन-तीन चार-चार व्यक्ति भिन्न-भिन्न विभागों में उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर अधिकार जमाये हुए थे। दूसरे शब्दों में यदि यह कहा जाय कि लाहौर की 'सिविल सर्विस' का कुल कारोबार केवल चंद एक घरानों पर निर्भर था तो इस में अत्युक्ति न होगी। दुर्भाग्य से इन लोगों में ईर्ष्या कूट कूट कर भरी हुई थी। एक-घराना दूसरे को हर प्रकार से नीचा दिखाने का इच्छुक था। एक दूसरे से बदला चुकाते समय उन्हें राज्य तथा देश के हित की बलि देने में भी कोई संकोच नहीं होता था। महाराजा के जीते जी यह आग दबी रही परंतु उसकी मृत्यु के पश्चात् यह परस्पर विरोध, प्रतिद्वन्द्व और मन-मुटाव बहुत बढ़ गया तथा लाहौर दरबार षड्यंत्रों का अखाड़ा बन गया और अन्त में राज्य के पतन का एक मुख्य कारण सिद्ध हुआ।

———

अठारहवाँ अध्याय

महाराजा की व्यक्तिगत विशेषताएँ

रूप और आकृति—रणजीत सिंह का कद मध्य श्रेणी का था और बचपन में ही चेचक निकल आने के कारण उसका चेहरा कुरूप हो गया था तथा एक आँख भी जाती रही थी। परन्तु प्रकृति के विधान में हमें क्षति पूर्ति का नियम काम करता हुआ दिखाई देता है। यदि रणजीतसिंह को सौंदर्य की बपौती कम मिली थी तो प्रकृति ने तीव्र बुद्धि तथा दूरदर्शिता कई गुनी अधिक देकर इस क्षति की पूर्ति कर दी थी।

बहुत से योरुपीय तथा भारतीय महानुभाव महाराजा के दरबार में आया जाया करते थे। उन्होंने महाराजा के आकार तथा विशेषताओं का वर्णन किया है। वह लिखते हैं कि यद्यपि रूप के लिहाज से वह इतना सुंदर नहीं था परन्तु उस के मुख से ऐसा रोब बरसता था कि देखने वाले के दिल पर उसकी वीरता और साहस की धाक जम जाती थी।[1] महाराजा श्वेत दाढ़ी इस कदर लंबी थी कि उस की नाभी तक पहुँचती थी जिस से उसका चेहरा भरा हुआ प्रतीत होता था। उस का शरीर बहुत चुस्त और फुरतीला था। महाराजा के वस्त्र साधारण तथा साफ-सुथरे होते थे; परन्तु अपने दरबारियों को बढ़िया तथा मूल्यवान् वस्त्र पहनने के लिए वह बहुधा आदेश दिया करता था।

व्यवहार तथा नित्य नियम—महाराजा अपनी चलन में बहुत सादा था। राज्य के प्रधान मंत्री से लेकर घरेलू नौकर तक से खुल्लम-खुल्ला तथा निस्संकोच बात चीत करता था। उत्तर में हँसी की बात सुन कर खीझता नहीं था। स्मरण शक्ति ऐसी तीव्र थी कि साधारण श्रेणी के नौकरों तक के नाम उसे याद थे। वह उन्हें उनके नाम से ही पुकारता था। अवसर देख कर छोटों के साथ छोटा और बड़ों के साथ बड़ा बन जाया करता था वह दीनों की पुकार स्वयं सुना करता था।[2] उन को सांत्वना देता तथा अपने हाथों से उन्हें पुरस्कार भेंट करता। इन्हीं विशेषताओं के कारण वह सर्वप्रिय हो गया था। परन्तु ऐसा होते हुए भी महाराजा इतना प्रभावशाली था कि बड़े से बड़ा अफसर भी भयभीत होकर काँपता था।

सैर तथा शिकार की रुचि एवं व्यायाम की आदत—रणजीत सिंह को बचपन से ही सवारी में रुचि थी। बड़ा हो कर वह ऐसा बेधड़क शह-सवार बन गया कि शायद उसके जोड़ का चतुर घुड़ सवार देश भर में मिलना कठिन था। यही कारण

---

[1] विलियम ओजबर्न महाराजा के रूप तथा आकृति का वर्णन करते हुए लिखता है कि यद्यपि महाराजा की एक ही आँख थी परंतु इस आँख से निकली हुई ज्योतिमय किरणें उन किरणों से किसी भी प्रकार कम न थीं जो महाराजा की बाँह पर बँधे कोहनूर हीरे से निकल कर आँखों को चुन्धिया देती थीं। [2] महाराजा ने अपने महल के बाहर एक संदूक रखा था, जिस में लोग अपने अरजी या निवेदन-पत्र डाल जाया करते थे। संदूक में ताला लगा रहता था जिस की कुंजी महाराजा के पास रहती थी।

था कि महाराजा को अपनी अश्व-शाला में बढ़िया से बढ़िया घोड़े रखने की असीम रुचि थी।[1] महाराजा को शिकार में भी बहुत रुचि थी। कभी सरकारी काम से यदि अवकाश मिलता तो महाराजा अपने चुने हुए वीर सैनिकों को साथ लेकर शिकार के लिये निकल जाता। चीते तथा शेर के शिकार में उसे विशेषरुचि थी जिनको वह चमकदार भाले तथा खड्ग से मारा करता था। मंशी सोहनलाल ने कई स्थानों पर रोजनामचा रणजीतसिंह में लिखा है कि चाहे सेना के प्रस्थान का समय होता या दौरे पर जाने का, यदि महाराजा को कहीं से यह सूचना मिलती कि अमुक वन में शेर अथवा चीता रहता है तो वह शीघ्र ही काम छोड़ कर भी शिकार को निकल जाता। चुनांचे उस की पुस्तक के द्वितीय खंड में १५४ पृष्ठ पर भी एक मनोरञ्जक घटना का वर्णन मिलता है। बिसाख सम्वत् १८७१ विक्रमी तदानुसार अप्रैल सन् १८१४ में महाराजा वजीराबाद के समीप डेरा डाले हुये था कि सहसा उसे सूचना मिली कि नज़दीक के जङ्गल में दो अत्यन्त भयानक तथा दीर्घकार शेर आ घुसे हैं तथा आस-पास के देहात में जान व माल को अधिक नष्ट कर रहे हैं। महाराजा शीघ्र ही चंद एक सवारों के साथ जङ्गल की ओर चल पड़ा। अभी थोड़ा ही मार्ग चले होंगे कि एक डोगरा सवार हरिसिंह नामक जो कि महाराजा के हाथी के सामने जा रहा था, उस पर शेर आ झपटा। वीर सैनिक तनिक भी भयभीत न हुआ और उलट कर अपनी खड्ग के साथ उस पर वार किया। इतने में जगत सिंह अटारीवाला अत्यंत स्फूर्ति से उसकी सहायता को आ पहुँचा। शेर अपना ध्यान हरि सिंह डोगरे से हटाकर जगत सिंह के घोड़े पर लपका और घोड़े का काम तमाम कर दिया। चंद एक अन्य सवारों के पहुँचने पर शेर को मार दिया गया। वजीराबाद लौटने पर महाराजा ने हरि सिंह डोगरा को एक जोड़ी सोने के कड़े, खिलअत तथा एक छोटी-सी जागीर प्रदान की। जगतसिंह अटारीवाले को २०००) रुपया रोक तथा एक तीव्र गतिवाला अश्व पुरस्कार के रूप में प्रदान किया।

सवारी-विद्या के चमत्कार तथा फौजी करतबों का महाराजा को पर्याप्त अभ्यास था। उसकी आयु पचास वर्ष से अधिक हो चुकी थी तो फिर भी महाराजा ने इस रुचि को नहीं छोड़ा। गवर्नर जनरल विलियम बैंटिंग से भेंट के समय जब रोपड़ के स्थान पर कई दिनों तक फ़ौजी करतब प्रदर्शन होते रहे तो महाराजा ने स्वयं भी इसमें भाग लिया। ३१ अक्टूबर सन् १८३१ की बात है कि दोपहर के समय यह कार्य प्रारम्भ हुआ। सब से पहले राजा ध्यान सिंह, उसके पश्चात् उसके भ्राता राजा गुलाबसिंह तथा सुचेतसिंह ने अपनी सैन्य-कला का प्रदर्शन किया। फिर सरदार हरिसिंह नलुवा, फ्रांसीसी जरनैल वंतूरा तथा अलार्ड तथा उसके बाद जरनल इलाही बख्श अफसर

---

[1] रणजीतसिंह घोड़ों का इस कदर प्रेमी था कि जहाँ कहीं उसे सुन्दर तथा तीव्र गतिवाले घोड़े का पता चलता वह उसे प्राप्त किये बिना न छोड़ता। लगभग ५० हज़ार रुपये प्रति वर्ष के घोड़े खरीदे जाते थे। महाराजा की अश्व-शाला में एक हज़ार बढ़िया घोड़े उसकी अपनी सवारी के लिए सुरक्षित थे। इन में से कुछ शुद्ध अरबी नसल के थे तथा कई शुद्ध ईरानी नसल के। अपने समय के बढ़िया, दुर्लभ तथा चुने हुए घोड़े जैसे 'अस्पे लैला', 'अस्पे गोहरबार' तथा 'अस्पे सफेद परी' समय-समय पर महाराजा ने सुलतान मुहम्मद खान, यथव यार मुहम्मद खान पेशावर नरेश से प्राप्त किये थे। उन के लिये मूल्यवान् ज़ीनें तथा साज तैयार करवाये गये थे। महाराजा बड़े प्रेम से उनकी सवारी किया करता था। उसकी अश्व-शाला का व्यय साढ़े पाँच लाख रुपया प्रति वर्ष के लगभग था।

घोड़ों के अतिरिक्त महाराजा ने अपने अस्तबल में सैकड़ों हाथी रखे हुये थे। बैरन ह्यूगल अपनी पुस्तक "काश्मीर यात्रा" में लिखता है कि महाराजा की अपनी सवारी के लिये लगभग एक सौ अनुपम हाथी थे। इन की सजावट तथा सोने चाँदी के हौदे देखकर ह्यूगल आश्चर्यचकित रह गया था। वह लिखता है कि महाराजा हाथियों की सजावट पर लगभग एक लाख से अधिक व्यय प्रति वर्ष करता था तथा उन के चारा पर चालीस हज़ार प्रति वर्ष खर्च होता था।

के तोपखानों ने अपने-अपने हुनर दिखलाये। सब से आखिर में महाराजा स्वयं अपने तीव्र गति वाले घोड़े पर चढ़ कर मैदान में आ डटा। मैदान में एक पीतल का लोटा रख दिया गया। खड्ग हाथ में लिये महाराजा ने अपना घोड़ा सरपट दौड़ाया और घोड़े को ठहराये बिना ही तलवार की नोक से लौटे पर ऐसे निशान लगाये कि जो एक सुंदर फूल का रूप प्रकट करते थे। गवर्नर जनरल तथा अन्य अंग्रेज अफसर वाह-वाह कह उठे।

महाराजा द्वारा जारी किए गये एक-दो परवानों से ज्ञात होता है कि प्रतिदिन सैर तथा सवारी के अतिरिक्त महाराजा को थोड़ा बहुत व्यायाम करने की भी आदत थी तथा वह दण्ड पेलने और मुगदर फेरने का आदी था। आयु के अंतिम दिनों में बीमारी के संतत दो-तीन आक्रमणों के कारण उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई थी और डाक्टरों ने महाराजा को थकावट पहुँचा देने वाले कार्यों के करने से रोक दिया था, परंतु महाराजा ने व्यायाम की आदत को न छोड़ा। भारी वज़न के स्थान पर कम वज़न वाले मुगदर और मोंगलियाँ बनवा लीं ताकि व्यायाम की आदत भी बनी रहे और अधिक थकान भी न हो। ३ मग्घर संवत् १८६१ वि० की बात है कि महाराजा रोहतास ज़िला के दौरे पर गया और अपने आईन फौज के कमान अफसर के नाम आज्ञा दे गया कि शीघ्र ही चार लकड़ी की नई मोगलियाँ तैयार करवा कर हमारे कैम्प में भेज दो। एक जोड़ा मोगलियों का वज़न पाँच-पाँच सेर और दूसरे जोड़े का वज़न छः-छः सेर से अधिक नहीं होना चाहिये।[1]

सैनिक विशेषताएँ तथा बुद्धिमत्ता

रणजीतसिंह में सैनिक विशेषताएँ कूट-कूट कर भरी हुई थीं। एक योग्य सिपाही की तरह उसका शरीर सुडौल तथा फुर्तीला था। और वह तलवारचलाने में और बंदूक का निशाना लगाने में बहुत ही निपुण था आवश्यकता केसमय अपने छोटे से छोटे सैनिक के पहलू ब-पहलू रणभूमि में लड़ने के लिये तैयार हो जाता था, जिससे उसकी सेना का साहस दुगुना हो जाता था। सन् १८०६ में गोरखा सेना के विरुद्ध तथा सन् १८२३ में अफगानों के विरुद्ध युद्ध में जिस समय खालसा सेना के कई एक वीर तथा प्रसिद्ध अफ़सर मारे गये और ख़ालसा सेना का साहस भंग होता दिखाई देने लगा, महाराजा नंगी खड्ग हाथ में लेकर अपने सैनिकों के साथ हो लिया और क्षण, भर में ही युद्ध का पासा पलट कर रख दिया। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि उसने एक योग्य तथा बुद्धिमान जरनैल की तरह अपनी सेना को कभी ऐसे कठिन आक्रमण के लिये नहीं झोंका जहाँ उसे व्यावहारिक रूप से कोई लाभ दिखाई न देता हो। मुलतान से दो बार केवल तावान जंग अथवा युद्ध-दंड ही लेकर लौट आया। सवात, बुनेर तथा हजारा की पठान सेनाओं को कई बार मैदानी युद्ध में हराया परन्तु उनका पीछा करने के लिए इस ने अपनी सेना को तंग पहाड़ी रास्तों में जाने की आज्ञा नहीं दी। इसी प्रकार सरदार यार मुहम्मद खान तथा सुलतान मुहम्मद खान पेशावर नरेशों पर दो तीन बार सम्पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर भी एक दीर्घ समय के लिये पेशावर अपने राज्य में सम्मिलित न किया। इसके अतिरिक्त छोटी से छोटी सैनिक समस्याओं को समझने और सुलझाने में वह निपुण था। अनुभवी तथा दूरदर्शी इतना था कि समय से पूर्व होने वाली घटनाओं को भाँप जाता और उनके उपाय सोचने के लिये तत्पर हो जाता। अपने शासनकाल के प्रारंभ में ही यह बात उसके मन में बैठ चुकी थी कि एक न एक दिन अंग्रेजों के साथ उसकी टक्कर होनी आवश्यक है। चुनांचे इसी विचार को दृष्टि में रख कर उसने

[1]देखो परवाना न० ४१३।

अपनी सेना को पाश्चात्य युद्ध-विद्या सिखाने का निश्चय कर लिया और अन्त में जब सिक्खों की अंग्रेजों के साथ ठन गई तो महाराजा की सिखाई हुई सिक्ख सेना अंग्रेजी सेना की तुलना में पूरी उतरी।

इन सैनिक विशेषताओं के अतिरिक्त महाराजा ने अपने जीवन में एक बेलाग प्रशासक तथा बुद्धिमान होने का पर्याप्त प्रमाण दिया है। हम संकेत से इस पुस्तक में पहले भी वर्णन कर चुके हैं कि महाराजा ने अपने पराजित शत्रु के साथ भी कभी अनुपयुक्त व्यवहार नहीं किया, बल्कि उसकी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार उसकी सुविधा के लिये उसे अपने पास किसी उत्तर-दायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त कर दिया या उसे जागीर प्रदान कर दी। ऐसा व्यवहार केवल सिक्खों तक ही सीमित नहीं था बल्कि मुसलमान प्रशासकों के साथ भी बरता गया। कसूर नरेश नवाब कुतबुद्दीन, मनकेरा नरेश सरदार हाफ़िज़खान, मुलतान नरेश नवाब सरफराज़ खान तथा अन्य छोटे बड़े रईसों को महाराजा की ओर से जागीरें तथा पैन्शनें मिलती थीं और दरबार में उनका यथायोग्य आदर तथा सम्मान किया जाता था। कृपालुता का यह अंश रणजीतसिंह के बुद्धिमत्तापूर्ण विचार का ही परिणाम था।

रणजीत सिंह शिक्षा-दीक्षा से अपरिचित होने के कारण दुनिया के दूसरे बड़े-बड़े बुद्धिमानों की तरह कोई विशेष नया कानून अथवा रीति प्रचलित न कर सका, जिससे कि उसका नाम सदा के लिये अमर हो जाता, परन्तु हम यह बता देना चाहते हैं कि यदि महाराजा ने कोई नया विधान प्रचलित नहीं किया तो किसी प्रचलित रीति को ख़्वाहमख्वाह बन्द भी नहीं किया तथा न किसी ह्रासोन्मुख राजनीतिक संस्था को सहारा देकर पुनर्निर्माण करने की चेष्टा ही की खालसा की प्राचीन राजनीतिक प्रथा अर्थात् 'मिसलदारी सिस्टम' दिन प्रति दिन क्षीण हो रहा था। अहमद शाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारी का सामना करके 'खालसा दल' ने देश का बहुत सा भाग अफगानों के हाथों से बचा लिया था। परन्तु मिसलदार बाद में परस्पर लड़ाई-झगड़ों में उलझने लगे और एक दूसरे को शक्तिहीन करने पर उतारू हो गये। चुनांचे रणजीत सिंह ने भी यह समझ लिया कि अब यह प्रथा अपना कार्य समाप्त कर चुकी है, इसी लिये इसका बन्द हो जाना ही देश के लिये लाभदायक होगा। इसी प्रकार 'गुरमते' पास करने के लिये पंथ को इकट्ठा किया जाता था। समय के साथ-साथ इनका महत्व भी कम होता गया और रणजीत सिंह ने उसको स्थायी रखनें की चेष्टा न की।

नित्य के नियम

विलियम ओजबर्न, सर हैनरी फैन, कैप्टन वेड तथा मुन्शी शहामत अली के सफरनामे तथा लेख-प्रमाण इस बात के साक्षी हैं, कि महाराजा रणजीत सिंह समय का बड़ा पाबन्द था प्रत्येक कार्य जैसे कि सोना, जागना, खाना, पीना, भ्रमण व मनोरंजन निश्चित समय पर किया करता था। वह प्रातःकाल उठने का आदी था। सुचेता इत्यादि से निवृत्त होने के पश्चात् बहुधा घोड़े पर और कभी-कभी पालकी में बैठकर शुद्ध वायु के सेवन के लिये बाहर निकल जाता।[1] गर्मी हो या सर्दी, आंधी हो या तूफान, महाराजा नियमानुसार टहलने के लिए अवश्य जाता उसके साथ खाली सुसज्जित घोड़े, चन्द एक सवार तथा प्यादा सैनिकों के अतिरिक्त आवश्यक

---

[1] ओजबर्न लिखता है कि महाराजा की यह आज्ञा थी कि उसके शयनागार के समीप उसकी प्रात: की सवारी का पूर्ण प्रबन्ध हो, ताकि प्रात: के वायु सेवन के लिये उसे विलंब न हो महाराजा अपनी ढाल तथा तलवार सिरहाने ही रखकर सोता था। महाराजा की पालकी काफी बड़ी थी। उसमें बैठने के लिये आमने-सामने दो 'सीटें' बनी हुई थीं तथा सामने और पीछे रोशनी के लिये शीशे लगे हुए थे।

सामग्री से लदे हुए दो हाथी भी होते थे। एक हाथी पर खाद्य पदार्थ तथा दूसरे पर कैम्प का सामान लदा होता था। घण्टा भर की सैर व मनोरंजन के पश्चात् यदि महाराजा का विचार बाहर ही दरबार लगाने का होता तो वहीं कलेवा (नाश्ता) तैयार कर लिया जाता। नाश्ता करके महाराजा राज्यकार्यों की ओर ध्यान देता और प्रायः चार घण्टे तक काम करता। यह आवश्यक न था कि प्रातः का दरबार किले या महल में ही लगाया जाय बल्कि जहां भी महाराजा को स्थान पसन्द आ जाता वहीं दरबार लगा लिया जाता।[1]

प्रातःकाल के दरबार में महाराजा भिन्न-भिन्न विभागों के अधिकारियों की रिपोर्टें सुनता, उन पर हुक्म लिखवाता तथा पिछली आज्ञाओं की पूर्ति के संबंध में पड़ताल भी करता। यह दरबार प्रायः बारह बजे दोपहर को समाप्त होता था। इसके पश्चात् महाराजा भोजन करता। यह बात उल्लेखनीय है कि महाराजा रणजीत सिंह भोजन के समय का नियमित रूप से अनुसरण करने वाला था। सर हेनरी फैन अंग्रेज प्रधान सेनापति अपने सफरनामें में लिखता है कि एक बार महाराजा रोपड़ के स्थान पर गवर्नर जनरल विलियम बैन्टिंग के साथ सेना की परेड देख रहा था कि उसके भोजन का समय हो गया। महाराजा शीघ्र ही उठ खड़ा हुआ और खाना खाने के पश्चात फिर गवर्नर जनरल के पास आ बैठा।

महाराजा भोजन करने के पश्चात् एक या डेढ़ घंटा विश्राम अवश्य करता। फिर डेढ़ घंटा तक ग्रंथ साहब का पाठ सुनता। दोपहर के पश्चात् वह प्रायः अपने पालतू कबूतरों तथा बटेरों को अपने हाथ से दाना डालता, किले के भीतर वाटिका में कुछ देर टहलता और इसके पश्चात् सरकारी कामों की ओर ध्यान देता। एक छोटा सा दरबार लगाता जिसे सरकारी लेख-पत्रों में सिपहरी अथवा तीसरे पहर का दरबार लिखा गया है। इस दरबार में भिन्न-भिन्न विभागों के मुख्याधिकारी होते थे और प्रायः बही खाते के विषयों पर विचार-विमर्श किया जाता था। प्रातःकाल की भांति महाराजा सायंकाल को भी सैर पर निकल जाता था उस समय प्रायः वह घोड़े पर चढ़कर सेना की परेड देखता और रास्ते में जाता हुआ प्रजा की दाद-पुकार सुनता जाता।

महाराजा का कलेवा (नाश्ता)

महाराजा का कलेवा साधारण होता था। विलियम ओजबर्न महाराजा के कलेवे का वर्णन करते हुए लिखता है—जब वह सन् १८३८ के जून मास में गवर्नर जनरल लार्ड ऑकलैण्ड का संदेश लेकर महाराजा के पास आया तो महाराजा अदीना नगर के स्थान पर निवास कर रहा था। एक दिन प्रातःकाल मेरे और मेरे साथी डाक्टर मरे के नाम महाराजा का सन्देश पहुँचा कि हम दोनों उस के साथ सैर को चलें। हम ने शीघ्र ही कपड़े पहनकर सवारी तैयार करने की आज्ञा दी। परंतु इस समय तक महाराजा पाँच मील आगे निकल चुका था। अंत में हम काफी दौड़-धूप करने के बाद महाराजा से जा मिले और उसकी पालकी के साथ-साथ हो लिये। चंद एक मील तक उस से बातें करते हुये चले गये। जब महाराजा के कलेवे का समय हो गया तो एक स्थान पर ठहर गये। वृक्षों के एक झुण्ड में एक सुन्दर वितान लगा दिया गया तथा भूमि पर दरी बिछा कर उस पर कुर्सियाँ सजा दी गईं। मेरे और डाक्टर मरे के सम्मुख मेज लगा दिये गये। यह सब प्रबंध केवल पाँच मिनट में ही पूरा हो गया। दूसरे पाँच मिनट के पश्चात सजा सजाया भोजन भी हमारे सामने आ गया। प्लेटों तथा प्यालों के स्थान पर साफ-सुथरे और ताजे वृक्ष के पत्तों से बने हुए दोने थे। यह दोने इस प्रकार सफाई और चतुराई से तैयार किये गये थे कि रसा का पानी भी इन से बाहर न निकल सकता था। दस्तरखान पर छः भिन्न-भिन्न पदार्थ उपस्थित

[1] लेखक को कई एक ऐसे परवाने तथा आज्ञा पत्र मिले हैं जिनमें दरबार के स्थान का वर्णन करते समय किसी बाग़, प्रसिद्ध छायादार वृक्ष अथवा प्रसिद्ध कूप का नाम दरज है।

किये गये: चावल, दही, शोरबा, दाल, तथा बढ़िया हृष्ट-पुष्ट बटेर का गोश्त। बटेरों के विषय में ओज़बर्न विशेष रूप से लिखता है कि वे इस प्रकार अच्छे पके हुए थे कि उन में हड्डी का निशान तक नहीं था। प्रत्येक वस्तु मसालेदार और स्वादिष्ट थी। महाराजा की पालकी हमारे बिलकुल सामने थी। महाराजा पालकी में ही समासीन रहे और कहार उसे वैसे ही थामे रहे। महाराजा के खाने का थाल उस के एक नौकर की पीठ पर लगाया गया और वह इस प्रकार कि नौकर पालकी के बिलकुल सामने सिर के बल झुक गया और धीरे-धीरे इतना झुकता गया कि उसकी पीठ पालकी के बिलकुल बराबर हो गई जिस से कि महाराजा का हाथ सुगमता से थाल तक पहुँच सके कलेवा के पश्चात् बर्फ़ मिला हुआ सुगन्धित शर्बत पिलाया गया।

परिश्रम की आदत

रणजीतसिंह बहुत परिश्रमी और कर्मठ था। काम करने में ही उसे प्रसन्नता होती थी। छोटे से छोटे कार्य की ओर भी वह स्वयं ध्यान देता था। घोड़ों की नालों की जड़ाई और उन के चारा अथवा "रैगुलेशन फीड़" के लिये वह स्वयं आज्ञाएँ भेजता था। वह अफसरों के नाम स्वयं परवाने लिखवाता, बाहर से आई हुई सूचनाएँ स्वयं सुनता, तथा आज्ञा की भाषा स्वयं बोलता था जिसे अनुवादक शीघ्र ही फारसी भाषा में अनुवाद कर के लिख देता था। उसे वह दोबारा सुनता था कि अनुवादक ने तात्पर्य स्पष्ट कर दिया है या नहीं।[1] महाराजा की आज्ञा नुसार एक मुंशी हर समय उसके पास रहता था, महाराजा चाहे महल में हो अथवा सैर पर। यहाँ तक कि रात के समय में भी एक मुंशी हुकुम लिखने के लिए उपस्थित रहता। महाराजा को जब कोई बात याद आ जाती तो मुंशी उसे शीघ्र ही लिख लेता था, और नियम के अनुसार परवाना पर महाराजा की आज्ञा का समय तथा स्थान इत्यादि भी लिख दिया जाता था। फिर महाराजा की आज्ञा से शीघ्र ही हुक्म जारी कर दिया जाता था। संसार के बड़े-बड़े महापुरुषों की तरह महाराजा को भी यह आदत थी कि वह आज का काम कल पर न छोड़ता। महाराजा की कामयाबी का यह सब से बड़ा रहस्य था। परंतु इस अत्यधिक परिश्रम का फल भोगने से वह बच न सका। पचास वर्ष की आयु में ही उस का स्वास्थ्य नष्ट हो गया। महाराजा ने आरोग्यता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न किया परंतु संतत परिश्रम करने की आदत के कारण उस के सब यत्न निष्फल रहे और उनसठ वर्ष की अवस्था में ही वह इस असार संसार से चल बसा।

महाराजा की शिक्षा

बचपन में महाराजा को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर न मिला। छोटी अवस्था में ही पिता का देहान्त हो गया। साथ ही उस समय के सिक्ख सरदारों को शिक्षा-प्राप्ति में रुचि भी न थी। वास्तव में उन्हें इस ओर ध्यान देने का अवसर भी नहीं मिलता था। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में खालसा धर्म तथा पंथ के अस्तित्व को खतरा था। इसलिए उस को बचाना प्रत्येक सिक्ख का कर्त्तव्य था। इन परिस्थितियों में सिक्ख सरदार शिक्षा प्राप्ति की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकते थे। विद्या और कला की उन्नति सदा सुख तथा शांति के समय में ही हुआ करती है। परंतु उन दिनों में अमन और शांति देश से विलीन हो चुकी थी। परंतु निरक्षर होते हुये भी रणजीतसिंह बहुत सूझ-बूझवाला व्यक्ति था। उस का मस्तिष्क साधारण सूझ-बूझ से भरपूर था। योरुपीय

---

[1] मुंशी शहामत अली ने भी अपनी पुस्तक में इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वह लिखता है कि यद्यपि महाराजा फारसी भाषा से भलि भाँति परिचित न था फिर भी आज्ञा-पत्र की भाषा को सम्पूर्णतया समझ लेता था। यदि उस के विचार में वह लेखन-शैली उस का अभिप्राय स्पष्ट न करती तो मुन्शी को उस में परिवर्तन करने की आज्ञा देता।

यात्री जो समय-समय पर महाराजा के दरबार में आते थे, स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि महाराजा इस प्रकार बाखबर है कि अपनी बातचीत साधारण घरेलू विषय से प्रारंभ कर के भिन्न-भिन्न प्रकार की जटिल समस्याओं तक जा पहुँचता है। विषय-पक्ष को इतनी चतुराई से परिवर्तित कर लेता है कि बात करनेवाला आश्चर्य-चकित रह जाता है, और इस प्रकार तीव्र बुद्धिवाला महाराजा अपना अभिप्राय पूरा कर लेता है।

विद्या-प्रसार के लिए प्रयत्न

महाराजा विद्वानों से मिलकर प्रसन्न होता था और उनका आदर करता था।[1] इसमें सन्देह नहीं की महाराजा अपने शासन काल में अधिक मात्रा में देश के अन्दर शिक्षा प्रचलित नहीं कर सका परन्तु हम यह बात भुला नहीं सकते कि उस समय पंजाब में न तो ऐसे साधन ही प्राप्य थे और न जीवन-भर उसे इस ओर ध्यान देने का अवकाश ही मिला। फिर भी उसने इस प्रयत्न में कोई कसर उठा न रखी। उन दिनों ईसाई प्रचारकों ने लुध्याना में अंग्रेजी पढ़ाने का एक स्कूल स्थापित कर रखा था। महाराजा ने सरकारी खर्च पर कुछ एक नवयुवक विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्त के लिए लुध्याने भेजा। उसने अपने पुत्र राजकुमार शेरसिंह के लिए भी अंग्रेजी पढ़ाने का प्रबन्ध किया।[2] अपने दरबारियों को इस बात के लिये तैयार किया कि वे भी अपने बच्चों को अंग्रेजी पढ़ायें। सरकारी खर्च पर लाहौर में अंग्रेजी स्कूल खोलने का सुझाव रखा गया और मिस्टर लॉरी को जो कि लुध्याना स्कूल का एक सम्मानित अध्यापक था, इसके लिए बुलाया गया। परन्तु यह बेल मण्डे न चढ़ सकी क्योंकि मिस्टर लॉरी स्कूल में 'बाईबल' पढ़ाने पर कटिबद्ध था और महाराजा इस सीमा तक जाने के लिये तैयार न था।

फारसी, हिन्दी तथा गुरमुखी पढ़ाने वाली संस्थाओं को महाराजा की ओर से जागीरें और छात्र-वृत्तियां प्रदान की जाती थीं। अंग्रेजी तथा फ्रांसीसी लोग जो महाराजा के पास नौकर थे उनके साथ महाराजा कुछ एक चतुर और होनहार बच्चे लगाये रखता था ताकि वे भी उन अफसरों से योरुपीय कला-विद्या सीख सकें। डाक्टर मैक्रीगर और हानिगबर्गर ने अपनी पुस्तकों में इस बात का कई बार उल्लेख किया है, कि उनके सिक्ख शिष्य अपने तोपचियों के लिये अंग्रेजी आदेशों का अनुवाद पंजाबी भाषा में कर दिया करते थे।[3] महाराजा को भी नई-नई जानकारी प्राप्त करने में विशेष रुचि थी, इस लिये कैप्टन वेड को सरकार के दीवानी कानूनों और ब्रिटेन की पार्लियामेंट के विधान पर एक विस्तृत लेख लिखने के लिए उन्होंने कहा।[4] इसी प्रकार अंग्रेजी कोर्ट मार्शल के नियमों का अनुवाद भी करवाया गया।

महाराजा को इतिहास-शास्त्र में विशेष रुचि थी। वह इतिहास लिखने वालों को पुरस्कार

---

[1] मुन्शी सोहनलाल की पुस्तक से ज्ञात होता है कि सरदार महां सिंह ने अपने पुत्र को गुरमुखी विद्या सिखाने के लिए दो एक शिक्षक नियुक्त किये थे। परन्तु रणजीतसिंह जो कि शस्त्र-विद्या की ओर झुका हुआ था, विद्या प्राप्त न कर सका।

महाराजा के मन में विद्या के लिए कितना प्रेम था इसका अनुमान इस घटना से लगाया जा सकता है कि जब सिक्ख पेशावर-युद्ध में संलग्न थे तो महाराजा ने आज्ञा दी कि चिमकनी की जियारत-गाह को जो कि मुसलमानों का पुस्तकालय है सुरक्षित रहने दिया जाय।

[2] महाराजा शेरसिंह के अंग्रेजी हस्ताक्षर कई सरकारी लेख-पत्रों पर विद्यामान हैं जो कि पंजाब सरकार के रिकार्ड अफिस में पड़े हैं। लेखक के पास भी ऐसा एक लेख-पत्र है।

[3] मियाँ कादर बख्श एक होनहार नवयुवक था और महाराजा के तोपखाना में नौकर था। महाराजा ने उसे अंग्रेजी भाषा पढ़ने के लिये लुध्याना भेजा। इस ने अंग्रेजी पुस्तकों की सहायता से तोप-अन्दाजी कि विद्या पर एक पुस्तक फारसी भाषा में लिखी थी।

[4] यह अनुवाद मुन्शी सोहनलाल की उमदाउलतवारीख के साथ परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ था।

देता था। यह इसी संरक्षण का फल था कि मुंशी सोहनलाल को दरबार के ऐतिहासिक वृत्तान्त लिखने के लिये वकालत के पद पर नियुक्त किया गया था। उसका लिखा हुआ "रोजनामचा रणजीतसिंह" महाराजा के समय की दशा की जानकारी के लिए एक बृहदाकार और मूल्यवान सामग्री है। इसी प्रकार दीवान अमरनाथ ने भी महाराजा की आज्ञा से 'जफरनामा रणजीत सिंह' तैयार किया। इनके अतिरिक्त सैकड़ों रुपये खर्च करके ग्रन्थ साहब की प्रतिलिपियाँ गुरमुखी भाषा में करवाई गईं और उन्हें बड़े-बड़े गुरद्वारों में रखवाया गया।

सारांश यह कि समय की गति-विधि और आवश्यकता के अनुसार शिक्षा की उन्नति के लिये रणजीतसिंह ने थोड़ा-बहुत प्रयत्न अवश्य किया था। भले ही आधुनिक काल के स्तर के अनुसार यह प्रयत्न उल्लेखनीय न समझा जाता हो।

महाराजा का धार्मिक जीवन

उस समय में किसी व्यक्ति का धार्मिक जीवन जांचने की केवल यही कसौटी नहीं थी कि उस व्यक्ति का चरित्र कैसा है बल्कि धार्मिक जीवन स्तर अधिकतर बाह्य रीति-रिवाज तथा नित्य नियम की अदायगी पर निर्भर होता था। जो व्यक्ति धर्म के बाह्य तथा आन्तरिक पहलू पर पूरी तरह से अमल करता, धर्मवान कहलाता था। चुनांचे रणजीतसिंह भी समय के अनुसार इस प्रकार के धार्मिक नियमों को मानने वाला था। उसे सिक्ख धर्म पर पूर्ण विश्वास था। वह रोज़ दोपहर के समय एक या डेढ़ घण्टे के लिये ग्रंथ साहब का पाठ सुनता था।[1] गुरुवाणी सुनने से उसे शान्ति प्राप्त होती थी। यहाँ तक कि जब वह दौरे पर भी जाता तो ग्रंथ साहब की सवारी का विशेष प्रबंध किया जाता था। एक हाथी ग्रंथ साहब के लिये तथा दो हाथी ग्रन्थियों के लिए सुरक्षित होते थे। प्रत्येक पलटन के साथ एक-एक ग्रंथी नियुक्त होता था तथा सैनिकों के लिए भी पाठ सुनने का समय नियत था। ग्रंथ साहब की अरदास करने में भी महाराजा पाबन्द और बाकायदा था। इस पर हजारों रुपया प्रति वर्ष खर्च होता था। दरबार साहब अमृतसर के प्रक्साद के लिए शहर की चुंगी की आय में से ३ रुपये १२ आने प्रतिदिन दिये जाते थे तथा अन्य बड़े-बड़े गुरुद्वारों के लिए भी कुछ ऐसा ही प्रबंध था। दरबार साहब के गुंबद पर सुनहरा काम करवाने के लिये महाराजा ने बहुत सा धन खर्च किया था सिख गुरुद्वारों के अतिरिक्त ज्वालामुखी के मंदिर की सजावट पर भी हजारों रुपया खर्च किया गया था। श्री तरन तारन और कटास राज के प्रसिद्ध तीर्थ पर महाराजा बहुधा स्नान के लिए आया करता था और वहाँ सैकड़ों रुपया दान के रूप में बांटता था। महाराजा का दान और धर्मार्थ विभाग का खर्च औसतन एक लाख रुपया प्रति मास था।

महाराजा का चरित्र

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि महाराजा स्वभाव से ही एक असाधारण व्यक्ति था। परंतु इन विशेषताओं के साथ-साथ उसमें कई एक त्रुटियाँ भी थीं। वह अफीम का प्रयोग किया करता था शराब पीने का आदी था, नृत्य तथा संगीत की महफ़लों का रसिक था तथा ऐसे अवसरों पर कभी-कभी लज्जा और संकोच की सीमा को भी लांघ जाता था। मोरां और गुल बेगम के वृत्तांत भी इन्हीं महफ़लों के परिणाम स्वरूप थे। परन्तु महाराजा के जीवन के इस पहलू का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह पंजाब में उस समय पैदा हुआ जब इन बातों को बुरी दृष्टि से नहीं देखा जाता था और उसका

---

[1]यह ग्रंथ साहब महाराजा ने सन् १८१८ में करतारपुर से मंगवाया था।

ऐसे समाज में लालन-पालन हुआ था जिसमें ऐसी बात कोई बड़ी दोषपूर्ण नहीं समझी जाती थी बल्कि उस समय उच्च वर्ग के लोग नाच-रंग की महफलों को अपने जीवन का एक विशेष तथा आवश्यक भाग समझते थे। चुनांचे महाराजा के दरबारी भी ऐसा ही जीवन व्यतीत करते थे। जैसे वे लोग थे वैसा ही महाराजा भी था। परंतु उसके जीवन का उल्लेखनीय पहलू तो यह है कि उसने अपने उच्च अधिकार का कभी बुरे अथवा अनुचित कार्यों के लिये दुरुपयोग नहीं किया। एशिया तथा योरप के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जहाँ राजाओं ने कई घरानों के मान और मर्यादा का भंग करके उनकी पवित्रता को नष्ट किया, परंतु रणजीतसिंह का चरित्र इस दृष्टि से बिलकुल निष्कलंक था। लारेंस, हानिग बर्गर, बरैन ह्यूगल, सर हैनरी फ्रेन तथा कई अन्य महोदयों ने, जो कि महाराजा के निजी सम्पर्क में आये, महाराजा की योग्यता, बुद्धिमत्ता तथा चरित्र के विषय में बहुत उच्च सम्मति और प्रशंसापूर्ण राय प्रकट की है।

संसार के इतिहास में ऐसे बहुत कम उदाहरण प्राप्य हैं जहाँ कि किसी व्यक्ति ने रणजीतसिंह की तरह असहाय अवस्था से उठकर इतना विस्तृत राज्य स्थापित किया हो तथा साथ ही किसी भारी नैतिक पाप का बोझ भी अपने सिर पर न लिया हो और न अपने पराजित शत्रुओं के क्रोध का शिकार ही हुआ हो। महाराजा के लिये यह बात गर्व तथा प्रशंसा के योग्य है कि उसने अपने शासनकाल में किसी को फांसी अथवा मृत्यु का दण्ड नहीं दिया। यह उसकी साधुता, उदारता तथा सर्वप्रियता का परिणाम था कि उसकी प्रजा बच्चे से लेकर बूढ़े तक उसे प्यार करती थी और उसके शत्रु भी उसकी कृपालुता के भार से दब कर चुप हो जाते थे।

---

[1] नाच रंग और मदिरा पान की महफलों का वर्णन करते हुए स्टेनबैग तथा डाक्टर मरे इत्यादि ने महाराजा के चरित्र के विषय में बहुत ही अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु यह लिखते समय वे भूल गये हैं कि उस समय उन के अपने देश में उच्च वर्ग के लोगों का इस दृष्टि से व्यक्तिगत चरित्र कितना उच्च था। इंग्लैंड के सम्राट जार्ज तृतीय तथा रूस के ज़ार का दरबार कैसा था तथा फ्रांस की राजधानी पेरिस में क्या होता था। इस के अतिरिक्त लंदन के प्रसिद्ध स्थान पिकैडिली में जैसे दृश्य आज भी देखने को मिलते हैं, किसी से छिपे नहीं हैं।

उन्नीसवाँ अध्याय

महाराजा की कार्यपटुता पर एक स्थूल दृष्टि

महाराजा रणजीतसिंह की उपरोक्त जीवन-कथा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस महापुरुष ने किस प्रकार एक छोटी-सी मिसल की सरदारी से तरक्की कर के थोड़े ही समय में एक विस्तृत राज्य की नींव रख दी। ठोस और नियमित शासन-व्यवस्था स्थापित कर के देश से अशांति तथा अराजकता को दूर किया। अपने अनथक प्रयत्नों द्वारा अपनी सेना को उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया। लाहौर दरबार की शोभा को पुनर्जीवित कर दिया। परिणाम यह निकला कि सैंकड़ों वर्षों की पराधीनता से छुटकारा पाकर पंजाब के लोग एक बार फिर चैन और शांति का जीवन व्यतीत करने लगे। वाणिज्य में उन्नति हुई। शिल्प तथा उद्योग-धन्धों के लिये नये साधन खुल गये। राज्य का कोष धन-धान्य से पूर्ण हो गया। सारांश यह कि पंजाब एक बार फिर सुख और संपन्नता का केन्द्र बन गया। यह सब बातें महाराजा की आश्चर्यजनक योग्यता, कूटनीतिज्ञता तथा बुद्धिमत्ता का प्रमाण हैं।

यदि पंजाब के चित्र पर एक स्थूल दृष्टि डाली जाय तो पता चलता है कि पंजाब उस समय किस प्रकार बीसियों छोटे-छोटे प्रदेशों और शासन-क्षेत्रों में बँटा हुआ था। इन में से कुछ पंजाबी मुसलमानों, कुछ सिक्ख मिसलदारों और कुछ पठानों के अधीन थीं इस के साथ ही चित्र से यह बात भी स्पष्ट होती है कि सिक्ख मिसलदारों के अधिकृत भागों के गिर्द मुसलमान रियासतों के दो फौलादी घेरे डाले जा चुके थे। आंतरिक भाग झेलम से प्रारंभ हो कर खुशाब, साहीवाल, झंग, पाकपटन और दीपालपुर से होता हुआ कमान का रूप बना कर लाहौर के पड़ोस में कसूर के स्थान पर समाप्त होता था। और बाह्य भाग में काश्मीर, हज़ारा, पेशावर, बनूं, टांक, मनकेरा, डेरा इस्माइल खाँ, डेरा गाजी खाँ, मुलतान और बहावलपुर जैसी विस्तृत साधनों वाली मुसलिम रियासतें सम्मिलित थीं। यह भाग भी थोड़ा बहुत आधे चंद्र का रूप धारण कर रहा था। इन भागों की उपस्थिति में खालसा राज्य के किसी प्रकार के विस्तार अथवा उस के चिरस्थायी होने के चिह्न दिखाई नहीं देते थे। सत्य तो यह है कि इन भागों के होते हुये पंजाब में किसी एक राज्य का स्थापित होना असंभव था। राजनीतिक दृष्टि से ये रियासतें एक दूसरे से बिलकुल अलग-अलग थीं। इन में परस्पर संगठन नहीं था। सारांश यह कि किसी एक शत्रु के विरुद्ध संगठित रूप से पंक्तिबद्ध होना उन के लिये कल्पना से बाहर था।

इस के विपरीत पंजाब के दोनों ओर दो बड़ी-बड़ी शक्तियाँ निर्माणित हो रही थीं। एक ओर अंग्रेज अपने अधिकार क्षेत्र को यमुना नदी तक बढ़ा चुके थे और सन् १८०३ में उन्हों ने देहली सम्राट् को अपनी शरण में ले लिया था। दूसरी ओर अहमद शाह अब्दाली का पोता काबुल नरेश शाह ज़मान एक नई करवट ले रहा था और अपने दादा के पंजाब में स्थित अधिकृत भागों को फिर से जीतने पर कटिबद्ध था। उस ने सन् १७९३ से १७९८ तक पंजाब पर कई आक्रमण किये और देश की बिगड़ी हुई व्यवस्था को और भी अस्त-व्यस्त कर दिया।

ईश्वर ने रणजीतसिंह को उच्च कोटि की सुयोग्यता तथा बुद्धि प्रदान की थी। उस ने परिस्थितियों का पूर्ण रूप से अध्ययन कर यह निश्चय कर लिया कि वह पंजाब की एकता को स्थायी रखने के लिये भरसक प्रयत्न करेगा। उसकी देश-भक्ति ने उसे यह निश्चय करने पर बाध्य कर दिया

कि वह अपने और पराये के भेद को भुला कर छोटी व बड़ी रियासतों और विभागों को संगठित कर और देश के राजनीतिक, आर्थिक तथा सैनिक साधनों को जुटा कर एक चिरस्थायी शासन व्यवस्था को स्थापित करे, ताकि कोई बाह्य शत्रु पंजाब की ओर आँख उठा कर भी न देख सके। इस निश्चय को दृष्टिगत रखकर उस ने सब से पहले सिक्ख मिसलदारों को जीता और तत्पश्चात् पंजाब के छोटे-बड़े मुसलमान शासकों को अपना आधिपत्य स्वीकार करने पर बाध्य कर दिया। और अंत में मुसलमानों की बड़ी-बड़ी रियासतों जैसे कि काश्मीर, मुलतान, तथा पेशावर को भी अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस प्रकार महाराजा ने अपने विचारों को अमली रूप दिया और पंजाब को एक राजनीतिक एकता में पिरो दिया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि संपूर्ण पंजाब कभी भी एक शासन के अधीन नहीं हुआ था। गुलाम वंश के शासनकाल से लेकर मुगल वंश के शासनकाल तक काश्मीर तथा पेशावर कभी पंजाब के अंश नहीं थे। बल्कि दिल्ली सम्राटों के समय में तो मुलतान, दीपालपुर, समाना और भटिंडा आदि विभिन्न शासकों और जागीरदारों के अधीन रखे जाते थे। परंतु महाराजा ने अपनी योग्यता और सक्षमता से संपूर्ण पंजाबी बोलनेवाले प्रदेशों को एकत्र कर के आधुनिक पञ्जाब की नींव रखी और सन् १८४९ में जब पञ्जाब अंग्रेजी राज्य में आया तो शासन-व्यवस्था का यह बना बनाया गुट अंग्रेजों के हाथ लगा और इसी को उन्होंने तदुपरान्त संशोधित रूप दिया। महाराजा का यह विशेष कार्य पञ्जाब के इतिहास में सुनहरे शब्दों में लिखे जाने के योग्य है।

यदि महाराजा के जीवन के अन्य पक्षों पर भी दृष्टि डाली जाय तो हमें वे भी प्रकाशमय और उज्ज्वल दिखाई देते हैं। महाराजा को इस वास्तविकता का ज्ञान हो चुका था कि पाश्चात्य युद्ध-प्रणाली हिन्दुस्तानी युद्ध-प्रणाली से कहीं बढ़िया है। इसलिये उसने उस समय में जब कि अंग्रेज़ पंजाब के पड़ोस में पाँव जमा चुके थे समय की आवश्यकता देखकर बड़ी निपुणता से पाश्चात्य युद्ध-विद्या को अपनी सेना में प्रचलित कर दिया और फौज के एक महान् और महत्व-पूर्ण भाग को योरपीय ढङ्ग पर व्यवस्थित कर दिया तथा खालसा सेना को देश की प्रथम पंक्ति की सेनाओं में ला बिठाया। महाराजा की मृत्यु के पश्चात् जब सिक्खों और अंग्रेज़ों के बीच युद्धों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ तो खालसा सेना ने वीरता और निर्भयता के अतिरिक्त युद्ध-विद्या की कला को ऐसे प्रदर्शित किया कि शत्रु भी हैरान रह गए। कनिंघम अपनी पुस्तक में सिक्खों की पराजय के कारणों पर दृष्टि डालते हुए लिखता है कि सिक्ख सैनिक लड़ने में योरपीय सेना के बिलकुल बराबर थे। सिक्खों की तोपें वैसी ही लाभदायक थीं जैसी कि अंग्रेज़ों की, और उनके तोपची भी वैसे ही निपुण तथा उच्चकोटि के निशानाअंदाज थे जैसे कि अंग्रेज़। फिर भी सिक्खों को पराजय प्राप्त हुई क्योंकि सिक्ख सेनाओं की कमान किसी योग्य सेनापति के हाथ में नहीं थी। सत्य तो यह है कि यदि उस समय सेना की कमान रणजीत सिंह के हाथ में होती अथवा वह जीवित होता तो युद्ध का परिणाम कुछ और ही होता। समकाली कवि शाह मुहम्मद भी कमान अफसरों की दगाबाज़ी की ओर इशारा करता लिखता है :—

हुन्दी आज सरकार तां मुल पांदी जिवें खालसे ने तेगां मारीयां नीं।
शाह मुहम्मदा इक सरकार बाझों फौजां जित के अन्त नूँ हारियां नीं॥

हम तो यह भी ख्याल करते हैं कि यदि महाराजा जीवित रहता तो वह राज्य के अन्य विभागों में भी पाश्चात्य नियम तथा विधान को प्रचलित कर देता। महाराजा ने इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए बहुत से योरोपीय अफसर बड़े-बड़े वेतनों पर नौकर रखा। उनमें से अधिकतर तो सेना-विभाग में थे परन्तु कई एक राज्य के अन्य विभागों में भी नियुक्त थे ताकि वे उनमें संशोधन कर सकें। चुनांचे जरनैल अवीतबेला की कारदारी के समय में वज़ीराबाद ने बहुत

उन्नति की। इसी प्रकार जॉन होम की कारदारी के समय परगना गुजरात में मालिया रोक रुपये में मिलने लगा। महाराजा के औषधालय में भी एक जर्मन डाक्टर हानिगबर्गर नियुक्त था। महाराजा बहुधा उसके साथ पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली पर बातचीत किया करते थे। एक बार जब महाराजा पर अधरंग का दौरा पड़ा तो गवर्नर जनरल ने अपने खास डाक्टर की सेवाओं को महाराजा के समर्पण किया चुनांचे डाक्टर मैक्रेगर ने महाराजा के शरीर पर बिजली लगवाने की सम्मति दी। अपने सामन्तों के रोकने के बावजूद महाराजा बिजली लगवाने के लिये तैयार हो गया। कैप्टन वेड जो कि लुधयाना ऐजैंसी में उप-अधिकारी के रूप में नियुक्त था, लाहौर दरबार में अधिकतर आया जाया करता था। महाराजा उसके साथ योरुपीय शासन-व्यवस्था के विषय में विचार-विमर्श करते। अन्त में इसी व्यक्ति से महाराजा ने अंग्रेजी इलाके में प्रचलित जाब्ता-दीवानी और इंगलैण्ड की पार्लियामेन्ट के विधान की अंग्रेजी भाषा में एक सटीक प्रति मँगवाई थी' और बाद में अपनी सरकार को परिचित करने के लिये महाराजा ने उसका फारसी भाषा में अनुवाद भी करवाया।

ये तमाम तथा अन्य कई बातें यह सिद्ध करती हैं कि महाराजा किस प्रकार अपने पंजाबी भाइयों को पाश्चात्य कला तथा विद्या से परिचित करवाने का यत्न करता था। इसी बात का ध्यान करते हुए महाराजा ने एक समय यह सुझाव रखा था कि लुधयाना के मिशन स्कूल के ढङ्ग का एक स्कूल लाहौर में भी चलाया जाय। जहां विद्यार्थियों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षा दी जाय। परन्तु यह योजना सफल न हुई क्योंकि ईसाई हैडमास्टर अंजील पढ़ाने पर उतारू था और महाराजा अभी इस सीमा तक जाने को तैयार न थे। फिर भी महाराजा ने बड़े-बड़े सरदारों तथा सामन्तों से इस बात के लिये आग्रह किया कि वे अपने बच्चों को रियासत में नौकर योरुपीय अफसरों के पास भेजा करें ताकि वे पश्चात्य विद्या तथा कला से परिचित हो सकें। दुर्भाग्य से न तो महाराजा ही अधिक दिन जीवित रह सका और न खालसा राज्य चिर-स्थायी ही सिद्ध हुआ नहीं तो पाश्चात्य सभ्यता के कई एक पहलू पंजाब में अंग्रेज़ों के प्रशासन से पहले ही स्पष्ट रूप धारण कर लेते।

यद्यपि महाराजा के जीवन का अधिकतर भाग प्रदेशों के जीतने में ही व्यतीत हुआ परन्तु महाराजा ने राज्य के अन्य महत्वपूर्ण विभागों को उन्नत करने में कोई कसर उठा न रखी थी। उसने प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार की व्यवस्था के लिए बड़े-बड़े अनुभवी और सुयोग्य व्यक्तियों, जिनमें दीवान भवानीदास, दीवान गंगाराम और दीवान दीनानाथ के नाम उल्लेखनीय हैं, की सेवाएँ प्राप्त कीं और पंजाब में एक नियमित केन्द्रीय तथा दफ्तरी शासन-व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया, जिसे बाद में अंग्रेज़ों ने अपने शासनकाल में बेहतर बनाया।

यदि महाराजा रणजीत सिंह के कार्य को आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उसने पंजाब को उन्नत करने के लिए कितना यत्न किया। यह उसी की कूटनीति और यत्नों का परिणाम था कि पंजाब के लोगों को साठ-सत्तर वर्ष के पश्चात् सुख की प्राप्ति हुई। आजीविका कमाने के नये नये साधन उत्पन्न हुए। एक स्वस्थ नवयुवक के लिये सेना-विभाग में नौकरी की काफी गुंजायश थी। कारीगर और शिल्पी भी सरकारी तथा प्राइवेट कारखानों में आजीविका कमा सकते थे। चमड़े के कारखाने, बन्दूक, तोप, तलवार, बनाने के कारखाने, कवच बनाने के कारखाने, ज़िरह बख़्तर बनाने के कारखाने देश में बहुत खुल चुके थे। महाराजा की ७०,००० सेना का आवश्यक सामान इन्हीं कारखानों में बनता था। इसके अतिरिक्त जो आठ लाख रुपया प्रतिवर्ष इस सामग्री पर व्यय होता था वह भी अपने देश में ही रहता था। आजकल की तरह हमारा देश विलायत तथा अमरीका पर निर्भर नहीं था। यदि पंजाब में हमारा अपना राज्य रहता तो ये कारखाने जिन्हें दूरदर्शी महाराजा ने प्रचलित किया था, और भी उन्नति करते।

और देश की सम्पत्ति का कारण बनते। सारांश यह कि महाराजा के काम की जिस प्रकार भी जाँच पड़ताल की जाय, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वर्तमान पंजाब (पाकिस्तान बनने के पूर्व) का बनाने वाला वही था और उस पंजाबी सपूत का हम जितना भी सम्मान करें थोड़ा है।

अब पाठकों के हृदय में स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठेगा कि रणजीत सिंह की मृत्यु के दस वर्ष पश्चात् ही यह विशाल राज्य किस प्रकार समाप्त हो गया। और उसके पतन का उत्तरदायित्व रणजीत सिंह पर कहाँ तक है। इस समय में हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते परंतु यह बात स्पष्ट है कि रणजीत सिंह की मृत्यु के समय राज्य में पूर्ण रूप से शांति स्थापित थी। भूराजस्व की पाई-पाई वसूल हो रही थी। उस समय किसी आंतरिक विद्रोह का भय नहीं था। इस के बावजूद यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि महाराजा के जीते जी राज्य में कुछ ऐसे अंश उपस्थित थे, जो राज्य में थोड़ी सी अक्षमता उपस्थित होने पर खतरे का कारण बन सकते थे। यदि महाराजा के दरबारी अधिकारियों की जाँच की जाय तो प्रतीत हो जायगा कि ये लोग किस प्रकार भिन्न-भिन्न धड़ों और पार्टियों में विभक्त थे। उन्हें राज्य के हित की अपेक्षा अपना तथा अपने संबंधियों का हित अधिक प्रिय था। अधिकतर सरदार जिन्होंने पथ की रक्षा के लिए अनगणित बलियाँ दीं और इस राज्य के निर्माण में रणजीत सिंह की तन मन से सहायता की, स्वर्ग सुधार चुके थे। उन के पुत्र पौत्रों को दरबार में वह मान प्राप्त न था जो उन के बाप दादा को था। और अब उन का स्थान चंद एक ऐसे स्वार्थी तथा अयोग्य सरदारों ने ले लिया था जो कि बाद में राज्य के पतन का एक बड़ा कारण सिद्ध हुए। महाराजा के अंतिम दिनों में अधिक संख्या ऐसे दरबारियों तथा सामन्तों की थी जो कि महाराजा की कृपा दृष्टि के कारण महान् पदों पर पहुँच गये थे। जब तक महाराजा जीवित रहे तब तक ये दरबारी तथा अमीर उस पर प्रसन्न रहे और उस की भक्ति का दम भरते रहे परंतु ज्योंही महाराजा ने आँखें बंद कीं ये लोग भी बदलती हुई परिस्थितियों के साथ बदल गये और राज्य-परिवार के साथ उन की भक्ति डोलनी प्रारंभ हो गई। यहाँ तक कि ये लोग लाहौर दरबार के षड्यंत्रों में उलझ कर रह गये और राज्य के पतन का कारण सिद्ध हुए[1]।

राज्य की कमज़ोरी का दूसरा कारण 'सिविल सर्विस' में उपस्थित था। इस में अधिक संख्या ऐसे व्यक्तियों की थी जिन में न तो राज्य-कार्यों को समझने की क्षमता ही थी और न अनुभव ही। सत्य तो यह है कि राज्य का सारा कार्य-भार महाराजा अपने कंधों पर ही उठाये हुए था। वह इस कदर परिश्रमी, अनथक और कर्मठ था कि छोटे से छोटा काम भी अपनी देख-रेख में करवाता था। हर कार्य के लिए स्वयं आज्ञाएँ भेजता तथा उन के पूर्ण होने की पड़ताल करता। राज्य के प्रधान मंत्री से लेकर एक तुच्छ मुंशी तक सब सेवक महाराजा की राय और आदेश की इंतज़ार किया करते। किसी कार्य को अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व अथवा भरोसे पर निभाने का साहस उन में नहीं था। वे केवल महाराजा की आज्ञा का पालन करना ही जानते थे। आत्म-विश्वास तथा आत्मनिर्भरता के साथ उन लोगों ने कोई कार्य करना सीखा ही नहीं था। चुनांचे महाराजा की मृत्यु के पश्चात् यह त्रुटि राज्य के पतन का कारण बनी। न तो महाराजा के उत्तराधिकारी सुयोग्य थे और न 'पब्लिक सर्विस' के लिए ही कोई उपयुक्त श्रेणी उपस्थित थी, जो राज्य-प्रबंध को योग्यता और दियानतदारी से संभाल सके। इसलिए यद्यपि दरबार के सदस्य और अन्य सामन्त राज्य-परिवार के भक्त थे फिर राज्य को अवनति से बचाने में अधिक सफल नहीं सिद्ध हुए।

---

[1] इस का विस्तृत वर्णन हमारी दूसरी पुस्तक अथवा "खालसा राज्य का ह्रास और पतन" में किया जायगा।

इन आंतरिक दुर्बलताओं के अतिरिक्त ह्रास का मुख्य कारण अंग्रेज का पड़ोस में उपस्थित होना था। महाराजा के जीवन काल में ही अंग्रेज अपना आधिपत्य सतलज नदी तक जमा चुके थे और सतलुज तथा यमुना नदी के मध्य की सिक्ख रियासतों को उन्होंने अपनी शरण में ले लिया था। सन् १८२३ में उन्होंने नवाब बहावलपुर के साथ मित्रता का संबंध एवं सन् १८३२ में सिंध के अमीरों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित कर लिए। अक्टूबर सन् १८३८ में शाह शुजाउलमुल्क को चंद एक अंग्रेज अफसरों और पर्याप्त अंग्रेज सेना के साथ काबुल भेज दिया था। और इस प्रकार अफगानिस्तान पर भी अपनी दृष्टि टिका रखी थी। अभिप्राय यह कि महाराजा के जीते जी ही अंग्रेजों ने पंजाब के गिर्द अपने अधिकार का घेरा डालना प्रारम्भ कर दिया था। तथा उस की मृत्यु के समय यह घेरा अंतिम सीमा तक पहुँच चुका था। सत्य तो यह है कि अंग्रेज भी अवसर की ताक में थे। ज्योंही कुँवर नौनिहाल सिंह की अचानक मृत्यु पर राज गद्दी के लिए झगड़े आरम्भ हुए इन्होंने कभी एक पार्टी को और कभी दूसरी को सहायता का लोभ देकर लाहौर दरबार में ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया कि इन झगड़ों की गति दिन प्रतिदिन तीव्र होती गई और यह उग्र रूप धारण करते गये। अंत में अंग्रेजों और सिक्खों की दो लड़ाइयों के पश्चात् पंजाब में सिख राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया और उसे अंग्रेजों ने अपने राज्य में मिला लिया। इस संबंध में हमें फारसी भाषा के एक कवि का वचन याद आता है जिस के साथ हम इस पुस्तक को समाप्त करते हैं :

दरीन बुरता कशती, फ़रो शुद्ध हज़ार।
कि पैदा न शुद्ध, तख़्ता रा बर किनार।।

———

परिशिष्ट १

कारदार की नियुक्ति के समय दिये गये आदेश का फ़ारसी भाषा में मूल पाठ।

आईन इब्तिदाए-ख़रीफ़ सं० १८९४ चौधरी कन्हैया बर कारदारी ताल्लुका भिम्भर मामूर फ़रमूदा; बायद कि बदीं मूजब अमल साज़ बाशन्द :—

मुआमला ख़रीफ़ सं० १८९४ तहसील करदन; रबी सं० १८९५ ब करार वाक़ई दारन्द। आबादी-ए-रिआया व फ़ज़ूनी-ए-माल सरकार मद्द-ए-नज़र दारन्द। चहार तरफ़ ब हमरा आँ हाँ रास्ती व दुरुस्ती, हुस्न सलूकी व सलाह दारन्द। आँचि मुक़दमा अदालत कलान बाशद, बदूं अरज़ ब हुज़ूर वाला इनफ़िसाल न साज़न्द। हिसाब ताल्लुका मज़कूर इब्तिदा-ए- फ़सल ख़रीफ़ सं० १८९३ सेह फ़सल अज़ कार दारान साबक नरायन दास व हरनाम दास फ़हमीदा साज़न्द; जुस्तजू-ए- मुआमला मज़कूर बजा-ए-ख़ुद दारन्द। आँचि ब्योपारियान माल अज़ ज़ेर बाला बिरन्द, व अज़ बाला कोहस्तिान ज़ेर आरन्द, काग़ज़ करार वाकई व पुख़्तगी बायद साख़्त; कवाइफ मुतअल्लका मुफ़स्सिल अर्ज़ रसानन्द।

परिशिष्ट २

नियुक्ति के समय थानेदार क़िला को उसके कर्त्तव्यों के रूप में दिया गया आदेश (मूल पाठ फ़ारसी भाषा में)।

इरशाद वाला ब नाम उज्वल दीदार सोठी शाम सिंह हरनपुरिया थानादार क़िला श्री कांगड़ा जी :

दरींवक्त अज़ हुज़ूर अनवर मामूरी शुमा ब थानादारी क़िला श्री कांगड़ा जी गरदीदा। बायद कि शुमा हस्बुलमस्तूर बमूजिब दफ़ात ज़ैल अमल साज़न्द। मुताबिक मोहर व निशानी दर्ज रपट बअमल आरन्द।

(१) शुमा दर तकदीम ख़िदमात थानादारी क़िला श्री कांगड़ा जी कमर-ए- हिम्मत बस्ता ब जान-ओ-दिल सरगर्म बाशन्द; व हिफ़ाज़त-क़िला बख़ूबी बायद दाश्त व दर शहर ब मरदुम शहर ख़लिश व तकलीफ न रसानन्द, ज़िम्मा शुमा अस्त। ब इस्तितलाह व इस्तिमराज सरदार ब वक़ार सरदार लैहना सिंह मजीठा ब ख़ैर स्वाहि व नमकहलाली सरकार हाज़िर व सरगर्म बाशन्द। ब जाये थानादार साबक डेरा करदा बाशन्द।

(२) हर कुदाम अज़ सिपाहियान मुत्तय्यना क़िला मज़कूर अज़ खेशान व अक़बा बराये मुलाक़ात ब्यायेद बेरून क़िला रफ़ता मुलाकात नुमायेन्द। अन्दरून क़िला ग़ैर मरदुम रा दख़ल न दिहन्द बल्कि शब हम अहदे अज़ मरदुम बेग़ाना सिवाये मुलाज़मीन नमानद व मिसल तवायफ़ वग़ैरा अहल-निशात व ईं किस्म ज़नान रा दख़ल न दिहन्द।

(३) आँचि कंपनी अज़ पलाटन कम्पु मुअल्ला तहत जरनैल महताबसिंह मजीठा दर आँ जा बूदा बाशन्द आँ हा रा दर तक़दीम ख़िदमात हाज़िर दारन्द व मरदुम ब नौए शरारत पेशा व शराबख़ोर न बाशन्द बल्कि अज़ सरकार वाला ब अफ़सरान पलाटन मज़कूर दरीम़ बाब ताकीद मज़ीद ख़ाहद शुद कि ईं किस्म मरदुम न ख़ाहन्द फिरस्ताद।

(४) तबदीली ग़ल्ला व इजनास-कुहना ज़ख़ीरा मारफ़त दौलतमाब,सुखो शाह मोतबर सरदार ब वक़ार मौसूफ़ नमूदा बाशद। आँचि ग़ल्ला व इजनास दर फ़सल रबी सं० १९०१ दाख़िल नमूदन बाशद दर फ़सल रबी दाख़ल नुमायन्द। आँचि दर ख़रीफ़ दाख़िल करदन बाशद दर ख़रीफ़ दाख़िल कुनायन्द। मुद्दआ कि दर सेह साल हुमा जिन्स कुहना नौ दाख़िल शवद बमूजिब काग़ज़ मुफ़स्सल ज़ैल : काग़ज़ (i) लाला हाकी मल, (ii) काग़ज़ मुंशी सरदार मज़कूर।

(५) हर कुदाम अज़ सिपाह फ़ौती व फ़रारी बाशद एबज़-आँ ख़ुद ब ख़ुद नौ-मुलाज़िम न साज़द, दर हुज़ूर अनवर अर्ज नुमायन्द। तक़सीम तलब मार्फ़त मुतसद्दियान सरिश्ता दार; तक़सीम तलब कि दर क़िला दर तक़दीम ख़िदमात हाज़िर अन्द नमूदा बाशद :—

(i) मुतसद्दी लाला अमरीक राय (ii) मुतसद्दी सरदार लैहना सिंह (iii) मुतसद्दी दीवान दीना नाथ

(६) कसाने कि दर क़िला सिपाह व॰अमला सरकारवाला अन्द, बाबतबर दाश्त रसद वग़ैरा अज़ मरदुम बक़्क़ालान शहर आँचि दर हर माह ब हस्ब ज़रुरत रोज़मर्रा ख़रीदा बाशद बर वक़्त तक़सीम अज़ मवाज़िब ख़ुद हा बेबाक नमूदा बाशद; अहदे अज़ जियादा अज़ तलब ख़ुद ख़र्च न कुनद बल्कि मवाजिब निस्फे दर ख़र्च ख़ुराक ख़ुद ब्यारद व निस्फे बराये ख़र्च वाबस्तगान ख़ुद बिगुज़ारद।

(७) मुरम्मत तख़्त तोप हा व पेटी व ठोकर व बारूत वग़ैरा ब हस्ब ज़रूरत व अख़राजात इमारत हस्बुल अमर अशरफ़ निर्मेज़ बुद्ध सरदार ब वक़ार सरदार लैहना सिंह मजीठा बमूजिब अर्ज़ शुमा ख़ाहद शुद।

(८) आँचि सिपाही दर क़िला व शहर दंगा नुमयाद व शराब नोशी करदा मसदर-ए-फसाद बाशद, ऊ रा बर तरफ़ साज़न्द।

(९) हर गाह तकसीम सिपाह नमूदन बाशद- आँवक्त बीस्त व पंज नफ़र बेरून क़िला आमदा तलब बदस्त मारफ़त मुतसद्दियान सरश्तेदार तकसीम तलब गिरिफ्ता बिरवन्द व बाज़ हमीं किस्म दीगार ब्याऐन्द व तलब बगीरन्द; मुबलिग़ कसरात व अमानत निज़्द मोतबर सरदार मौसूफ़ अमानत व जमा बाशद।

(१०) हर गाह सरदार ब वक़ार सरदार बिशन सिंह मजीठा या मोतबरान सरदार मौसूफ़ बहस्ब ज़रूरत बराये मुलाहिज़ा इमारत व ज़ख़ीरा वग़ैरा दीगर कारख़ाना क़िला ब्यायेन्द शुमा हमराह शुदा मुलाहिज़ा कुनानीदा दिहन्द।

(११) आँचि मोतबर सरदार मौसूफ़ दर शहर बाशद अहदे अज़ सिपाह मुत्तय्यना क़िला मसदरे फसाद व शोरिश दर शहर न बाशद; व ब मोतबर मज़कूर हम दंगा न कुनद; व अगर कुदाम मुकदमा दाद वस्तद वग़ैरा बूदा बाशद शुमा हम दीगर फ़ैसल साज़न्द।

(१२) हर गाह दो घड़ी अज़ शब बिगुज़रद आँ वक्त मोतबर शुमा बर हर दरवाज़ा रफ़्ता कुफ़ल बर हर दरवाज़ा ज़दह कलीद हा ख़ुद तल्बानीदह बाशद; व वक्त सुबह रोज़ रौशन बाज़ दर कुशादह बाशद, हमीं तौर हर रोज़ ब अमल आवुर्दा बाशद।

(१३) आँचि मरदुम बर मेला वग़ैरा बराये इशनान व दर्शन अंदरून क़िला ब्यायेद, शुमा बीस्त व पंज नफ़र रा बदून सिल्लाह; हमीं तौर दफ़ा ब दफ़ा अबूर मरूर कुनानीद बाशन्द।

शशम माह फागन सं० १६००; परवानगी ख़ास, डेरा, लहौर।

परिशिष्ट ३

महाराजा का परिवार

महाराजा रणजीतसिंह की सोलह रानियाँ थीं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं। इन में से आठ रानियों की शादी महाराजा के साथ रसम अनुसार हुई थी और शेष आठों को केवल चादर डालने की रसम पूरी कर के महलों के अन्दर दाखिल कर लिया गया था।

(१) रानी महिताब कौर—कन्हैया मिसल के सरदार गुरुबख़्स सिंह और इसकी स्त्री रानी सदाकौर की पुत्री थी। सन् १७९६ ई० में इसका विवाह रणजीतसिंह के साथ हुआ। कुंवर शेरसिंह और कुंवर तारासिंह इसी रानी के पुत्र ख्याल किये जाते हैं। सन् १८१३ ई० में इसका स्वर्गवास हुआ।

(२) रानी राजकौर—इस रानी का दूसरा नाम दातारकौर भी था। आम लोगों में यह माई नकैण के नाम से प्रसिद्ध थी। रानी राजकौर सरदार रणसिंह नकई की पुत्री थी। सन् १७९४ ई० में इसका विवाह महाराजा रणजीतसिंह के साथ हुआ। महाराजा खडकसिंह इसी रानी से पैदा हुआ था। यह रानी राज दरबार के कामों में भाग लिया करती थी। सन् १८१८ ई० में मुल्तान के आक्रमण के समय फ़ौज के साथ गई थी। सन् १८३७ ई० में इसका स्वर्गवास हुआ।

(३) रानी रूप कौर—यह कोट सैयद महमूद ज़िला अमृतसर के एक जमींदार जैसिंह की पुत्री थी। सन् १८१५ ई० में इसकी शादी महाराजा के साथ हुई थी।

(४) रानी लछमी—यह गुज़रानवाले में एक सरदार देसासिंह सिधुजाट की पुत्री थी। सन् १८२० ई० में उसकी महाराजा के साथ शादी हुई।

(५) (६) रानी महिताब कौर और राजबंस कौर—रानी महिताब कौर और राजबंस कौर दोनों बहिनें थीं और कांगड़े वाले राजा संसार चंद की दासी के पेट में से पैदा हुई थीं। महाराजा ने उन दोनों के साथ १८३० ई० में शादी कर ली थी।

(७) रानी रामदेवी—गुजरानवाले के सरदार गुरमुखसिंह की पुत्री थी।

(८) रानी गुल बेगम—गुल बेगम अमृतसर की एक रक्कासा (नाचने वाली) रूपवान स्त्री थी। रणजीतसिंह को इसके साथ प्रेम हो गया। चुनांचे अगस्त, १८३२ में महाराजा ने रसम के अनुसार इसके साथ शादी कर ली और इसे अपने महल में दाख़िल कर के रानी गुलबेगम की उपाधि दी।

(९) रानीदेवी—यह रियासत जसवाम के वज़ीर की लड़की थी।

(१०) (११) रानी रतन कौर और रानी दया कौर—यह दोनों सरदार साहिबसिंह गुजरात वाले की विधवा स्त्रियाँ थीं। सन् १८१२ ई० में जब सरदार साहिबसिंह मर गया तो महाराजा ने इन दोनों को अपने महलों में दाखिल कर लिया। रानी रतन कौर के पेट से कुंवर मुल्तानासिंह और रानी दया कौर के पेट से कुंवर कश्मीरासिंह और पशौरा सिंह पैदा हुए।

(१२) रानीचंद कौर—गाँव चैनपुर ज़िला अमृतसर के एक सरदार जैसिंह की पुत्री थी। सन् १८१५ ई० में महाराजा के साथ इसकी शादी हुई।

(१३) रानी महिताब कौर—गाँव माल ज़िला गुरदास पुर के चौधरी सुजानसिंह की लड़की थी। सन् १८२२ ई० में इसकी शादी महाराजा के साथ हुई।

(१४) रानी समान कौर—सतलज पार एक मज़बई जाट सुबासिंह की लड़की थी। सन् १८३२ ई० में इसका विवाह हुआ था।

(१५) रानी गुलाब कौर—गाँव जगदेव ज़िला अमृतसर के एक ज़मीनदार की पुत्री। सन् १८३६ ई० में इसका स्वर्गवास हुआ।

(१६) रानी जिंदां—गांव चार ज़िला अमृतसर के एक जाट मन्नासिंह की पुत्री थी। मन्नासिंह महाराज के कुत्तेखाने की निगरानी किया करता था। पीछे घोड़चढ़ा फौज में नौकर हो गया था। महाराजा दलीपसिंह इसी रानी से पैदा हुआ था। ऊपरलिखित रानियों के अतिरिक्त महाराजा रणजीतसिंह के महलों में बहुत सी दासियाँ थीं। इनमें बहुतों का दर्जा रानियों के बराबर था। महाराजा के लेख पत्रों में दासी के लिये "सरकार" शब्द प्रयुक्त हुआ है और उन में कई तो महाराजा की चिता पर सती हो गई थीं।

महाराजा रणजीतसिंह के सात पुत्र थे। जिनके नाम निम्नलिखत हैं :—

(१) कुँवर खड़क सिंह—यह महाराजा का सब से बड़ा पुत्र था। रानी दातार कौर के पेट से सन् १८०२ ई० में पैदा हुआ था। महाराजा के पीछे सन् १८३६ में तख़्त पर बैठा और डेढ़ वर्ष के अन्दर ही ५ नवम्बर १८४० ई० को मर गया।

(२-३) कुँवर शेर सिंह और कुँवर तारा सिंह—यह दोनों शहजादे रानी महिताब कौर के पुत्र थे। कुँवर शेर सिंह जनवरी सन् १८४१ ई० में तखत पर बैठा। सितम्बर १८४३ में सरदार अजीत सिंह सिंधानवालिया के हाथों मारा गया। कुँवर तारा सिंह का १८५६ में स्वर्गवास हो गया।

(४-५) कुँवर कश्मीरा सिंह और कुँवर पिशौरा सिंह—कुँवर कश्मीरा सिंह और कुँवर पिशौरा सिंह यह दोनों रानी दया कौर गुजरातवाली के पेट से पैदा हुए थे। इन दोनों भाइयों को महाराजा ने सियालकोट का इलाका जागीर दे रखा था। सन् १८४३ ई० में कुँवर कश्मीरा सिंह खालसा फौज के क्रोध का शिकार हुआ। इसके एक साल पीछे दूसरा भाई कुँवर पिशौरा सिंह भी किला अटक में जवाहर सिंह के हुक्म के अनुसार कतल किया गया।

(६) कुँवर मुलताना सिंह—यह शहजादा रानी रतन कौर गुजरातवाली के पेट से हुआ था। सन् १८४६ ई० में यह मर गया।

(७) कुँवर दलीप सिंह—यह शहिज़ादा रानी जिंदा के पेट में से हुआ था। यह सन् १८३७ में पैदा हुआ था। महाराजा शेर सिंह के पीछे सन् १८४३ ई० में तख्त पर बैठा। पञ्जाब के फते होने के पीछे दलीप सिंह को इसाई बना लिया गया। १८५४ में इंगलिस्तान चला गया और बाकी आयु उस ने वहीं पर गुजारी। इस के पश्चात् रानी जिंदा भी इंगलिस्तान चली गई और वहाँ पर उसका स्वर्गवास हो गया।

परिशिष्ट ४

महाराजा रणजीत सिंह का परिवार
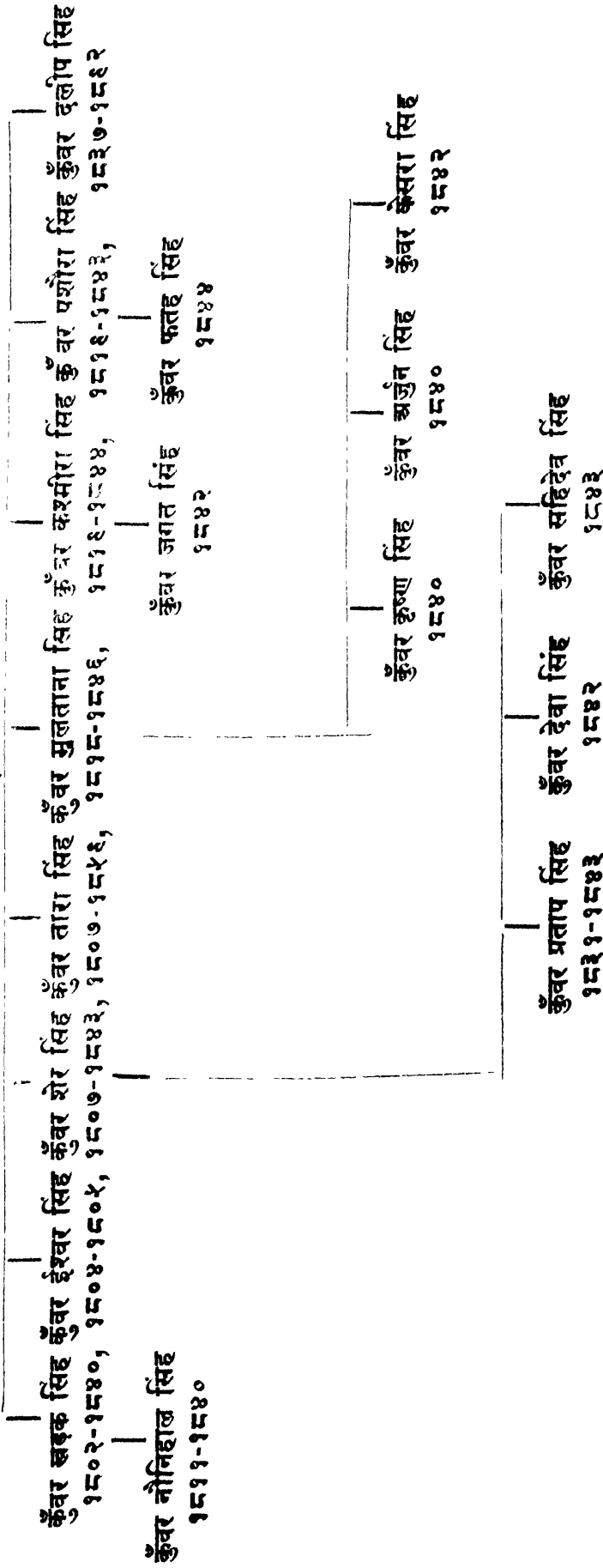
नोट : यह परिशिष्ट सर लैपल गरिफन की पुस्तक पंजाब चीफ्स के आधार पर है।

परिशिष्ट ५

इस परिशिष्ट में महाराजा के उच्च कोटि के कुछ अफसरों के नाम संक्षिप्त परिचय के साथ दिये गये हैं।

(१) सरदार फतहसिंह कालियाँ वाला--यह पुराने फौज़ी सरदारों में से था। इसके दादा और पिता रणजीत सिंह के दादा और पिता के साथ मिलकर लड़ाई किया करते थे। महाराजा को इस सरदार पर पूर्ण विश्वास था। इसीलिये फतह सिंह को महाराजा ने जंग और सन्धि के बारे में पूर्ण अधिकार दे रखे थे। नारायण गढ़ की जंग में सन् १८०७ ई० में यह मारा गया। एक समय फतह सिंह की जागीर तीन लाख रुपये वार्षिक से ज्यादा थी।

(२) सरदार फतह सिंह धारी--यह भी पुराने सरदारों में से था। सन् १७९९ ई० में लाहौर की जीत के समय महाराजा के साथ था।

(३) सरदार अत्तर सिंह धारी--सरदार फतह सिंह का पुत्र था। पिता के पश्चात् अपनी फौज़ का सरदार नियुक्त हुआ। मुल्तान के युद्ध में सन् १८१० ई० में सुरंग के फटने के कारण जल कर मर गया।

(४) सरदार मितसिंह पिधानिया (भिडानिया)--पहले यह रणजीत सिंह के पिता सरदार महासिंह की फौज़ में एक ऊँचे पद पर नियुक्त था। महाराजा के दरबार में इस सरदार का बड़ा मान था। सन् १८१३ ई० में कश्मीर के युद्ध में मारा गया।

(५) सरदार ज्वाला सिंह पिधानिया--सरदार मितसिंह का पुत्र था। पिता की जागीर के अतिरिक्त एक लाख पच्चीस हजार साल की जागीर इसे मिली हुई थी। मुल्तान, कश्मीर और मनकेरा के युद्ध में इसने बहुत वीरता दिखाई और महाराजा के दरबार में इसका बड़ा मान और आदर था। १८२९ ई० में अधरंग हो जाने के कारण यह काम के योग्य नहीं रहा।

(६) सरदार दलसिंह नहेरना--सरदार फतह सिंह कालियाँ वाले का गोद लिया पुत्र था। पिता की कुल फौज और सम्पत्ति जो कि तीन लाख रुपये वार्षिक से ज्यादा थी, इसको मिली। यद्यपि वह बूढ़ा हो गया था परन्तु युद्ध में युवकों की भाँति लड़ता था। सन् १८२३ ई० में हैजे की बीमारी में इसका स्वर्गवास हो गया। इसके पीछे इसका पुत्र अत्तर सिंह जागीरदार के पद पर किया गया।

(७) सरदार हुक्मसिंह अटारीवाला—महाराजा के पुराने सरदारों में से था। महाराजा इस से सम्मति लिया करता था। इसकी जागीर एक लाख रुपये वार्षिक से ऊपर थी। सन् १८१३ ई० में इसका स्वर्गवास हो गया।

(८) सरदार निहाल सिंह अटारी वाला —दरबार में इसका बड़ा आदर मान था। महाराजा की सेवा में यह सरदार सन् १८०२ में पहली बार हाजिर हुआ था। इसकी वीरता से रणजीत सिंह बहुत प्रसन्न था। सरदार निहाल सिंह की जागीर तीन लाख वार्षिक से ऊपर थी। इस का १८१७ ई० में स्वर्गवास हुआ।

(९) सरदार शामसिंह अटारीवाला--सरदार निहालसिंह का पुत्र था। पिता के परलोक सिधारने के पश्चात् सारी सम्पत्ति, फौज़ और मरतबा इसको मिला। लाहौर दरबार के चुने हुए वीर योद्धाओं में से यह था। सन् १८४६ ई० में सुबराओं के युद्ध में वीरता के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ।

(१०) दीवान मौहकम चन्द—महाराजा के उच्चकोटि के अफसरों में से था। वीरता तथा शस्त्रविद्या में निपुण था। रणजीत सिंह को दीवान मौहकम चन्द की वफ़ादारी तथा उसकी बुद्धिमत्ता पर पूर्ण विश्वास था अतएव सन् १८०९-१८१० में फिल्लौर में किला बनाने का कार्य इसी को सौंपा गया। अंग्रेज़ों के मुकाबले वाली सतलज सीमा का अफसर भी इसे ही नियुक्त किया गया। लुधियाना के अंग्रेजी अफसर अख़्तर लोनी ने कई बार अपनी सरकार से इस की प्रशंसा की थी कि मौहकम चन्द हर समय अपने स्वामी ही की लाभदायक बातों का ख्याल रखता है। मौहकम चन्द की जागीर ८,००,००० रु० वार्षिक से ज्यादा थी। अक्तूबर सन् १८१४ ई० में इसका स्वर्गवास हो गया और फिल्लौर में ही इसकी समाधि बनाई गई।

(११) दीवान मोती राम--दीवान मौहकम चन्द का पुत्र था। बहुत समय तक कश्मीर का गवर्नर रहा।

(१२) दीवान राम दयाल--दीवान मोती राम का पुत्र था। अल्प आयु में ही फौज में एक ऊँचे दर्जे पर नियुक्त था। अपने दादा मौहकम चन्द की भाँति शस्त्रविद्या में निपुण था। सर लैपल ग्रिफन वीरता में इसकी तुलना सरदार हरिसिंह नलुवा से करता है। अप्रैल १८२७ ई० में हजारे की लड़ाई में २७ वर्ष की आयु में मारा गया।

(१३) दीवान हुकमा सिंह चिमनी--महाराजा के बड़े सरदारों में से था। नमकसार खियुड़ा और लाहौर के चुङ्गी खाने का अफसर था। इसके उपरांत एक ऊँचे फौजी पद पर भी था। इसके पास तीन लाख रु० वार्षिक की जागीर थी।

(१४) सरदार बुद्धसिंह सिंधावालिया--सिंधानवालिया सरदार, महाराजा रणजीत सिंह के चचाजाद भाई थे। इनमें सरदार बुद्ध सिंह, सरदार अत्तर सिंह, स० लैहना सिंह, स० शमशेरसिंह, और सरदार अजीतसिंह के नाम प्रसिद्ध है। इस घराने के सरदारों की जागीर ६,००,००० रु० वार्षिक से अधिक थी। तथा इन सब के पास फौज और तोपखाना था। महाराजा के दरबार में इनका बहुत मान था। सरदार बुद्ध सिंह सन् १८२७ ई० में हैजे की बीमारी के कारण मर गया। बड़ी शान और रोबवाला मनुष्य था।

(१५) सरदार करम सिंह चाहल—यह सरदार बड़ा वीर और रूपवान था। महाराजा के पास इस की पहुँच थी। सन् १८२३ ई० में नौशहरे के युद्ध में मारा गया। इस की जागीर १,५०,००० रु० वार्षिक के लगभग थी। इसके पीछे इस का लड़का गुरमुख सिंह फौज तथा संपत्ति का स्वामी हुआ।

(१६) सरदार जोधसिंह रामगढ़िया—रामगढ़िया मिसल का सरदार था। महाराजा इस का बड़ा सत्कार करता था। सन् १८१६ ई० में इसका स्वर्गवास हो गया।

(१७-१८) सरदार जोधसिंह तथा अमीर सिंह सूर्यान वाले—पिता तथा पुत्र दोनों ही महाराजा के बड़े सरदारों में से थे। १,५०,००० रु० वार्षिक के लगभग इन की जागीर थी।

(१९) मुहम्मद गौसखां--पुराने फौजी अफसरों में से था। कुल तोपखाना इस के अधीन था। बड़ी शान और ठाट-बाट वाला मनुष्य था। कश्मीर के पहले युद्ध के समय सन् १८१४ ई० में फौज के साथ जाता हुआ बीमार होकर रास्ते में मर गया। महाराजा ने इसको "सिपहसालार और यारवफ़ादार" की उपाधि दे रखी थी।

(२०) सरदार सुल्तान मुहम्मद—मियाँ गौसखां का पुत्र था। पिता के स्थान पर तोपखाने का अफसर बनाया गया।

(२१) जनरल इलाही बख्श—सुन्दर बाणी वाला और रूपवान युवक था। तोपखाना असपी का अफसर था। छोटी आयु में ही तोपखाना में नौकर हुआ और बढ़ते-बढ़ते जरनैल के पद पर पहुँच गया। अंग्रेजों और सिखों के दूसरे युद्ध में अंग्रेजों के साथ जा मिला।

(२२) इमाम शाह--तोपखाना खास का अफसर था और लाहौर के किले के अंदर वाले तोपखाने पर तैनात था।

(२३) मज़र अली बेग--तोपखाना घुड़नाल का अफसर था।

(२४) फकीर अज़ीज़ऊद्दीन—इस का महाराजा के दरबार में बड़ा मान था। राजनैतिक मामले में महाराजा फकीर अजीजउद्दीन की सलाह लिया करता था। फकीर अजीजउद्दीन के दोनों भाई और भतीजे उच्च पदवियों पर थे। सिंधानवालिये, अटारी वालिये, डोगरे, तथा बेली राम खज़ानची के खांदान की भांति फकीर अजीजउद्दीन के खांदान का भी दरबार में बड़ा मान था।

(२५) राजा ध्यान सिंह, गुलाब सिंह, सुचेत सिंह--यह तीनों भाई जम्मू के निवासी थे और जम्मू के राज घराने से संबंध रखते थे। यह जात के डोगरा राजपूत थे। पहले पहल मामूली घुड़सवारों में भरती हुए थे, परंतु अपनी होशियारी तथा बुद्धिमत्ता के कारण बड़ी-बड़ी पदवियों पर पहुँच गये। राजा ध्यान सिंह प्रधान मंत्री बनाया गया। राजा सुचेत सिंह चहारयारी नाम की सवारी फौज का अफसर था और राजा गुलाब सिंह निज़ामत की उच्च पदवी पर रक्खा गया। यह सिक्खों और अंग्रेजों की लड़ाई के समय अंग्रेज़ों से जा मिला था और पीछे जम्मू और कश्मीर का महाराजा बना।

(२६) जमादार खुशहाल सिंह—यह ज़िला मेरठ का रहने वाला था। जाति का गौड़ ब्राह्मण था। गरीबी की दशा में लाहौर पहुँचा और मामूली प्यादा-सिपाही भर्ती हुआ। सुन्दर युवक था। बढ़ते-बढ़ते अफसर ड्योढ़ी के सत्कार वाली पदवी पर पहुँच गया। एक समय इस की जागीर ३,४०,००० रु० के लगभग पहुँच चुकी थी।

(२७) सरदार तेज़ा सिंह--जमादार खुशहाल सिंह का भतीजा था। अपने चचा के रसूख के कारण सुशिक्षित फौज अर्थात् 'कम्पू मुअल्ला' का ऊँचा अफसर बनाया गया। इस ने सुबराओं के युद्ध में अंग्रेज़ों के साथ मिल कर सिखों के साथ बड़ा विद्रोह किया था।

(२८) सरदार धन्ना सिंह मलवई—महाराजा के पुराने सरदारों में से था। इसने चालीस वर्ष से अधिक लाहौर दरबार की सेवा की। प्रत्येक बड़े-बड़े आक्रमणों में जैसे कसूर, मुल्तान, अटक, पेशावर, मनकेरा आदि में यह सम्मिलित था। बड़ी फौज और जागीर का मालिक था। इस की जागीर ४०,००० रु० से ऊपर थी।

(२९) सरदार देसा सिंह मजीठिया - महाराजा के पुराने सरदारों में से था। फौजी उपाधि के अतिरिक्त कोहस्तानी इलाका कांगड़े का नाज़िम भी था। जाट सिक्ख घराने के सरदारों में केवल देसा सिंह का ही एक घराना था जिस को महाराजा ने निज़ामत के पद पर नियुक्त कर रखा था। इस की जागीर १,२५,००० रु० के लगभग थी। यह सरदार बड़े ठाट से रहता था। मुन्शी सोहनलाल इस संबंध में वर्णन करता है। कि--

"मरदे मुतकँबर व मगरूर अस्त।
अकल ख़ुद रा अज़ तमामी ज्यादा मि दानद॥"

(३०) सरदार लैहनासिंह मजीठिया—सरदार देसासिंह का पुत्र था। पिता के पश्चात् कांगड़े का नाज़िम बनाया गया। ज्योतिष विद्या और विज्ञान में काफ़ी निपुण था।

(३१) सरदार रत्नसिंह गरज़ाखीया— फौज और जागीर का मालिक था। दरबार में एक समय उसका बड़ा रसूख था।

(३२) मिसर दीवान चंद—उच्च फ़ौजी अफसरों में से था। मुल्तान, कश्मीर और मनकेरे की जीत में उसका विशेष हिस्सा था। मुल्तान की जीत के सिलसिले में महाराजा ने दीवानचंद

को "जफ़र जंग बहादुर", और कश्मीर की जीत के कारण "फ़ते व नुसरत नसीब" की और भी ऊँची उपाधि प्रदान की थी। सन् १८२५ ई० में कुलंज की दर्द के कारण मर गया।

(३३) सरदार गुलाबसिंह कपता—फौज घुड़चढ़ा ख़ास का सब से ऊँची पदवी का अफ़सर था। सवारी फौज के इस दस्ते को यह विशेष मान प्राप्त था कि इसमें उत्तम घरानों के लोग भर्ती किये जाते थे। महाराजा इस दस्ते का बहुत मान किया करता था।

(३४) दीवान देवी सहाय—सरदार गुलाबसिंह कपता के साथ घुड़चढ़ा ख़ास का अफ़सर था। दरबार में दीवान देवी सहाय का बड़ा मान था; महाराजा की मुलाज़मत में आने से पहले दीवान देवी सहाय सरदार मिलखासिंह रावलपिण्डी वाले की फौज में ऊच्च पद पर नियुक्त था।

(३५) सरदार हरि सिंह नलुवा—महाराजा का प्रसिद्ध और बड़ा वीर जरनैल था। वीरता तथा निर्भयता में बड़ा प्रसिद्ध माना जाता था तथा हज़ारे का गर्वनर भी रहा था। बड़ी फौज़ और जागीर का मालिक था। एक समय सरदार हरिसिंह की जागीर ८,५०, ००० रु० तक जा पहुँची थी। सन् १८३७ ई० में शत्रु की गोली से जमरोद की लड़ाई में वीरगति को प्राप्त हुआ।

(३६) दीवान सावन मल—मुल्तान प्रांत का नाज़िम था। इस प्रांत की वार्षिक मालगुज़ारी ३३,००,००० रु० थी। दीवान बड़ा सुजान तथा बुद्धिमान था। महाराजा के दिल में सावन मल का बहुत सत्कार था।

(३७) दीवान भवानी दास—महाराजा के महकमा माल का मंत्री था। पहले-पहल इसी ने ही लाहौर दरबार में दफ़्तरी हकूमत ज़ारी की थी। पहले स्वयं यह और इसके भाई और पिता सब नरेश कायल की सरकार में ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। ख़ालसा दरबार में सरदार लोग लिखना-पढ़ना और हिसाब-किताब रखना नहीं जानते थे। इस कारण भी दीवान भवानी दास का बड़ा आदर था। यद्यपि दीवान कुबड़ा था परंतु बड़े ठाट-बाट के साथ रहा करता था। इसका भाई दीवान देवी दास भी ऊँचे दर्जे पर था।

(३८) दीवान गंगाराम—काश्मीरी पंडित था। सन् १८१० ई० में दरबार लाहौर में आया और बख़्शी फौज के पद पर नियत किया गया। महाराजा के दफ़्तर आबकारी और दफ़्तर फ़ौज दीवान गंगाराम ने ही चालू किये थे। बड़े सच्चे और ऊँचे आचरण वाला मनुष्य था। जागीर के अतिरिक्त इसको ५०० रु० मासिक वेतन मिलता था।

(३९) दीवान अयोध्याप्रसाद—दीवान गंगाराम का पुत्र था। अपने पिता की जगह दफ़्तर फौज ख़ास का बख़्शी बनाया गया। कुछ समय पीछे वह उस दस्ता फौज का कमांडर भी हुआ। बड़े ठाट-बाट के साथ रहता था। मुंशी सोहनलाल लिखता है कि "दीवान मरदे मुतकँबर व नख़वत शुआर अस्त"।

(४०) राजा दीनानाथ—दीवान गंगाराम का संबंधी था। पहले-पहल दीवान गंगाराम के दफ़्तर में ही मुलाज़िम हुआ था। अन्त में अपने गुण और बुद्धिमता के कारण बड़े मंत्री माल की पदवी तक पहुँच गया। पहले दीवान और फिर पीछे 'राजा', की उपाधि प्राप्त की।

(४१) मिसर बेलीराम—खज़ाना 'आमरा' का सब से ऊँचा अफ़सर था। इस पर महाराजा का बहुत विश्वास था। 'कोहनूर' हीरा भी इसी की निगरानी में रहता था। इसके दूसरे भाई-भतीजे भी बड़ी पदवियों पर थे। मिसर रूपलाल दुआबा जालंधर का नाज़िम था और अच्छे बन्दोबस्त के कारण उतना ही प्रसिद्ध था, जितना कि दीवान सावनमल; मिसर मेघराज की तहवील में किला गोबिंद गढ़ का खज़ाना और तोशाखाना था। चौथा भाई मिसर रामकृष्ण कुछ समय के लिए ड्योढ़ी सरदार की पदवी पर नौकर था। पीछे महाराजा के वस्त्र और खाद्य आदि की देख-भाल इसी के ज़िम्मे थी। पांचवा भाई मिसर सुखराज फौज के एक पूरे ब्रिगेड का कमांडर था।

(४२) बख़्शी भक्तराम—सारी फौज आईन के दफतर का बड़ा अफसर था। इस फौज का हिसाब-किताब इसके ही हाथ में था।

(४३) मुंशी कर्मचंद --लाला कर्मचंद महाराजा के खास दफ़्तरियों तथा मुंशियों में से था। दीवान तारा चंद, दीवान मंगल सैन, और दीवान रत्नचंद 'दाढ़ी वाला' मुंशी कर्मचंद के ही पुत्र थे।

(४४) मुंशी रामदयाल—हजूरी मुंशी था। बड़ा अच्छा लेखक था। महाराजा की हुकूमत के आरंभिक काल में दफ़्तर की सारी कार्रवाई इसके ही हाथों होती थी।

परिशिष्ट ६

महाराजा रणजीतसिंह के योरुपीय नौकरों की सूची

नोट--सं० १६२३-२४ ई० में मैंने यह सूची महाराजा के सेना संबंधी लेख पत्रों में से तैयार की थी। इन दिनों रणजीत सिंह की सैनिक संस्था के सम्बन्ध में मैं लेख लिखा करता था।

नं०	नाम	नौकर होने का सन्	मासिक वेतन रुपयों में	संक्षिप्त परिचय
(१)	वंतूरा (Jean Baptiste Ventura)	१८२२ ई०	२५००	महाराजा रणजीत सिंह के नामी (प्रसिद्ध) अफसरों में से था। इटली देश का रहनेवाला था। कवायद-दाँ प्यादा सेना इसी की देख-रेख में तैयार हुई थी। यह बीस वर्ष से अधिक दिन तक खालसा दरबार में नौकर रहा। सं० १८४३-४४ ई० में यह अंग्रेजों के साथ मिल गया, और गवर्नर जनरल एलनबरो को लाहौर दरबार की सूचनाएँ गुप्त तरीके से भेजा करता था।
(२)	अलार्ड (Jean Francis Allard)	१८२२ ई०	२५००	जनरल अलार्ड और वंतूरा इकट्ठे ही महाराजा के पास नौकर हुए थे। इसने महाराजा के लिए कवायददां रिसाले तैयार किये थे। यह जनवरी सन् १८३६ ई० में पेशावर में मरा और लाहौर लाकर दफ़नाया गया। यह और वंतूरा दोनों पहले फ्रांस के सम्राट् नैपोलियन बोनापार्ट की सेना में नौकर थे। यह जाति का फ्रांसीसी था।
(३)	अबुतबेला (Poslo De Avitabile)	१८२७ ई०	१६६६	यह फ़ौजी अफसर होने के अतिरिक्त वज़ीराबाद और पेशावर का गवर्नर भी नियुक्त हुआ। बड़े दबदबेवाला हाकिम था। इस के समय में पेशावर तथा वज़ीराबाद दोनों नगरों में अधिक रौनक हो गई। यह इटली देश का रहने वाला था।
(४)	मूसा आमस (Amise or oms)	१८२७ ई०	१०००	यह प्यादा सेना में कुमेदान के पद पर नियुक्त था। जाति का फ्रांसीसी था।

नं०	नाम	नौकर होने का सन्	मासिक वेतन	संक्षिप्त परिचय
(५)	बरौन डी मेवस (Brown de moevis)	१८२७ ई०	७००	प्यादा सेना में कुमेदान की पदवी पर नियत था। रूस देश का निवासी था।
(६)	कोर्ट (Claude Auguste Court)	१८२७ ई०	१६६६	यह भी महाराजा के प्रसिद्ध अफ़-सरों में से था। यह तोपखाने का अफ़-सर था। जाति का फ्रांसीसी था।
(७)	जॉनहोमज़ (John Holmes)	१८२९ ई०	१५०	पहले एक पलटन का कुमेदान भर्ती हुआ था। धीरे-धीरे उन्नति करता हुआ कर्नल के पद तक जा पहुँचा। कुछ समय तक गुजरात का गवर्नर भी रहा। जाति का एंग्लोइण्डियन था।
(८)	डाक्टर मार्टन, हानिग बर्गर (Martin Honig-berger)	१८३५ ई०	९००	यह डाक्टर था। पंद्रह वर्ष लाहौर दरबार में रहा। इसने पंजाब के समा-चारों के विषय में एक मनोरंजक पुस्तक लिखी है। जाति का जरमन था।
(९)	गारडोना, (Alexander Gardner)	१८३१ ई०	१५०	यह तोपखाने में नौकर था। बाद में राजा ध्यान सिंह की सेना में प्रविष्ट हुआ। इस ने पंजाब के विषय में कुछ हाल लिखे हैं जो कि पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए थे, परन्तु इनकी सत्यता पर संदेह है। यह आयरलैंड का रहने वाला था।
(१०)	कोर्ट लैंड (Courtlandt)	१८३२ ई०	५००	प्यादा सेना में नौकर था। इसकी पत्नी को भी महाराजा की ओर से ८००) रु० मासिक वज़ीफा मिलता था। सन् १८४२ ई० में इसके छोटे बच्चे के लिए भी वज़ीफा नियत हुआ। यह जाति का अंग्रेज था।
(११)	लैसली (Leslie)	१८३४ ई०	२५०	प्यादा सेना में नौकर था। जाति का अंग्रेज था।
(१२)	बैंकी (Bianchi)	१८३५ ई०	२७०	इसके कार्य के विषय में महा-राजा के लेख-पत्रों में "आबाद कार" लिखा हुआ है। मिस्टर गरै इसे इंजी-नियर लिखता है। इटली देश का रहने वाला था।

नं०	नाम	नौकर होने का सन्	मासिक वेतन	संक्षिप्त परिचय
(१३)	डाटन वैस (Doten-weiss)	१८३४ ई०	५००	बारूदखाना और तोपखाने में नौकर था। यह केवल कुछ महीनों के लिए लाहौर दरबार में रहा। बाद में हटा दिया गया। जाति का जर्मन था।
(१४)	हारलन (Harlan)	१८३४ ई०	१०००	नूरपुर, जसरोटा और गुजरात का गवर्नर नियत रहा। केवल हारलन का ही ऐसा एक उदाहरण है जिसे महाराजा की नौकरी से एक अफसर को सहसा हटाया गया हो। अमरीका देश का रहने वाला था। विस्तार के लिये देखिए जफरनामा रणजीत सिंह, पृष्ठ २४३।
(१५)	फोकस (Foulkes)	१८३६ ई०	५००	जाति का फ्रांसीसी था। सवारी सेना में नौकर था। सन् १८४२ ई० में जब अपनी रैजमैंट के साथ मण्डी पहाड़ ठहरा हुआ था, जहाँ इसकी हत्या अपने ही सिपाहियों द्वारा हुई। उस समय में और प्रांतों में भी फौज बिगड़ रही थी।
(१६)	अन्तागोर (Argoud ?)	१८२६ ई०	४००	इसका योरुपीय नाम अरगौराड था। यह प्यादा सेना में रंगरूटों को कवायद सिखाने के लिए नौकर रखा गया था। सन् १८४३ ई० में नौकरी से हटाया गया। फ्रांसीसी जाति का था।
(१७)	स्टाईन बैंक (Steinbach)	१८३६ ई०	७००	प्यादा सेना में नौकर था। इसने पंजाब के बारे में एक पुस्तक भी लिखी है। आस्ट्रिया देश का रहने वाला था।
(१८)	फोर्ड (Ford)	१८३७ ई०	८००	प्यादा सेना में नौकर था। कुमेदानी के पद पर नियुक्त था। जाति का अंग्रेज था।
(१९)	लाफौंट (La Font)	१८३४ ई०	२७०	जनरल अबुतवेला के अधीन पलटन में कुमेदानी के पद पर नियुक्त था। जाति का फ्रांसीसी था।
(२०)	दिला रौस (De la Roche)	१८३४ ई०	५००	प्यादा सेना में कुमेदान के पद पर नियुक्त था। घोड़े से गिरकर मर गया। जाति का फ्रांसीस था।
(२१)	जैकब, (Jacob)	१८३८ ई०	३००	नजीब पलटन में अमीर खाँ के साथ कुमेदान के पद पर नियुक्त था। जाति का एंग्लोइण्डियन था।

नं०,	नाम	नौकर होने का सन्	मासिक वेतन	संक्षिप्त परिचय
(२२)	डा० बैनट (Benet)	१८१८ ई०	१०००	यह महाराजा के दरबार में डाक्टर के पद पर नौकर था। जाति का फ्रांसीसी था।
(२३)	मोटन (Mouton)	१८३८ ई०	८००	यह सवारी सेना में नौकर था। जाति का फ्रांसीसी था।
(२४)	लुई डीफियों (Louis de Fasheye)	१८४० ई०	८००	सवारी सेना में नौकर था। जाति का फ्रांसीसी था।
(२५)	जोजफ डीफियों (Joseph de Fasheye)	१८४० ई०	३००	लुई डीफियों का पुत्र था। पिता और पुत्र इकट्ठे नौकर थे।
(२६)	हारवे (Harvey)	१८४० ई०	५००	यह डाक्टर था। जाति का अंग्रेज था।
(२७)	कनोरा (Canora)	१८४१ ई०	२००	तोपखाने में नौकर था। सन् १८४८ ई० में सरदार चत्तर सिंह गवर्नर हजारा की आज्ञा को भंग करने के कारण यह गोली से मारा गया। यह अमरीका देश का रहने वाला था।
(२८)	हरबन (Hurbons)	१८४२ ई०	२००	यह बेलदारों में नौकर था। मोर्चा-बन्दी के काम में निपुण था। इसने सुबराओं की लड़ाई में भाग लिया था। स्पेन देश का रहने वाला था।
(२९)	कैनवच (Kenawitch ?)	१८४२ ई०	२५०	यह तोपखाने में नौकर था।
(३०)	लाफौंट द्वितीय (De la Font II)	१८४३ ई०	८००	यह पलटन में कुमेदान था। फ्रांसीसी जाति का था।
(३१)	गारन (Garron)	१८५० ई०	१५०	यह रंगरूटों को कवायद सिखाने का काम करता था। फ्रांसीसी जाति का था।

परिशिष्ट ७

निम्नलिखित सूची-पत्र में केवल उन पुस्तकों का वर्णन है जिनका संकेत फुटनोटों में दिया गया है।

(१) कैटालोग आफ़ खालसा दरबार रिकार्ड्ज़—प्रथम भाग सन् १९१९ ई० और द्वितीय भाग सन् १९२७ ई०; यह दोनों पुस्तकें मैंने संकलित की थीं और पंजाब सरकार ने इन्हें प्रकाशित किया था।

पहली प्रति में महाराजा रणजीत सिंह तथा उस के उत्तराधिकारियों के शासनकाल (संवत् १८७५ से १९०४) के सेना विभाग की संपूर्ण सूची दर्ज है।

दूसरी प्रति में अधिकतर वित्त-विभाग के लेख-पत्रों की सूची दर्ज है। इस के अतिरिक्त महाराजा की सेना विशेषकरके सवारी सेना के वेतन-पत्र भी शामिल हैं। कुल पत्र-प्रमाणों की संख्या, जिन्हें मैं ने सन् १९१५ ई० से लेकर १९१९ ई० तक संकलित किया, तीन लाख तीस हज़ार के लगभग है।

सेना विभाग के पत्रों में एक साधारण सिपाही से लेकर बड़े अफसर का नाम, पिता का नाम, वासस्थान तथा मासिक वेतन दर्ज हैं। इसी प्रकार वित्त विभाग के लेख-पत्रों में सरकार खालसा की आय और व्यय का पाई-पाई का हिसाब है। यह सारा रिकार्ड देश के बँटवारे के समय (१९४७ ई०) लाहौर में रह गया था। परंतु अब पूर्वी पञ्जाब के रिकार्ड आफिस (शिमला) में पहुँच चुका है।

(२) जफ़र नामा रणजीतसिंह—कृत दीवान अमर नाथ। सन् १८३३ तथा १८३६ ई० के मध्य में यह पुस्तक महाराजा रणजीतसिंह की आज्ञानुसार फारसी भाषा में लिखी गई थी। अमर नाथ राजा दीनानाथ माल-मन्त्री का पुत्र था। इस लिए यह स्वाभाविक था कि ठीक-ठीक बातों का उसे ज्ञान रहता था। इस पुस्तक को भी मैंने सन् १९२८ ई० में अंग्रेजी की व्याख्या तथा नोटों के साथ पंजाब यूनिविर्सिटी लाहौर की ओर से प्रकाशित करवाया था।

(३) उमदतुलतवारीख़ अर्थात् रोज़ नामचा महाराजा रणजीतसिंह—कृत मुन्शी सोहन-लाल। यह पुस्तक फ़ारसी भाषा में लिखित है और महाराजा के इतिहास के लिए एक बहु-मूल्य भंडार है। मुन्शी सोहनलाल महाराजा के दरबार में वाकय नवीस (घटनायें लिखने-वाला) के पद पर नियुक्त था। यह नित्य-प्रति दरबार के समाचार लिखा करता था। यह पुस्तक सन् १८८५ ई० में पंजाब यूनिवर्सिटी की सहायता से मुन्शी सोहनलाल के पोते लाला हर भगवान ने प्रकाशित की थी और अब बिलकुल ही अप्राप्य हैं।

(४) शीर व शकर कृत पं० दयाराम काश्मीरी। यह पुस्तक फारसी भाषा में है और अभी तक छपी नहीं है। मैं ने दीवान बहादुर राजा नरिन्द्र नाथ वाला मस्बदा (हस्तलेख) पढ़ा है। पं० दयाराम संवत् १८६६ में लाहौर आया था, इसने संम्वत् १८७१ से १८८२ तक के अपनी आँखों से देखा वृत्तांत इस पुस्तक में लिखा है।

(५) खालसानामा कृत रायजादा रत्न चंद। यह पुस्तक संवत् १८९९ में लिखी गई थी और फारसी भाषा में है। अभी तक छपी नहीं। रत्न चंद अटारीवाले सरदारों का मुन्शी था। इस को लाहौर दरबार की कार्रवाइयों का पूरा पता रहता था। मैंने यूनिवर्सिटी पंजाब लाहौर, वाला हस्तलेख पढ़ा था।

(६) तवारीख पंजाब कृत बूटी शाह। यह किताब भी फ़ारसी भाषा में है। अभी तक छपी नहीं है। बूटी शाह का असली नाम गुलाम मुहय्युद्दीन था और वह लुधियाना शहर का निवासी था। यह अंग्रेजी ऐजेंट कप्तान वेड के दफ़्तर में मुलाज़िम था तथा इसी की आज्ञा से इसने यह पुस्तक लिखी थी। हमें ज्ञात होता है कि बूटी शाह ने अपनी पुस्तक लिखने से पहले सोहनलाल की पुस्तक अच्छी तरह पढ़ ली थी। संभव है कि सोहनलाल की पुस्तक की एक नकल जो कप्तान वेड लाहौर से १८३१ ई० में लाया था उसी को बूटी शाह ने देखा होगा।

(७) नकल प्रवान ज़ात—यह पुस्तक अभी तक मसविदा की सूरत में है और इस की केवल एक ही कापी है जो कि मेरे पास है। इस में ४६१ परवाने दर्ज हैं। यह हुकुमनामे महाराजा रणजीतसिंह की आज्ञा से मग्घर संवत् १८६० से पोह १८६१ तक लाहौर दरबार से ज़ारी किये गये थे। इन परवानों के पढ़ने से दरबार का पूरा-पूरा चित्र हमारे सामने आ जाता है और हमें स्पष्ट तौर से यह पता लग जाता है कि महाराजा रणजीतसिंह के समय में दिन-प्रति दिन हुकूमत का काम किस तरह चलता था।

(८) अहमद शाह बतालवी—यह पुस्तक अभी तक हस्तलिपि के रूप में ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह विश्वस्त है। अहमद शाह बताला का रहनेवाला था और उसे इतिहास तथा भूगोल में विशेष रुचि थी। मैंने यह पुस्तक दयालसिंह लायब्रेरी, लाहौर में देखी थी।

(९) फतेहनामा गुरु ख़ालसा जी का कृत कवि गणेश दास। यह पुस्तक मिली-जुली पंजाबी और ब्रजभाषा में है। इस में तीन लंबी-लंबी कविताएँ हैं। एक कविता मुल्तान की विजय पर, दूसरी नौशहरा की विजय पर, और तीसरी ख़लीफा सैयद अहमद के विद्रोह पर। कवि गणेश दास ने अपनी कविताओं में आँखों देखे हाल लिखे हैं। यह पुस्तक मैंने सन् १९५२ ई० में व्याख्या तथा नोटों सहित तैयार की थी और पंजाबी डिपार्टमैंट पटियाला ने इसे प्रकाशित की थी।

(१०) तवारीख सिखां कृत मैकग्रेगर। यह पुस्तक अंग्रेज़ी भाषा में है। सन् १८४४ ई० में प्रकाशित की गई थी। मैकग्रेगर साहब लाहौर दरबार में हैनरी लारेन्स के अधीन अफसर नियुक्त हुआ था ऐसा प्रतीत होता है कि इसने भी सोहनलाल की पुस्तक (मसविदा) को देखा था।

(११) तवारीख पंजाब—लेखक अस्टेन बैग। यह पुस्तक सन् १८४५ में प्रकाशित हुई थी। अस्टेन बैग महाराजा रणजीतसिंह की फौज़ में मुलाज़िम था।

(१२) तवारीख महाराजा रणजीतसिंह कृत प्रिंसिप। यह पुस्तक महाराजा के जीवनकाल में ही (सन् १८३४ ई०) में प्रकाशित की गई थी। जहाँ तक इस पुस्तक में दी गई घटनाओं का संबंध है यह विश्वस्त और प्रमाणिक हैं। प्रिंसिप ने यह पुस्तक कप्तान मरे और कप्तान वेड की रिपोर्टें पढ़कर लिखी थी। यह रिपोर्टें गर्वनर जनरल की आज्ञा अनुसार सन् १८३१ ई० में लिखी गई थी।

(१३) हिस्ट्री ऑफ दी सिखज़, कृत कनिंघम। यह पुस्तक पहले-पहल सन् १८४९ ई० में छपी थी। जहाँ तक अंग्रेजों और लाहौर दरबार का संबंध है इससे अधिक प्रमाणिक पुस्तक अब तक हमारी दृष्टि में नहीं आई। मैंने सन् १९१९ ई० के संस्करण का जिसे प्रोफ़ैसर गैरट ने छपवाया था, हवाला दिया है।

(१४) मिटकालफ साहिब की खत व किताबत, कृत मिस्टर के। यह पुस्तक महाराजा रणजीतसिंह के समय के आरंभिक काल पर अच्छा प्रकाश डालती है।

(१५) सफ़र नामा मिस्टर फ्रास्टर—यह पुस्तक सन् १७९८ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसमें लेखक ने अपनी आँखों देखे सिख मिसलदारों के वृत्तांत लिखे हैं।

(१६) सफ़रनामा कृत एलैग्जेंडर बर्नज़ । यह पुस्तक सन् १८३१ ई० में प्रकाशित हुई थी । मिस्टर बर्नज़ महाराजा के दरबार में दो बार आया था । यह व्यक्ति बहुत बुद्धिमान था ।

(१७) सफ़रनामा मूरकराफ़ट—यह व्यक्ति सन् १८१९ ई० में तिब्बत तथा लद्दाख़ जाता हुआ महाराजा के दरबार में लाहौर में ठहरा था । इसने अपनी यात्रा का पूरा-पूरा वृत्तांत लिखा है, जिसे मिस्टर विलसन ने प्रकाशित किया था ।

(१८) सफ़रनामा बैरन वान हियूगल—यह व्यक्ति जर्मनी का निवासी था । सन १८३२ ई० में कश्मीर की यात्रा को जाता हुआ रास्ते में महाराजा के पास लाहौर में ठहरा । हियूगल का अपना लेख जर्मन भाषा में लिखा हुआ है । इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद मिस्टर जरविस ने किया है ।

(१९) सफ़रनामा डाक्टर हानिगबर्गर—यह व्यक्ति जर्मनी का निवासी था और महाराजा के दरबार में डाक्टरी के काम पर नियुक्त था । और महाराजा का एक बारूदख़ाना इसी के अधीन था । यह ३५ वर्ष हमारे देश में रहा ।

(२०) सर हैनरी फेन—यह हिंदुस्तान में अंग्रेजी फौज का कमांडर इन चीफ़ था । अपनी पुस्तक में इसने अपने पाँच वर्षों की मुलाज़मत सन १८३५-१८३९ के वृत्तांत दर्ज किये हैं । यह महाराजा का अतिथि होकर लाहौर में दो बार आया था ।

(२१) कोर्ट एंड कैम्प आफ़ महाराजा रणजीतसिंह कृत ओसबर्नज़ । यह व्यक्ति गवर्नर जनरल लार्ड ओकलैंड का फौजी सेक्रेटरी था । सन् १८३८ में महाराजा की मुलाकात के लिए आया था और कई रोज़ लाहौर में ठहरा । इसने अपनी डायरी में दिन-प्रति-दिन के वृत्तांतों का वर्णन किया है । यह पुस्तक सन् १८४० में प्रकाशित हुई थी ।

(२२) सिख्स ऐण्ड दी अफ़गानज़; कृत शहामत अली । शहामत अली दिसंबर सन् १८३८ ई० अंग्रेजी मिशन के साथ अफ़गानिस्तान जाता हुआ महाराजा के पास कुछ समय के लिए लाहौर में ठहरा था और एक दो वर्ष के पश्चात् उसने अंग्रेज़ी में रोज़नामचा छपवाया ।

(२३) पंजाब चीफ़्स, कृत लैपल ग्रिफन । यह पुस्तक पहले-पहल सन् १८६५ ई० में प्रकाशित हुई थी । लैपल ग्रिफन पंजाब सरकार का चीफ़ सैक्रेटरी था । लैफ़्टीनैन्ट गवर्नर सर राबर्ट मिन्ट-गुमरी की आज्ञा से यह पुस्तक लिखी गई थी । इसमें महाराजा के दरबारियों, अन्य अमीरों और सिक्ख सरदारों के हाल दिये गये हैं । वे पुरुष, जिन्हों ने महाराजा रणजीतसिंह का समय स्वयं देखा था अभी जीवित थे । लैपल ग्रिफन ने इस पुस्तक में लिखी हुई सभी बातें इन लोगों से प्राप्त की थीं । मैंने सन् १८६५ ई० वाले संस्करण का निर्देश किया है ।

(२४) तवारीख़ पंजाब, कृत सैयद मुहम्मद लतीफ़ । यह पुस्तक सन् १८९१ ई० में छापी गई थी । लेखक ने बहुत सी पुस्तकें देखकर यह पुस्तक लिखी थी । परन्तु इन्होंने भाव वही प्रकट किये हैं जो अंग्रेज लेखकों ने किये हैं । लतीफ साहब ने पूरी-पूरी छान-बीन नहीं की ।

(२५) योरुपीय ऐडवञ्चरर्स कृत सी० टी० ग्रे । इस पुस्तक में इधर-उधर से इकट्ठा करके उन योरोपीयों का वृत्तान्त दिया गया है, जो किसी समय महाराजा के पास नौकर थे ।

(२६) महाराजा रणजीत सिंह कृत बाबा प्रेम सिंह होती । यह पुस्तक पंजाबी भाषा की गुरुमुखी लिपि में लिखी है । बाबा प्रेम सिंह ने बहुत छान-बीन के पश्चात् यह पुस्तक लिखी है ।

मुख्य घटनाएँ

घटना	वर्ष
सिख धर्म की स्थापना (गुरु नानक देव)	१४६९-१५३९ ई०
गुरु अर्जुन देव का बलिदान	१६०६ ई०
गुरु तेग बहादुर की शहादत	१६७५ ई०
खालसा पंथ की स्थापना	१६९९ ई०
बंदा बहादुर का दमन	१७१६ ई०
सिख मिस्लों की नींव	१७३८-३९ ई०
दल खालसा की स्थापना	१७४८ ई०
राखी प्रथा का जारी होना	१७५३ ई०
घल्लू घारा	१७६२ ई०
खालसा राज्य की स्थापना	१७६४ ई०
रणजीतसिंह का जन्म	१७८० ई०
लाहौर पर अधिकार	१७९९ ई०
रणजीतसिंह का सिक्का चलाना	१८०१ ई०
कुँ० खड़कसिंह का जन्म	१८०२ ई०
अमृतसर की विजय	१८०२ ई०
जसवन्त राव होलकर से मुलाकात	१८०५ ई०
कसूर की पठान रियासत पर अधिकार	१८०७ ई०
चार्ल्स मेटकाफ़ का अंग्रेजी दूत के रूप में रणजीतसिंह के पास आना	१८०८-१८०९ ई०
सत्तलज नदी का सीमा नियत होना	१८०९ ई०
कांगड़ा के नगर तथा दुर्ग पर अधिकार	१८०९ ई०
अटक दुर्ग पर अधिकार	१८१३ ई०
शाहशुजा तथा शाहज़मान के बाल बच्चों का लाहौर में निवास	१८११-१८१४ ई०
कोहनूर हीरे की प्राप्ति	१८१३-१४ ई०
खुशाब, साहीवाल, मिट्ठा टिवाना और झंग रियासतों की विजय	१८१०-१८१६ ई०
मुलतान पर अधिकार	१८१८ ई०
कश्मीर पर अधिकार	१८१९ ई०
मनकेरा (डेरा इसमाईल खाँ) पर अधिकार	१८२० ई०
कुँ० नौ निहाल सिंह का जन्म	१८२१ ई०
पेशावर पर अधिकार	१८२३ ई०
जनरल वन्तूर और इलाई की नियुक्ति	१८२२ ई०
सैयद अहमद का विद्रोह	१८२७-३१ ई०
रोपड़ की मुलाकात	१८३१ ई०
अंग्रेजों के साथ व्यापारिक संधि	१८३२ ई०
पेशावर का लाहौर राज्य में सम्मिलित होना	१८३४ ई०
लद्दाख़ की विजय	१८३४-३५ ई०
जमरोद की लड़ाई	१८३७ ई०
कुँ० नौ निहाल सिंह का विवाह	१८३७ ई०
शाहशुजा, रणजीतसिंह और अंग्रेजों में संधि	१८३८ ई०
रणजीत सिंह और ऑकलेंड की मुलाकात	१८३८ ई०
रणजीत सिंह की मृत्यु	१८३९ ई०

अनुक्रमणिका

[महाराजा रणजीतसिंह के भारतीय तथा योरोपीय उच्चाधिकारियों की सूची के लिए परिशिष्ट ५ और ६ भी देखिए ।]

लेखक की अन्य कृतियाँ

(1) Annotated catalogue of Khalsa Darbar Records :

(a) Vol. I relating to the Records of the Military Department of the Sikh Government (A.D. 1819-'49). Published by the Punjab Government, Lahore, 1919.

(b) Vol. II relating to the Revenue, Tosha Khana, and Jagir Departments of the Sikh Government (A.D. 1811-'49) Published by the Punjab Government, Lahore, 1927

(2) Trial of Diwan Mul Raj (Governor of Multan, 1844-49) By a Special Tribunal set up under order of Lord Dalhousie. Published by the Punjab Government Record Office, Lahore, 1932.

(3) Army of Maharaja Ranjit Singh—its Organization and Administration. Published in the Journal of Indian History in a series of Papers I—VI. 1922-35.

(4) Land Revenue Administration under the Sikhs. Journal, Punjab Historical Society, Lahore, 1918.

(5) Zafarnama-i-Ranjit Singh, by Diwan Amar Nath, Persian Text with Notes and Introduction in English. Published by the University of the Punjab, Lahore, 1928.

(6) Fateh Nama Guru Khalsa Ji Ka, being three long ballads in old Hindi, by Kavi Ganesh Das to celebrate three victories of the Khalsa Army over the Pathans. Text in Gurmukhi script with Notes and Introduction in Punjabi. Published by the Punjabi Department, PEPSU, Patiala, 1952.

(7) The Indus Valley Civilization. Published by the University of the Punjab, Lahore, 1934.

(8) History of India from Beginning to A.D. 1526. Orient Longmans, Ltd. Bombay.